

जनसंख्या समस्या

के स्त्री-पाठ के शस्ते...

रवीन्द्र कुमार पाठक



जनाधिक्य की विकराल समस्या को स्त्री-दृष्टि से पढ़ने की यह कोशिश, स्त्री-समस्या के समग्र पाठ की दिशा में खड़ी है। लेखक ने जनसंख्या-विस्फोट के पीछे स्त्री के अबलाकरण की उस ऐतिहासिक-सांस्कृतिक-सामाजिक प्रक्रिया को पाया, जो उससे उसकी 'देह' छीनकर, उसे प्रजनन की घरेलू-बीमार मशीन बनने को अभिशप्त कर देती है। यह प्रक्रिया पितृसत्तात्मक है, अतः जनसंख्या-विमर्श का यह नया रास्ता पितृसत्ता के चरित्र का पर्दाफाश भी है जो स्त्री की बहुविध वंचनाओं-गुलामियों व पीड़ाओं का मूल स्रोत है। विवाह-संस्था और वेश्यावृत्ति, उसके दो हाथ हैं, जिनसे स्त्री को जकड़कर, वह उसे 'व्यक्ति' से 'देह' में तब्दील कर देती है—जिससे उसके यौन-शोषण के रास्ते प्रजनन की बाध्यता पैदा होती है, जिसका खामियाजा स्त्री अपना सामाजिक जीवन, कैरियर, सम्मान आदि गँवाकर ही नहीं, बल्कि स्वास्थ्य और अस्तित्व तक को गँवाकर भुगतती है। स्त्री माँ बनती नहीं, बनाई जाती है, क्योंकि मातृत्व-क्षमता और माँ बनने की इच्छा में फर्क है।

प्रचलित आर्थिक दृष्टि से किए जा रहे जनसंख्या-विमर्श से अलग, यह कृति उस विमर्श की पितृपक्षीय सीमाओं को भलीभाँति रेखांकित करती है, जिसमें संस्कृति, समाज-गठन तथा वर्तमान विकास से जुड़े कई पुराने-नए मिथक ध्वस्त होते हैं। 'माँ' का महिमामंडन वस्तुतः उसे देह-यन्त्रणा में धकेलने की साजिश का हिस्सा है, जिसका स्पष्टीकरण लेखक ने आँकड़ों की भाषा में प्रकट किया है। पुस्तक की स्पष्ट प्रतिपत्ति है कि जनसंख्या-समस्या और स्त्री-सशक्तीकरण में परस्पर व्युत्क्रमानुपाती सम्बन्ध है। यह समस्या पितृसत्ता की देन है, अतः इसके समुचित निवारण का अर्थ है पितृसत्ता का अवसान।

इसी सार वस्तु को बेधक ढंग से प्रस्तुत करती है यह कृति, जिसकी भाषा पितृसत्ता के प्रति आक्रोश से भरी है, क्योंकि स्त्री के प्रति संवेदनशील है। पाठकों को विचारोत्तेजित करना या हंगामा भर खड़ा करने के लिए नहीं, बल्कि उस सूरते-हालात को बयान करने और बदलने की कोशिश में ऐसा हुआ है, जिसका त्रासद परिणाम इस पुस्तक का जन्म है।

जनसंख्या-समस्या के स्त्री-पाठ के रास्ते...

डॉ. रवीन्द्र कुमार पाठक



समझदार पेपरबैकर्स

राधाकृष्ण

राधाकृष्ण पेपरबैक्स में
पहला संस्करण : 2010

© डॉ. रवीन्द्र कुमार पाठक

राधाकृष्ण पेपरबैक्स : उत्कृष्ट साहित्य के जनसुलभ संस्करण

राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.
7/31, अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली-110 002
द्वारा प्रकाशित

शाखाएँ : अशोक राजपथ, साइंस कॉलेज के सामने, पटना-800 006
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211 001
वेबसाइट : www.radhakrishanprakashan.com
ई-मेल : info@radhakrishanprakashan.com

मुद्रक : बी.के. ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032
द्वारा मुद्रित

आवरण : राधाकृष्ण स्टूडियो

मूल्य : रु. 125.00

JANSANKHYA-SAMASYA KE ISTRI-PATH KE RASTEY...
by Dr. Ravindra Kumar Patak

ISBN : 978-81-8361-264-7

अपनी चाची, भाभी व बहन
की ही पाँत में
आनेवाली—

दुनिया की तमाम स्त्रियों की
मूक-नासमझ पीड़ाओं को
(जो परिवार व समाज की
पितृसत्तात्मक संरचना ने उन्हें दी हैं)

तथा
आज की लड़कियों की तनी रीढ़ और शर्म-मुक्त आँखों के
बहादुर सपनों को!

जिनसे सीखे ककहरे से घिसटते
यहाँ तक आयी यह लेखनी।

—डॉ. रवीन्द्र कुमार पाठक

“नारी को पूजा-वस्तु मानना
है प्रताड़ना जैसा ही ।
वह व्यक्ति पूर्ण नर सा ही ।
तन-मन-प्रतिभोन्नति की हो रही ॥
हर भोग उसे भी प्राप्य, न केवल
रहे त्याग की मजबूरी ।
वह ‘केवल श्रद्धा’ नहीं, न केवल
‘माँ’ बनकर ही है पूरी ।”
— स्वीड्र

बहुत अच्छा लगता

मेरे मन में
बराबर
घुमड़ती रहती है
स्त्री।
'एक' स्त्री नहीं, बस 'स्त्री'।

सावधान!

यह मत समझना कि
यह घुमड़न रीतिकालीन कवि-सामन्तों की कतार में
खड़ा कर देती है मुझे।
मैं फिर से कहता हूँ—मेरे मन में घुमड़ती रहती है 'स्त्री' (मादा नहीं)।
यह घुमड़न न मुझे तपस्या-युग के 'व्यासों' की पाँत में ही बैठाती है
(अप्सराएँ जिनकी दमित कामना के सपने थीं)।

अथवा, 'शुकदेव' नहीं बन पाया—

इसका मलाल है ये घुमड़न 'स्त्री' की।

यह घुमड़ना रवीन्द्रनाथ ठाकुर की तरह

'मन में स्थायी रूप बैठी स्त्री' की तरह भी नहीं।

बड़ी अजीब है मेरी स्थिति!

वह स्त्री नहीं एक 'फूल' की मानिन्द मुझे

खुशबू-सने मुखड़े से न्यौतती प्रतिक्षण

और नहीं 'फल' की तरह लालसा जगाती हुई;

अथवा 'आकाश' की तरह भी नहीं

जिसकी स्निग्ध छाया में मेरा मन-अंकुर

वट वृक्ष बन के लहराए।

बल्कि—

'स्त्री' वह है मेरे भीतर एक 'भार' सी,

जो कि सह रही है—

लेप-बोझ-चुभन-गुदन-लिपटन 'सौन्दर्य' का।
 राह भूल गेसुओं की छाँव में जो रह रही है।
 पढ़ी-लिखी है भी तो डिग्री बस 'कनबाली' सी।
 जीवन के सर्वोत्तम संस्कारी मंडप में
 नतनयना बैठा कर 'दान' जिसे किया गया
 'सिन्दूरी रेखा' को उसकी जीवन-रेखा बना के बस छोड़ा है।
 उसी एक कृत्य से पूरा सौन्दर्यशास्त्र जिसके तन में जोड़ा है
 जिसका 'कौमार्य' नहीं सहज सुखद हक होता,
 बल्कि जन्मजात 'पराया धन' है—
 जो अर्पित कर देना है उस परमेश्वर को,
 जिसे चुना उसने ना;
 सामाजिक स्वीकृति से जिसे बाँध डाला गया
 पत्थर-सा (कन्या के) कण्ठ में,
 फिर जीवन की सरिता में जबरन धकेल दिया। पीठ पर दर्जन भर बच्चों को ठेल दिया।
 ऊभ-चूभ तब से वह करती रही है।
 अथवा,
 ब्यूटी पार्लर में इठलाती,
 'मिस वर्ल्ड' होने को तन पे इंच-टेप फिरवाती,
 ('स्त्री' है, मेरे जो मन में समाई हुई)
 काश! सोच पाती वह कम कपड़े में इतराती—
 घर-घर में आज भी तो बुरके में घुटती है।
 सोच कहाँ पाती वह माथे का बोझ ही ना,
 जो किताब, हॉकी या दूध को तरसायी गई,
 बल्कि गर्भ पर ही वह बोझ आज भारी है,
 हाँ, वही 'गर्भ' जो है बस उसी के तन में,
 दुनिया की वंश-लता जिससे ही जारी है।
 अथवा, जीवन-विद्या, ब्रह्मांडीय उच्च गणित
 भूलने को उलझाया जिसे 36-24-36 में।
 चुभती भीतर-भीतर उसकी मुस्कान मुझे,
 पर्वत-सी दिल पर वह बैठ गई औरत है।
 चाहे बहलाने के लिए शब्द कुछ भी दूँ—माँ, बहन, पत्नी, बेटी या प्रेमिका ही।
 किन्तु, वह बख्शाती कहाँ मुझे?
 मैंने ही कहाँ उसे बख्शा है सदियों से?
 'मर्द' बना लोक में तो भाषा में 'पुंलिंग' बना।

x

x

x

इसी से, वह जाने कब से
'मतलब' से परे होकर (न कि 'बेमतलब')
सड़कों पर टहलना तो दूर
मतलब के लिए भी है भूल गई चलना।

×

×

×

इसीलिए,

भूले-भटके कोई दिख जाती है ऐसी टहलती, तो—
मुझे बहुत अच्छा लगता है।

बसों में सवार हो के, झुण्ड में कॉलेज जातीं,
स्पोर्ट शूज और जीन्स-शर्ट पहनीं, नवयुग की बालाएँ
आपस में बातों की खिलखिल निर्झरिणी सी,
ध्वनि-प्रदूषण करतीं सी, मेरी चिन्तन-धारा खंड-खंड करतीं-सी,
बच्चियाँ ये प्यारी सी, मुझे बहुत भाती हैं—
उन्हें देख, चुप्पी को गहने सी पहनी, मेरी माँ सहसा बहुत याद आती हैं

लेकिन,

सोचता रहता हूँ बार-बार
लगातार, सोते-जागते,
पार्क में बैठे-लेटे,
बस में हिचकोले खाते,
यही—कि क्यों यह सब बहुत अच्छा लगता है मुझे?

काश!

मुझे यह सब 'बहुत अच्छा' नहीं लगता,
तो...
सच कहता हूँ मैं—
मुझे सचमुच 'बहुत अच्छा' लगता!

—डॉ. रवीन्द्र कुमार पाठक

उद्गार

सुना जाता है कि जनाधिक्य को समस्या मानकर, उसका नियन्त्रण करने के उद्देश्य से लिखित हिन्दी की पहली पुस्तक 'सन्तान-संख्या का सीमाबन्धन' (प्रकाशक—इंडियन प्रेस, प्रयाग) राजपाल जी ने जब निकाली थी, तो स्वातन्त्र्य पूर्व भारत को वह पच न सकी थी, क्योंकि उसके रूढ़िवादी मन के लिए इस विषय पर कुछ सोचना-कहना ही अपने आपमें अनैतिक था। इस विषय पर तब से लेकर आज तक हिन्दी में भी शत-सहस्र या अधिक ही विख्यात-अख्यात पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश भी बहुत अधिक समझदार, जागरूक व रूढ़िमुक्त हो चुका है। 'एड्स' के संदर्भ में 'कंडोम' के खुले प्रचार और कला-माध्यमों में नित बढ़ती जा रही यौन-अभिमुखता का स्वस्थ-अस्वस्थ चेहरा—सब मिलकर समाज में यौन-शिक्षा की पृष्ठभूमि बनाते जा रहे हैं आज, तब तो मुझे जनसंख्या जैसी समस्या पर दो-टूक कहते कुछ खटका नहीं होना चाहिए। फिर भी, मैं इस पुस्तक में प्रस्तुत अपने मतों को लेकर आपकी तरफ से पूरी तरह आशंका-मुक्त नहीं हूँ। कारण है—संस्कृति या धर्म के चोले में एक तरफ अन्धविश्वास, कट्टरता और असहनशीलता भी कम नहीं बढ़ती जा रही है, जिसे दुर्भाग्य से 'निष्ठा' का नाम दिया जा रहा है। सांस्कृतिक पुनरुत्थान का भी अभियान इस देश में चल रहा है, जो 'लिंग' व 'जाति' के भेदों में सदियों से पिस रही स्त्री एवं दलित की इस समय हो रही मुक्ति को सांस्कृतिक संकट के रूप में समझ रहा है, अतएव सदियों पुराने उसी वर्णभेदी स्त्री-विरोधी, सामाजिक-सांस्कृतिक ढाँचे को फिर जिन्दा देखने का सपना खूबसूरती से परोसा जा रहा है। दुर्भाग्य से मीडिया व बाजार का भी बड़ा योगदान, इन अमानवीय सपनों के दोहन के जरिए जनता को रूढ़िवादी बनाने में लगा हुआ है। ऐसे विषम समय में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुचलने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है—जो बड़ी खतरनाक है।

फिर भी, इस आशंका को दरकिनार करते हुए लोकतन्त्र के प्रति विश्वास से भरा मैं, इस पुस्तक के रूप में अपने को प्रस्तुत कर रहा हूँ। मुझे लगा कि अपने को 'मनुष्य' मानने के अधिकार के लिए यह करना अनिवार्य था। विशेष तो यहाँ कुछ न कहूँगा, क्योंकि आपके आगे पूरी पुस्तक ही खुली है। पर, इतना अवश्य कहूँगा कि आप जैविक रूप से चाहे कुछ भी हों (स्त्री या पुरुष), पर इसे अपने 'मर्द' मन से न पढ़कर, 'मनुष्य' होकर पढ़िए। फिर भी, मुझे विश्वास है कि आपके भीतर बैठा 'मर्द' चाहे कितना भी

ताकतवर क्यों न हो, बस उसे पढ़ने को तो तैयार कर लीजिए। बस! इतने से ही मेरा काम बन जाएगा। देर-सबेर वह 'मर्द' से 'मनुष्य' बनेगा ही। 'मनुष्य' की दृष्टि से इस किताब को देखने पर शायद आपकी सहानुभूति मुझसे बनेगी और बहुत से लोग जो पहले से ही 'मनुष्य' हैं, उनका क्या कहना! इस पुस्तक के किसी वक्तव्य या भाषा से आपको जब कभी चोट पहुँचे, तो यह सोचकर तत्काल मुझे क्षमादान दे दीजिएगा कि मैंने आपको चोट पहुँचाने के लिए वैसा कुछ नहीं लिखा है; क्योंकि मैं तो सीधे-सीधे आपको जानता तक नहीं। जो भी चोट पहुँच रही होगी, वह उस सत्य की पहुँच रही होगी, जो मेरा अनुभूत या मेरे द्वारा प्रस्तुत है।

इस पुस्तक में फिल्मों के सन्दर्भ से भी कुछ प्रतिपादन खोलने के प्रयास किए गए हैं। इसके पीछे मेरा उद्देश्य दुहरा है। फिल्म सबसे लोकप्रिय कला माध्यम है, अतः उससे बातें स्पष्ट करने में बड़ी मदद मिलती है। यह पहला कारण है। दूसरी बात यह है कि इस (सबसे) लोकप्रिय विधा को मनोरंजन व अप्सरा लोक से ऊपर उठाकर गम्भीर समाज-शास्त्रीय दृष्टि से देखने की आदत हम सब में विकसित हो। इस हेतु भी फिल्मों का सन्दर्भन जरूरी लगा।

इस पुस्तक की तैयारी के सम्बन्ध में यदि मैं एक-दो बातें कहना भूल जाऊँ, तो यह न सिर्फ सत्य छिपाना होगा, बल्कि कृतघ्नता भी होगी। सर्वप्रथम तो आभारी हूँ अपने गत तीन-चार साल में अध्ययन-सामग्री बनीं उन तमाम पुस्तकों, पत्रियों, व्यक्तियों, फिल्मों, अखबारों एवं जीवन-परिस्थितियों का, जिन्होंने मुझे लिंग-भेद की गहन समस्या के प्रति संवेदनशील व विवेकी होने में बड़ी मदद की है। इस पुस्तक के लिए प्रत्यक्षतः या परोक्षतः उपकारी बने तमाम लेखकों की पुस्तकों एवं उनमें निहित परिश्रम व विवेक का मैं समादर करता हूँ। विशेषकर जगजीत सिंह जी के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिनकी पुस्तक ['दिवंगत बेटियाँ'] ने अध्याय चार को आकार देने में पुख्ता सहयोग दिया है। कारण कि उसमें प्रस्तुत कई आँकड़े सीधे-सीधे उन्हीं की पुस्तक से ले लिए गए हैं। इस हेतु उनका एक बार फिर से आभार। आँकड़े पुस्तक-रूपी 'विचार' के पैर-हाथ होते हैं। इसलिए, इस पुस्तक में ढेर सारे आँकड़े दिए गए हैं। उनके संग्रह और विश्लेषण में हर सम्भव मददगार बने अपने आत्मीय अनुज जे.एन.यू. (दिल्ली) के शोध छात्र श्री विद्यासागर त्रिगुण (अम्पू) के प्रति आभारी होना प्रदर्शन का नहीं, बल्कि अनुभूति का विषय है। प्रिय सुहृद श्री अमरेन्द्र त्रिपाठी ने पुस्तक की तैयारी के सन्दर्भ में मुझे सर्वाधिक उत्साहित तो किया ही है, बल्कि उसके प्रतिपाद्य को दोस्तों के बीच परिचर्चा का रूप देने में भी मुझे किसी न किसी प्रकार का सहयोग प्रदान किया है। इस प्रसंग में, जितनी मैं उनकी सक्रियता व आत्मीयता की तारीफ करूँगा, उससे कम उनकी समझदारी की नहीं। इसी तरह मित्र-वर्ग के ही श्री ऋषिभूषण चौबे, श्री प्रमोद कुमार तिवारी आदि तथा आयुष्मान निर्भय कुमार मिश्र भी आभार के पात्र हैं, जिन्होंने मुझे सुना और सराहा ही नहीं, अपनी प्रश्नाकुलता से मुझे गतिमान भी किया है।

अन्त में, एक बार पुनः स्मरण—अनुभावन उन पीड़ाओं का, जो न होतीं तो यह

पुस्तक कभी बनती ही नहीं। काश! वैसा ही होता! क्या यह पुस्तक बनना अपने-आप में एक बड़ी त्रासदी नहीं? आइए! न्यौतता हूँ आप सबको, इस त्रासदी की अनुभूति में सह-भागीदार बनने को। इसके अलावा, मेरे पास विकल्प ही क्या है? निठल्ले सपनों का मधु बाँटने की प्रवृत्ति से प्रकृति मुझे बचाए रखे, क्योंकि मेरा विश्वास है कि जिन सपनों को बोलने में मेहनत व भावना की पीड़ा भी लगी हो, वे ही साकार भी होते हैं तथा लोकमंगल की दिशा में भी जाते हैं। फिर, वह 'लोक' भी केवल पुरुष का नहीं होता, बल्कि उतना ही स्त्री का भी होता है। स्त्री को भी उतना ही मनुष्य मानने का सत्याग्रह करता आपका ही कोई अपना-सा।

—डॉ. रवीन्द्र कुमार पाठक

अनुक्रमणिका

बहुत अच्छा लगता	vii
उद्गार	xi
विषय-प्रवेश	19
जनसंख्या नीति : स्त्री-पीड़ा-निरपेक्ष और मूढ़...पितृसत्तावादी	21
जनसंख्या-नियन्त्रण कार्यक्रम का भारतीय बढ़ाव या भटकाव?	
जनसंख्या-समस्या पितृसत्तात्मक है	
जनसंख्या-नियन्त्रण नहीं, कोख-नियन्त्रण	
विश्लेषण की जुबान : अधूरा निर्मम बखान	
मर्द का मजा : औरत को सजा	
गर्भ-निरोधक के विविध चित्र और स्त्री-विरोधी चरित्र	
स्त्री निरपराध, पर वही पाती दंड अबाध	
माँ बनाने की सांस्कृतिक मर्दानगी से संतुष्ट स्त्री	42
देह की जेल में गर्भ को झेल	
स्त्री को 'लदा गर्भ' बनाने पर तुले संस्कृति के ठेकेदार	
प्रसव-पीड़ा का आरोपण और स्त्री-देह की कसाईगिरी	
मातृत्व के मंच के पीछे देह-यन्त्रणा का गणितीय नेपथ्य	
स्त्री की मातृत्व-कामना नहीं, केवल मातृत्व-क्षमता है प्राकृतिक	
'माँ' को 'वाह' के पीछे बेटे की चाह	
देह-मुक्ति की राह में स्त्री को गर्भपात अधिकार	
संस्कृति का बेटावादी ज़हर—स्त्री की कोख व जान पर कहर	72
कन्या-हत्यारी प्रवृत्ति और उसकी नवाकृति	
स्त्री कोख हथियाने की बेहयाई : बेटावादी धर्मशास्त्र ने सिखाई	
बेटे का भूखा मन, बेटी से सूखा मन	
बेटी से खौफ, बेटे की चाह—माँ-बाप दोनों को, पर अलग-अलग राह	
कानून का कैसा डर? क्लिनिक बने कसाईघर	

विधि की ढील, गर्भ में ही गई कन्या को लील
 मादा का मरण, केवल लिंग-भेद के कारण
 कुड़ीमार समुदायों के हाथ खून से लाल
 बेटी-द्रोही कूड़ा, लिंगानुपात को ले बूड़ा
 पितृसत्ता से लाचार, क्या करेगी सरकार?
 रोको यह दुष्कृत्य वरना दिल-दहलाऊ दृश्य
 कन्या-वध का विरोध इस तरह तो मत कीजिए

जनाधिक्य-संकट में स्त्री-समस्या के समग्र पाठ की सम्भावना

96

पितृसत्ता के उदय के पीछे प्रजनन का हाथ
 बाल-विवाह, यानी नर्क में ठेली गई अबोध बच्चियों की आह
 वैधव्य का अनदेखा दाह, जाने कितनी स्त्रियाँ रहीं कराह
 जब स्त्री पर 'विवाह' की फाँस, तब कैसे मिले शिक्षा का प्रकाश?
 समाज में स्त्री के रोग-मरण का मूल, पर केवल उसकी देह में ढूँढ़ने की भूल
 'मासिक धर्म' सम्बन्धी पाखंड और स्त्री को बहुमुखी पर अकारण दंड
 पर्दावाद की मारी, कैसे जिए बिचारी?
 'स्त्री-स्वास्थ्य' का अधूरा विचार
 लिंगानुपात एवं स्त्री की औसत आयु का ग्राफ : समाज में स्त्री की हालत
 को कह रहा साफ
 वेश्याओं की व्यथा सुने बिना कैसे पूरी होगी जनसंख्या-कथा?
 विस्थापन का ताना-बाना मूलतः है औरताना
 'सेक्स-वर्कर' नहीं, यौन-दलिताएँ
 आर्थिक विमर्श मात्र की जात प्रायः मर्दाना है
 स्त्री की गरीबी विकराल और श्रम-शोषण का सवाल
 जनसंख्या-समस्या के समाधान का अर्थ पितृसत्ता का अवसान

यानी, प्रचलित पोथा : स्त्री की निगाह में थोथा

138

'माँ' बनने में सब कुछ गया, किन्तु सन्तान पर हक भी न भया
 प्रजनन का दर्शन मूढ़ : नारी-द्रोही संरचना बनाए गूढ़
 प्रजनन का विज्ञान, कहता नर से नारी का बड़ा स्थान
 मातृवंशी राह है प्रकृति की चाह
 चूक, कमी और भटकाव : सबका लगा स्त्री को घाव
 स्त्री पर ही निरोधक डाल देते यौन-वस्तु में ढाल, सामने है यौन-क्रांति
 का सवाल
 भटके हुए नारे सारे के सारे
 कार्यक्रम की दंडनीति बनाम स्त्री को दंडित करने की नीति

‘पालना-योजना’ किसे पालेगी?
‘एड्स’ पर सोच, स्त्री को रही नोंच
डर एड्स से, स्त्री से या स्वयं से?

उपचार का यन्त्र-स्त्री केन्द्रित ढाँचे का लोकतन्त्र

157

स्त्री-दृष्टि की थामे डोर, चलें जनसंख्या-नियोजन की ओर
कन्याओं का घात रोकेंगे ये हाथ
देह बेचने की मजबूरी : अब तो उखड़े पूरी
स्त्री की देह है उसका गेह : प्रयोग को स्वतन्त्र उसमें तनिक नहीं सन्देह
परिवार-नियोजन हेतु स्त्री को नहीं, पुरुष को बाँधो तो सही
‘घरेलू हिंसा निवारण’ निवारण कानून अहम, पर ‘समान नागरिक संहिता’
के बिना वहम?
जनसंख्या-नियोजन नीति के मूल सूत्र
जनसंख्या-नियन्त्रण के नारों की प्रस्तावित भाषा
जनसंख्या-समस्या के सुधार में सम्भव नव-सामाजिक ढाँचे का उभार
जनसंख्या-नियोजन की इच्छा : सशक्त स्त्री की प्रतीक्षा

उपसंहार

188

संलग्नक :

- (क) उपकारक और सन्दर्भ ग्रन्थादि की सूची
- (ख) नवजागरण व स्त्री शक्ति की ये मिसालें

अध्याय-1

विषय प्रवेश

अब यह तो निर्विवाद है कि विश्व-स्तर पर जनसंख्या की अधिकता है और यह एक समस्या बनी हुई है। यही वह मूल समस्या है, जो हमारी सारी समस्याओं के बीज-रूप में है। सारी समस्याएँ, यानी भौतिक समस्याएँ और आध्यात्मिक समस्याएँ। जनसंख्या की अधिकता न सिर्फ हमारे भौतिक सुख-सुविधा के मार्ग को संकरा करती है, बल्कि हमें एक भीड़ तन्त्र में तब्दील कर व्यक्तित्व-हीन भी कर देती है। भौतिक व मानसिक प्रगति और शान्ति में यह समस्या सबसे बड़ा रोड़ा है—यह बात अब तक यदि हमने नहीं समझी, तो अब यह समझ लेनी चाहिए। यह तो ठीक है, परन्तु इस पुस्तक द्वारा मेरा प्रयास, जनसंख्या को लेकर उस गहन सन्दर्भ को उपस्थित करने का है, जिसकी व्यापक रूप से अनदेखी होती आई है। यह बड़े दुख का विषय है कि अब तक जनसंख्या-समस्या का विमर्श बहुत एकांगी रहा है। इसे केवल आर्थिक समस्या के रूप में देखा गया है और इस मूल बात को छुआ तक न गया कि सबसे पहले यह एक स्त्री-समस्या है, तत्पश्चात् कुछ और। कारण यह है कि स्त्री ही मनुष्यों की जननी है। यद्यपि इस बात से लोग चौंक उठेंगे, पर है सौ फीसदी सच्ची कि जनसंख्या विमर्श के दौरान 'स्त्री-पक्ष' को लगातार नज़रअन्दाज करते चले आने के कारण यह समस्या खत्म होने का नाम नहीं ले रही है।

अधिक 'जनसंख्या' को समस्या मानने और उसके समाधान के लिए सचेष्ट होने के पीछे की मानसिकता तो आधी-अधूरी है ही, अपितु समाधान का स्वरूप भी घोर अधूरेपन का शिकार है। जनवृद्धि को समस्या मानकर उसका समाधान क्यों खोजा जा रहा है? इसलिए कि अधिक बच्चों का वहन करने लायक हमारी आर्थिक व भौतिक स्थिति नहीं है। 'हमारी' शब्द में भी एक अर्थ छुपा है, जिसमें स्त्री सम्मिलित नहीं है। यही तो सामाजिक संरचना की विषमता युग-युग से चलती आई है। यह पूरा विमर्श पुरुषवादी या पितृसत्तात्मक मानसिकता की देन है। इसके तहत, जनवृद्धि इसलिए समस्या है कि सीमा से अधिक बच्चों को पालने, रखने आदि की भौतिक सुविधाएँ 'समाज' और सरकार के पास नहीं हैं—न कि इसलिए कि एक भी बच्चा फालतू होने का अर्थ है स्त्री के स्वास्थ्य, व्यक्तित्व या कैरियर के हास में बढ़ोतरी। बच्चे पैदा करते-करते, स्त्री अपने मनुष्य होने की पूरी सम्भावना (चाहे देह के क्षेत्र की हो या मन

के क्षेत्र की) पर ग्रहण लगाकर, एक फैक्टरी में तब्दील हो जाती है—यह भयानक सच्चाई कभी भी समाधान की दिशा में बढ़ने की प्रेरक न बन सकी। इसका एक यह भी सीधा अर्थ निकला कि यदि हमारे पास अर्थ या सकल भौतिक सुख-सुविधाओं की कमी न हो, तो हमारा समाज या सरकार बच्चे पैदा करते-करते पस्त होती स्त्री की समस्या को समस्या मानेगी ही नहीं। (अभी भी कहाँ मानी है?) यह तो वही मसल है कि पैसे, जगह या सामर्थ्य की कमी न हो तो, मर्द को एक से अधिक बीवियाँ रखने में कोई आपत्ति न हो। ‘बीवियाँ रखना’ इसलिए कहा जा रहा है कि विवाह-संस्था में स्त्री एक ‘देह’ रूप में वस्तुकृत होती रही है, जिसे पुरुष अपनी वहन-क्षमता के अनुसार रखता या छोड़ता रहा है। पुरुष का ‘एक-पत्नी-व्रत’ विवाह के अन्तर्गत स्त्री को अपने ही समान व्यक्ति मानकर, प्रेममय दोस्ती की स्वस्थ परिघटना के रूप में विवाह को ढालने की प्रेरणा से नहीं, बल्कि वहन-सामर्थ्य की सीमा और (भारत में मुस्लिम समुदाय व जनजातियों को छोड़कर शेष में) आजकल कानूनी बाध्यता से घटित विवशता के कारण है। उसी प्रकार जनवृद्धि को समस्या मानकर उसके निराकरण की तमाम सरकारी-असरकारी कवायद अधिक सन्तानों की वहन-क्षमता की अपर्याप्तता से जनमी है। खाद्य, आवास, ऊर्जा, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि से जुड़ी सुविधाओं और पर्यावरण के क्षेत्र में सम्भावित संकट से जनमी है यह। यानी, इसमें सेकेंडरी (आर्थिक असुविधा) को प्राइमरी बनाकर, प्राइमरी (स्त्री-पीड़ा) को सेकेण्डरी भी न रहने दिया गया है। इस पूरी सामाजिक-सरकारी मानसिकता की ध्वनि इस व्यंग्य शेर में सुनी जा सकती है—

“तीसरी बीवी जो मैंने की तो वालिद ने कहा—
खुश हूँ मैं, अच्छा है, लेकिन जोश ये ठंडा न हो।
हाँ मगर, इस वक्त एहतियात रखना ये जरूर—
चाहे जितनी मुर्गियाँ पालो मगर अंडा न हो।”

अध्याय-2

जनसंख्या-नीति : स्त्री-पीड़ा निरपेक्ष और मूढ़...पितृसत्तावादी

जनसंख्या-समस्या के प्रथम व्यवस्थित चिन्तक माल्थस (1766-1834 ई.) महोदय का वह पुराना मत आज भी सार्थक बना हुआ है जिसमें उनकी स्पष्ट निष्पत्ति थी कि आर्थिक संकटवश लोग भले लघु परिवारों के आग्रही हो जाएँ, पर चिन्तन-मनन के द्वारा वे जनसंख्या को समस्या मानकर उसे परिसीमित करने में कभी दिलचस्पी नहीं लेंगे। आर्थिक विकास होने पर कहीं-कहीं प्रजनन-दर गिरते पाया गया, तो लोगों को लगा कि माल्थसवाद झुठला दिया गया है, पर वह एक आंशिक सच्चाई भर था। वस्तुतः, माल्थसवाद मर्दवादी समाज को देखकर गढ़ी गई अवधारणा था और जब तक समाज मर्दों के दबदबे में रहेगा, तब तक यही सत्य रहेगा कि केवल आर्थिक समस्या लोगों (पुरुषों) को जन्म-नियन्त्रण को बाध्य करेगी। पर, यह सिर्फ पुरुष-सत्य है। जनन स्त्री का, अपने शरीर का मामला होने से जन्मनिरोध सहज प्रेरणा का मसला भी हो सकता है—यह माल्थसवाद में नहीं सोचा जा सकता था। इतना अधूरा होकर भी माल्थस-मत आज तक सामाजिक सच्चाई बना हुआ है—यही बड़ा दुखद है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने 1978 ई. में जब 165 देशों की जनसंख्या जाँच की तो ज्ञात हुआ कि सिर्फ 55 प्रतिशत राष्ट्र आबादी-वृद्धि को समस्या मानकर, उसे घटाने के पक्ष में थे। वे राष्ट्र द. एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमेरिका के थे। 29 प्रतिशत राष्ट्र जनसंख्या की तत्कालीन वृद्धि दर से सन्तुष्ट थे। शेष 16 प्रतिशत राष्ट्र अपने यहाँ आबादी की कमी महसूस करते उसमें बढ़ोतरी चाह रहे थे—फिनलैंड, ग्रीक, फ्रांस, प. जर्मनी, बल्गारिया, लक्जमबर्ग आदि। कई देश, जो जनसंख्या में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहते थे, उनमें अमेरिका (U.S.A.) पोलैंड, डेनमार्क, नार्वे, आइसलैंड, ब्रिटेन आदि थे। कमोबेश यही स्थिति आज भी है। पर, एक बात जो तीनों वर्गों के साथ लागू होती है, वह यह है कि सबके पीछे जो दिमाग कार्य कर रहा है, उसमें उत्पादन-विकास-खपत-श्रमशक्ति आदि की उपलब्धि-अनुपलब्धि है, न कि स्त्री का दुख या सुख, जो कि सन्तानों की जननी है। कोई देश अपनी जनसंख्या वृद्धि दर से सन्तुष्ट है तो इस कारण है कि आवश्यक श्रम-शक्ति और सन्तानों की वहन-क्षमता उसमें वह देखता है। इसी तरह, कोई देश अपने राष्ट्रीय कार्यक्रम के लिए जरूरी श्रम-शक्ति में कमी अथवा संसाधनों की बहुलता देखता है, तो वह आबादी बढ़ाना चाहता है यानी स्त्री

को जनन-मशीन के रूप में अधिकाधिक ढालना चाहता है। रूस की वर्तमान सरकार भी अपने यहाँ जनसंख्या बढ़ाने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगा रही है—अधिकाधिक बच्चों पर माँ को अधिकाधिक इनाम तथा पालन-शिक्षा आदि में सहारा देकर। भूतपूर्व सोवियत संघ की कम्युनिस्ट सरकार भी जनन वृद्धि पर आमादा थी। यद्यपि इस तथ्य का सत्यापन करने की गुंजाइश है जो ‘कल्याण’ पत्रिका के ‘नारी-अंक’ ने प्रस्तुत किया था कि वहाँ तीसरे बच्चे के पेट में आते ही प्रसव-अवकाश बढ़ा दिया जाता था तथा प्रसव-पूर्व तीन मास एवं प्रसव-बाद छह मास तक दूना राशन मिलता था। 5-6 बच्चे तक पैदा करने पर स्त्री को ‘Motherhood Medal’ (मातृत्व पदक), 7-9 बच्चे जनमाने पर Maternity Glory (मातृत्व कीर्ति) तथा 10 या अधिक बच्चों के प्रसव पर Mother-Heroine (प्रसव वीरा) की श्रेणी प्राप्त होती थी। इसके विपरीत, निःसन्तानों या अल्पसन्तान वालों को विशेष आय कर देने पड़ते थे। यदि यह बात सत्य है तो हमारा यही मत होना चाहिए कि गर्भवती या प्रसविनी स्त्री को विविध सुविधाएँ देना तो स्वागत योग्य है, पर इसके पीछे की नीति (स्त्री को जननशाला बनाने हेतु प्रोत्साहन) को समझकर इस समस्त कार्यक्रम की आलोचना ही करनी होगी। इसी तरह 1960 ई. तक अमेरिका तथा 1970 ई. तक आस्ट्रेलिया भी जन्म-वृद्धि नीति के साथ थे। अपने निहित राष्ट्रीय उद्देश्यों के लिए स्त्री को अधिकाधिक सन्तानोत्पादन में लगाना उसी प्रकार है, जिस प्रकार प्राचीन काल से धर्मों ने अधिकाधिक बार माँ बनने में पुण्य-लाभ का झाँसा देकर स्त्री को फँसाए रखा। सही में देखा जाए, तो धर्म, लोकतन्त्र, तानाशाही आदि की शक्ति में ये सारी व्यवस्थाएँ स्त्री-निरपेक्ष या स्त्री-विरोधी राजनीति के हिस्से हैं। राष्ट्रीय या जातीय समृद्धि एवं शक्ति हेतु अधिक से अधिक लोगों की जरूरत महसूस करनेवाली यह राजनीति स्त्रियों के लिए तो ‘राष्ट्र’ या ‘जाति’ बना नहीं रही थी—यह स्पष्ट होना चाहिए। यदि ऐसा होता तो स्त्री के व्यक्तित्व-निर्माण का अवसर छीनकर उसे जच्चा-घर में बार-बार न धकेला जाता। आज इजरायल, ब्राजील, अर्जेंटीना आदि भी जब तीव्र जनवृद्धि के पक्ष में हैं, अरब ने कृत्रिम गर्भनिरोध उपायों तथा ब्राजील ने निजी परिवार-नियोजन संस्थाओं पर रोक लगा रखी है या आए दिन हमारे देश के हिंदू, मुस्लिम राष्ट्रवादी नेता जब महिलाओं को अधिकाधिक बच्चे पैदा करने हेतु उकसाते हैं; तो मामला वही पुरुषवादी राष्ट्रीयता या जातीयता का लगता है। यदि किसी देश को अपनी सीमा में आबादी की कमी लगती है तो कहीं से जनसंख्या का आयात कर सकता है। ऐसा न करके अपने देश की स्त्रियों को मशीन क्यों बनाता है?

विकासशील देशों ने जो आबादी की अधिकता को समस्या रूप में महसूस किया तथा समाधान हेतु परिवार-नियोजन कार्यक्रम छेड़े, वे सब स्त्री की पीड़ा या हानि के ख्याल से तो बिल्कुल नहीं हैं, बल्कि प्रेरणा सिर्फ आर्थिक है। यही नहीं, परिवार-नियोजन कार्यक्रमों का स्वरूप भी स्त्री-विरोधी है। जैसे—जापान ने गर्भपात को वैध बनाकर जनसंख्या समस्या पर काबू पाया। स्पष्टतः परिवार-नियोजन का यह तरीका स्त्री-पीड़क है। अब वही जापान, अपने यहाँ माँ बनने में अरुचि दिखा रही स्त्रियों को देखते चिन्तित

हो रहा है। कहीं, वह लोकतन्त्र की भाषा में स्त्री को बच्चे पैदा करने पर मजबूर करने हेतु कानूनी पहल न कर बैठे। आस्ट्रेलिया, जो शुरू में जनवृद्धि के पक्ष में था, 1971 ई. में शून्य जनसंख्या-वृद्धि की नीति पर आया तो किसलिए? चीन, भारत, इण्डोनेशिया, पाकिस्तान, दक्षिण कोरिया, सिंगापुर, ट्यूनीशिया, मिस्र, फिलीपीन्स, क्यूबा, चिली, कैरेबियन राष्ट्रों आदि ने परिवार-नियोजन की जरूरत समझी तो किसलिए? बल्गारिया ने परिवार के लिए 2-3 बच्चों का, हंगरी ने 3 बच्चों या पूर्वी जर्मनी ने 2 बच्चों का मानक रखा था तो किसलिए? कोरिया, फिलीपीन्स आदि ने छोटे परिवारों हेतु आर्थिक सुविधाएँ प्रदान करने का निर्णय लिया या श्रीलंका, भारत आदि ने नसबन्दी हेतु आर्थिक प्रोत्साहन दिया तो किसलिए? ट्यूनीशिया, क्यूबा, चीन, सिंगापुर, भारत आदि ने गर्भपात को वैधता प्रदान की तो किसलिए? सबकी सोच में सुविधाओं के संकट का डर विद्यमान है, न कि स्त्री के प्रति करुणा। इसी के तहत, बहुत से विकासशील राष्ट्रों ने जनवृद्धि दर घटाने हेतु समय बाधक (Time bound) उद्देश्य निर्धारित किया है। लेकिन, चाहे जिस मानसिकता के तहत जनसंख्या-नियन्त्रण कार्यक्रम चला हो, वह स्त्री के हित में ही गया है।

जनसंख्या-नियन्त्रण कार्यक्रम का भारतीय बढ़ाव या भटकाव?

यह बात निस्सन्देह महत्वपूर्ण है कि भारत विश्व का ऐसा पहला राष्ट्र रहा, जिसने इस दिशा में एक राष्ट्रीय कार्यक्रम शुरू किया—प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951 ई.) के साथ ही 'परिवार-नियोजन कार्यक्रम' नाम से। जनसंख्या-नीति में 'परिवार-नियोजन' को अनिवार्य अंग माना गया तथा हर बार खर्च की राशि क्रमशः बढ़ाई गई। जैसे—

प्रथम पंचवर्षीय योजना	—	6.5 लाख
द्वितीय पंचवर्षीय योजना	—	5 करोड़
तृतीय पंचवर्षीय योजना	—	27 करोड़
चतुर्थ पंचवर्षीय योजना	—	286 करोड़
पंचम पंचवर्षीय योजना	—	500 करोड़

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में स्वेच्छापूर्वक नसबन्दी का प्रारम्भ 1956 ई. में किया गया। प्रथम दो योजनाओं की अवधि में सरकार ने इस कार्यक्रम के प्रति जनता के रुख जानने हेतु अध्ययन भी करवाया। तृतीय योजना में स्पष्टतः नीति थी, जनसंख्या स्थिरता लाने की। इसके लिए शिक्षा तथा भारी मात्रा में उपकरण सेवाएँ बढ़ाना, स्त्री की शिक्षा तथा रोजगार के अवसर बढ़ाना एवं विवाह आयु में बढ़ोतरी की प्रेरणा देना भी शामिल था। योजना समाप्ति पर 15 लाख लोगों ने नसबन्दी करवाई तथा बाकी गर्भ-निरोधोपाय भी 15 लाख लोगों ने अपनाए। चतुर्थ योजना में यह लक्ष्य रखा गया कि 1978-79 तक प्रति हजार 23 व्यक्ति जन्मदर करना है। योजनान्त तक 87 लाख लोगों ने नसबन्दी करवाई थी तथा 60 लाख दम्पतियों को परिवार-नियोजन उपकरण उपलब्ध कराए गए। इस प्रकार अनुमान किया गया कि तृतीय योजना में 6 लाख

तथा चतुर्थ योजना में 69 लाख बच्चों का आना रोका गया—यानी, इतनी-इतनी स्त्रियों को गर्भ-भार से बचाया गया। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में परिवार-नियोजन कार्यक्रम को जन कल्याण सेवा (स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि) से समंजित करने की कोशिश हुई। परिवार-नियोजन के लिए आर्थिक प्रोत्साहन, दंड प्रावधान तथा गर्भपात की वैधता (1971 ई.) आदि नवीन आयाम भी संयुक्त किए गए। आपातकाल के दौरान 16 अप्रैल, 1976 ई. को केन्द्र सरकार की प्रथम जनसंख्या नीति घोषित की गई, जिसमें विवाह की न्यूनतम उम्र सीमा लड़कियों के लिए 18 वर्ष तथा लड़कों के लिए 21 वर्ष तय की गई (प्रश्न है कि लड़के व लड़की में यहाँ भेद क्यों किया गया? दोनों के लिए विवाह का अर्थ क्या अलग-अलग मानने की मनुवादी परम्परा का ही अनुसरण तो यहाँ नहीं है?)। इसके साथ, राज्य-सरकारों को 'अनिवार्यतः बन्ध्याकरण या नसबन्दी' के लिए कानून बनाने का अधिकार दे दिया। परिणामतः कई हजार पुरुषों की भी जबरन नसबन्दी की गई—1976-77 में पुरुष नसबन्दी (6199000) महिला नसबन्दी (2062000) की तुलना में तिगुनी संख्या में हुई। यह रिकार्ड फिर कभी न दिखा। कारण, 'कांग्रेस सरकार' को पुरुष सत्तात्मक समाज में बड़ी क्षुब्ध प्रतिक्रिया झेलनी पड़ी और चुनावों में उसे पटखनी देने हेतु विरोधियों ने जन (पुरुष?) आक्रोश को खूब भुनाया। उसके बाद, भोरारजी देसाई के नेतृत्व में बनी 'जनता पार्टी सरकार' ने 1977 में 'संशोधित जनसंख्या नीति' की घोषणा की, जिसके तहत नसबन्दी आदि के लिए 'अनिवार्य' की जगह 'स्वेच्छा' की नीति का प्रावधान रखा गया। साथ ही, 'परिवार-नियोजन' का नाम बदलकर 'परिवार कल्याण कार्यक्रम' कर दिया गया। इसके साथ, सीमित परिवार रखने को प्रेरित करनेवाले विज्ञापन, गर्भनिरोधक सामग्रियों की आपूर्ति, स्वेच्छापूर्ण नसबन्दी हेतु नकद राशि के रूप में प्रोत्साहन आदि आते हैं। छठी योजना में आर्थिक प्रोत्साहन की राशि में वृद्धि भी की गई। सातवीं योजना (1985-90 ई.) में लक्ष्य रखा गया कि स्त्री का विवाह 20 वर्ष उम्र से नीचे न हो, यह देखना होगा। साथ ही 'हम दो हमारे दो' की नीति अपनाई गई। लक्ष्यभूत 42 प्रतिशत दम्पतियों को गर्भ निरोधक उपलब्ध कराना, सभी गर्भवती स्त्रियों व शिशुओं का टीकाकरण तथा नवजात शिशु मृत्यु दर प्रति हजार 90 तक लाना, स्त्री-साक्षरता में सुधार, 11-15 वर्षीय हर बच्चे को जनसंख्या-शिक्षा प्रदान करना और विद्यालय बाह्य जनों को अन्य माध्यमों से शिक्षित करना—ये सब उपाय भी शामिल किए गए। इस प्रकार सरकार का ध्यान परिवार-नियोजन कार्यक्रम की सफलता के लिए सामाजिक नीतियों के अनुशीलन में गया। साथ ही स्त्री-स्वास्थ्य पर विशेष फोकस करते हुए 'राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षणों' की शुरुआत की गई। पहला सर्वे 1992-93, दूसरा सर्वे 1998-99 में हुआ तथा तीसरा सर्वे 2005-06 में हुआ है। 'राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण' (N.S.S.) का 52वाँ दौर (1995-96) भी 'मातृत्व और शिशु स्वास्थ्य परिचर्या' से सम्बद्ध रहा। आठवीं योजना के अन्तर्गत जन्म दर को 1997 ई. तक प्रति हजार 26 करने का लक्ष्य रखा गया था। 2001 ई. की 14वीं जनगणना में पहली बार स्त्री के

क्रियाकलाप तथा आर्थिक गतिविधियों से जुड़े आँकड़ों का संग्रह किया गया। साथ ही पहली बार जनवृद्धि पर अंकुश लगाने की परिधि में गर्भनिरोधकों के अतिरिक्त शिशु व गर्भवतियों के स्वास्थ्य, स्त्रियों के व्यवसाय व उनके अधिकार जैसे मसलों की ओर भी ध्यान दिया गया—सन् 2000 ई. की 'नई जनसंख्या नीति' के रूप में इस नीति का निर्माण 1993 ई. में गठित की गई 'स्वामीनाथन समिति' द्वारा प्रस्तुत (1994 ई.) नीति प्रारूप के मुख्य आधार पर किया गया था, पर उसमें सहयोग लिया गया UNO द्वारा 5-13 सितम्बर, 1994 ई. को काहिरा में आयोजित अब तक के विशालतम जनसंख्या-सम्मेलन में पारित प्रस्तावों से भी। इस सम्मेलन में महिलाओं और बच्चों से जुड़े मुद्दों पर पहली बार व्यापक स्तर पर फोकस था। इसके 11 हजार प्रतिनिधियों में NGO और मीडिया के भी विशाल संख्या में प्रतिनिधि थे। उससे लाभ उठाकर बनी, 2000 ई. की भारतीय जनसंख्या नीति प्रथम बार इतनी समझदार व व्यापक उद्देश्यों वाली हो सकी है। इसमें अल्प, मध्य व दीर्घकालीन लक्ष्य रखे गए। दीर्घकालीन लक्ष्य में 2045 ई. तक देश की जनसंख्या स्थिर करना तथा मध्यकालीन में 2010 ई. तक प्रजनन दर (TFR) 2.1 बच्चा प्रति स्त्री तक लाना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो रणनीति बनाई गई, उसमें शामिल हैं—2010 ई. तक हर गाँव-नगर में शिशु स्वास्थ्य, गर्भवती स्त्री के स्वास्थ्य से सम्बद्ध मौलिक सुविधाएँ एवं सेवाएँ प्रदान करना; 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को अनिवार्य शिक्षा देना, विवाह की न्यूनतम उम्र सीमा 1976 वाली ही बरकरार रखते हुए कोशिश करना कि लड़की को 20 वर्ष से पहले न ब्याहा जाए; कम से कम 80 प्रतिशत प्रसव अस्पताल में लाना तथा बाकी 20 प्रतिशत भी प्रशिक्षित स्वास्थ्य कर्मियों की देखरेख में सुनिश्चित करना; प्रत्येक जन्म-मृत्यु, गर्भ व विवाह का पंजीकरण करना, स्त्री की प्रसव-मौत को प्रति लाख 100 तक लाना आदि। इस नीति में हर गाँव में प्रसूति-गृह बनवाना लक्ष्य है, जहाँ दवा-दाई की उपलब्धि रहेगी तथा वहीं हर जन्म, मृत्यु, गर्भ व विवाह पंजीकृत होगा। महिलाओं के अधिकार एवं स्वास्थ्य को इस नीति में विशेष ध्यान में रखा गया। स्त्री के स्वास्थ्य, आहार, पौष्टिकता आदि में सुधार लाकर प्रसव-मौत दर को निम्नतर करना तथा स्त्री की गर्भावस्था में हर बीमारी से मुक्ति इस नीति के सुदृढ़ लक्ष्य हैं। स्वास्थ्य-सुविधाओं व गर्भ-निरोधक प्रौद्योगिकी में सुधार व नवीनीकरण की ओर भी इसमें विशेष ध्यान दिया गया।

फरवरी, 2000 ई. में घोषित इस नीति के 10 सिद्धान्त सुनिश्चित किए गए, जिनमें से एक है—महिला अधिकारों की सुरक्षा करना। इसके साथ, स्वास्थ्य व परिवार-नियोजन के क्षेत्र में अनुसन्धानों के माध्यम से प्रौद्योगिकी का विकास भी शामिल है।

दंडात्मक उपायों के अन्तर्गत 2 से ज्यादा बच्चे वालों को पंचायत चुनावों में भाग लेने पर रोक लगाया गया है।

प्रोत्साहन उपायों के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रावधान किए गए हैं :

(i) बालिका समृद्धि योजना—किसी परिवार के पहले या दूसरे बच्चे के रूप में

कन्या पैदा होने पर 500 रु. की राशि पुरस्कार देना।

- (ii) 19 वर्ष की उम्र के बाद माँ बनने वाली स्त्री यदि नियमित चेकअप कराती एवं चिकित्सालय में प्रसव कराती है, साथ ही नवजात शिशु को सभी प्रकार के टीके आदि भी लगवाती है; तो ऐसी महिला को भी 500 रुपए पुरस्कार देना।
- (iii) गरीबी रेखा के नीचे के उस दम्पति को, जो निर्धारित उम्र-सीमा पर ब्याह किए हुए है तथा दो बच्चों के बाद नसबन्दी करवा चुका हो, पुरस्कृत करने की योजना।
- (iv) हर गाँव तथा शहरों के झुग्गी-झोपड़ी क्षेत्रों में आँगनबाड़ी आदि खोलकर स्त्री को व्यवसाय देना।
- (v) हर गाँव में स्त्री के व्यावसायिक प्रशिक्षण का प्रबन्ध करना, ताकि गाँव की स्त्री वहीं अपना व्यवसाय खड़ा कर सके।
- (vi) गर्भपात-सुविधाओं का विस्तार करना तथा हर जगह उसे आसानी से उपलब्ध कराना।
- (vii) बाल-विवाह कुप्रथा मिटाने, साक्षरता बढ़ाने एवं बाल-मृत्यु दरों में कमी लाने में विशेष भूमिका निभाने वाली पंचायती राज-संस्थाओं को पुरस्कार देना।

‘राष्ट्रीय जनसंख्या नीति’ के क्रियान्वयन हेतु 2000 में ही प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में ‘राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग’ तथा 2003 ई. में ‘राष्ट्रीय जनसंख्या कोष’ स्थापित किया गया है।

11 जुलाई, 2000 ई. को उत्तर प्रदेश ने जारी की गई अपनी पहली जनसंख्या नीति में भी स्त्री-पक्षीय कई प्रावधान शामिल किए हैं। जैसे—राजकीय सेवाओं में 33 प्रतिशत आरक्षण स्त्रियों के लिए सुनिश्चित करना। इसके साथ, कम उम्र में ब्याह करने पर सरकारी नौकरी से वंचित रखना भी शामिल है।

जनसंख्या-समस्या पितृसत्तात्मक है

भारतीय जनसंख्या नीति के इतिहास से जुड़ीं उपर्युक्त सूचनाओं से इतना तो स्पष्ट हो रहा है कि समस्या के विमर्श को व्यापकता मिलती गई तथा कुछ हद तक मूल (स्त्री) पक्ष को भी छूने की कोशिशें हुई हैं। साथ ही, ‘स्त्री का सशक्तीकरण’ जनवृद्धि की रोकथाम के एक प्रभावी उपाय के रूप में सरकारी नीतियों की मानसिकता में अंकित होते जा रहा है। फिर भी, अब तक उसमें यह मूल सत्य समाहित न हो सका है कि जनसंख्या समस्या मूलतः पितृसत्तात्मक समस्या है तथा आधी दुनिया (स्त्री) को सीधे-सीधे मानवाधिकार से वंचित कर देनेवाली समस्या है। यह तो ठीक है कि ‘स्त्री-सशक्तीकरण’ जनवृद्धि को हतोत्साह करने का प्रभावकारी उपाय है, परन्तु अभी तक क्या यह सोचा गया कि जनसंख्या वृद्धि नारी के ‘अबलाकरण’ का एक प्रमुख हेतु है। स्त्री के स्वास्थ्य, पोषण, कैरियर के विनाश के साथ अनावश्यक प्रसव-पीड़ा व

असमय मौत की यंत्रणा का भी बड़ा हेतु है जनवृद्धि—क्या यह सोचने की ज़रूरत हमारे विद्वान नीति-निर्धारकों, चिन्तकों व स्वनामधन्य ‘महापुरुषों’ (महानारियों?) ने उठाई है? नोबेल पुरस्कार प्राप्त अर्थशास्त्री डॉ. अमर्त्य सेन यहाँ एक सुखद अपवाद हैं, जिन्होंने जनाधिक्य समस्या को नारी पक्ष से देखने की न सिर्फ गम्भीर कोशिश की है, बल्कि विमर्श की यह सम्भावना भी खोल दी है कि यह समस्या पितृसत्तात्मकता से गहरी जुड़ी है। डॉ. सेन के प्रयास को दुर्लभ तथा स्तुत्य मानते हुए भी बड़े परिदृश्य में यह प्रश्न उठाना हर तरह से वाजिब है कि यह सत्य जनसंख्या विमर्श में कब तक अनुपस्थित रहेगा कि नारी-सशक्तीकरण और जनसंख्या वृद्धि या जनसंख्या वृद्धि और नारी सशक्तीकरण में परस्पर व्युत्क्रमानुपाती सम्बन्ध है? अर्थात् जनसंख्या बढ़ने का अर्थ है नारी-सशक्तीकरण में हास (यानी, स्त्री का अबलाकरण) और नारी के शक्तिमती (यानी, सम्पूर्ण व्यक्तित्वशाली) न हो पाने का अर्थ है कि जनसंख्या का बढ़ना रुकेगा नहीं। भारत जैसे पिछड़े अर्द्धसामन्ती समाजों के लिए यह ज्यादा सत्य होकर भी एक वैश्विक सच्चाई है।

डॉ. अमर्त्य सेन ने ‘आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य’ नामक पुस्तक में जन्मदर में जो कमी चाही है, तो केवल उसके आर्थिक दुष्प्रभाव के कारण नहीं। वे जन्मदर के आधिक्य का सबसे गहन दुष्प्रभाव स्त्री के जीवन पर मानते हैं। उन्हें दुख है कि अधिकचरे विचारों को ‘परम्परा’ के नाम पर प्रतिष्ठित करके उन्हें स्त्री को बच्चा पैदा करने की मशीन बना लिया गया है। उससे नारी की जीवन-यापन सम्बन्धी स्वतन्त्रता पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। डॉ. सेन ने एकदम सत्य को पकड़ा है और इस सच्चाई का गायब रहना हमारी जनसंख्या नीति की मूलभूत कमी है और इस कमी के विस्तार हैं बाकी कमियाँ। इस नीति में अब तक परिवार-नियोजन उपायों-उपकरणों पर जितना बल दिया गया है (प्रचार, पुरस्कार, दंड, सुविधाओं की उपलब्धि के सन्दर्भ में); उतना ध्यान जनसांख्यिकीय संरचना एवं आर्थिक सामाजिक प्रगति के अन्तःसम्बन्धों तथा उनके (जनवृद्धि पर) पड़नेवाले प्रभावों की व्याख्या पर नहीं दिया गया है। जन्मदर बढ़ाने के मूलभूत घटक पितृसत्तात्मक विचारधारा एवं तज्जनित सामाजिक संरचना (जिसमें स्त्री अबला बनाकर गर्भभार ढोने को बाध्य की गई है) को विमर्श में कहीं रखा ही नहीं गया। विवाह की पितृस्थानीय व्यवस्था (यानी विवाह बाद लड़की का लड़के के घर जाकर बसना) तथा सांस्कृतिक स्तर पर बेटे को अहमियत दिया जाना (तथा उससे विद्यमान दहेज-प्रथा) आदि तत्त्व, पुत्रमोह में स्त्री पर सन्तान पर सन्तान पैदा करते जाने या गर्भपात दर गर्भपात कराने का दबाव डाले रहते हैं। यह सब विचार इस नीति में कहाँ है? लिंगानुपात में हास, एक निश्चित आयु वर्ग की स्त्री की मृत्यु-दर, प्राथमिक-माध्यमिक स्तर पर ही स्त्री को शिक्षा से वंचित किए रखना (कारण? घरेलू कामकाज या विवाह), व्यावसायिक क्षेत्र या पूँजी-निर्माण में स्त्री की कम भागीदारी, जनसंख्या-शिक्षा/यौन-शिक्षा की कमी आदि कारक परिवार-नियोजन उपायों को अपनाने पर भारी प्रभाव डालते हैं। इस पर भी कम ध्यान दिया गया है।

भारत ने 56-57 वर्ष पूर्व ही परिवार-नियोजन कार्यक्रम अपना लिया था, परन्तु अपेक्षित सफलता नहीं मिल सकी है और आज भी नहीं मिल रही है, तो प्रकट रूप से ही क्या कारण हो सकते हैं? यही न कि अभी भी 58 प्रतिशत जनसंख्या प्रजनन आयु वर्ग की है तथा 1991-2016 ई. के दौरान 41.7 करोड़ नए लोगों के इस वर्ग में शामिल हो जाने की आशंका है। अभी भी लगभग आधी लड़कियाँ 18 वर्ष तक ही ब्याह दी जाती हैं, जिससे वे विवाह-व्यवस्था की परतन्त्रता में बच्चे जनमाने हेतु जा पड़ती हैं। अभी भी नवजात शिशु मृत्यु दर उच्च होने (प्रति हजार जीवित प्रसव पर NFHS III से 57) के कारण ऐच्छिक जन्म दर उच्च हो गया है। सामाजिक संरचना से जुड़े जिन तथ्यों के कारण जनसंख्या बढ़ाने या बेटा चाहने की मानसिकता बनी हुई है, उसमें आमूल-चूल बदलाव लाना है तो केवल शिक्षा ही काफी नहीं है, बल्कि पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना भी बदलनी होगी। जनसंख्या-नीति में इस बड़े पहल को क्या स्थान मिलेगा? जब अभी परिवार-नियोजन कराना 'अनिवार्य' रखने की जगह लोगों (मर्दों?) की मर्जी पर छोड़े रखा गया है। इसके पीछे पितृसत्तात्मक व मजहबी अंधविश्वासों को पोषित करने की वोट बैंक की राजनीति भी आड़े आती रही है। इसी कारण तो भारत में 1976 ई. में सही नीति अपनाने के बाद नीति में 1977 ई. में घोर भटकाव आ गया। वह विचलन बदस्तूर जारी है।

जनसंख्या-नियन्त्रण नहीं, कोख-नियन्त्रण

पहले की नीति (अनिवार्य नसबन्दी) के चलते देश के विशाल पुरुष वर्ग को जनसंख्या नियन्त्रण से जोड़ा गया था, भले जबरन ही; पर समाज की पितृसत्तात्मक संरचना को देखते हुए यह 'जबरन' जरूरी था और है। यह हो सकता है (जैसा कि हर बार हुआ है) कि धन, प्रभुत्व या सामाजिक दृष्टि से अगड़े लोग नसबन्दी की तलवार (?) से अपने आपको बचाने में सफल होते गए हों और गरीब या कमजोर वर्ग के ही पुरुष उसकी गिरफ्त में ज्यादा आए हों। परन्तु इतना तय मानिए कि नसबन्दी का विरोध गरीब व कमजोर वर्ग के हितैषी नहीं, बल्कि सदियों से चला आ रहा पितृसत्तावादी विचार कर रहा था। 'जबरन' शब्द को तब की मीडिया ने भी इतना ज्यादा हाइलाइट किया था कि परिवार-नियोजन का निहितार्थ और उसमें पुरुषों की भागीदारी की सर्वप्रमुखता भी हाशिए पर चली गई। याद कीजिए आई.एस. जौहर की 'नसबन्दी' फ़िल्म—जिसने परिवार-नियोजन की गम्भीर मानसिकता पेश करने की बजाय नसबन्दी का मजाक उड़ाया था। साथ ही 'दे दो एक सन्तान' के स्वर बुलन्द किए थे। यह ठीक है कि 1976 की जनसंख्या नीति में जल्दबाज रवैये से जुड़े हुए कुछ दोष थे और सबसे बड़ा दोष था—स्त्री को भी जबरन नसबन्दी में शामिल रखना, जो सदियों से अपनी देह पर भी अधिकार से वंचित रही है। परन्तु, इस दोष को हटा देने के बाद वैसे कोई खामी उस नीति में नहीं खोजी जा सकती थी। अस्तु! जबरिया नसबन्दी को 'देश' (? पुरुष) सह न पाया और कांग्रेस सरकार की उसके कारण हुई राजनैतिक

क्षति के बाद तो लगता है कि हमारी सरकारों ने 'सबक' (?) सीख लिया है। अब जनसंख्या नियन्त्रण का पूरा बोझ स्त्रियों पर थोप दिया गया है। आँकड़े इस नग्न सत्य को चीख-चीख कर कह रहे हैं।

केन्द्र सरकार के 'महिला कल्याण विभाग' के अनुसार नसबन्दी में पुरुषों की शुरुआती (1956-61 ई.) भागीदारी महिलाओं (122000) के बनिस्बत अधिक रही—(135000)। पुरुष के अधिक रहने का यह सिलसिला 1973 तक लगातार चलते रहा। 1974-75 ई. में मामला थोड़ा उलटा चला। लेकिन फिर 1976-77 ई. में रिकार्ड बना। महिला नसबन्दी (2062000) की तुलना में लगभग तिगुनी रही पुरुष-नसबन्दी (6199000)। फिर तो ऐसी गिरावट आई कि 1997-98 में महिला नसबन्दी (4167000) की तुलना में पुरुष नसबन्दी लगभग साठ गुनी कम हो गई (71000)। 2000-01 ई. का आँकड़ा है कि महिला नसबन्दी (4625000) की तुलना में पुरुष नसबन्दी लगभग 41 गुनी कम (110000) रह गई थी।

'भारतीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण' के प्रथम चक्र (NFHS 1992-93) के अनुसार कुल परिवार-नियोजन की विधि अपनाने वाले जनों में स्त्री नसबन्दी का प्रतिशत अत्यन्त अधिक है। कुल आकलन (36.5) में नसबन्दी कराने वाली स्त्रियों व पुरुषों का प्रतिशत क्रमशः 27.4 व 3.5; द्वितीय चक्र (NFHS 1998-99) में यह प्रतिशत कुल आकलन (42.8 प्रतिशत) में क्रमशः 34.1 व 1.9 तथा तृतीय चक्र (NFHS 2005-06) में यह प्रतिशत कुल आकलन (48.5 प्रतिशत) में 37.3 व 1.0 रहा है। यानी, सरकार व समाज महिलाओं को क्रमशः अधिकाधिक नसबन्दी से जोड़ते गया। ठीक इसके विपरीत, पुरुष को क्रमशः अधिकाधिक छूट देते गया। इसी विसंगति का परिणाम है कि आज सिर्फ 1 प्रतिशत पुरुष नसबन्दी कराते हैं और महिलाओं पर इसका 37 से 41 गुना ज्यादा भार है। यह तो सिर्फ नसबन्दी का भार हुआ। बाकी गर्भ-निरोधकों (I.U.D. या कॉपर टी, गोलियों, सुइयों) का भार भी तो स्त्री को ही झेलना पड़ता है। यह है 'अनिवार्य' की जगह 'ऐच्छिक' शब्द रख देने का नतीजा—जिसका सामाजिक अर्थ स्त्री के लिए 'अनिवार्य' हो गया दिखता है। 'ऐच्छिक' है तो पुरुष के लिए, जो सदा से अपने मन का मालिक रहा है। स्त्री तो सदा से दूसरों की इच्छा की अनुगत होने को बाध्य रही है। परिवार-नियोजन उपायों का स्त्री व पुरुष के बीच का यह विसंगत आँकड़ा राज्यवार व क्षेत्रवार और विचित्र हो सकता है। तालिका NFHS-3 देखें, पृ. 30।

सब मिलाकर स्पष्ट हो रहा है कि सरकार की ढिलाई से जनसंख्या नियन्त्रण का कार्यक्रम पुरुष को मुक्त रखते हुए, स्त्री की कोख पर नियन्त्रण के रूप में ढल चुका है। चाहे नाम-परिवर्तन कितना भी कर लें—'परिवर नियोजन' से 'परिवार कल्याण'—पर तमाम निरोधोपाय स्त्री की प्रजनन-शक्ति (कोख) पर नियन्त्रण के रूप में परिभाषित हो रहे हैं। जब इस सामाजिक संरचना में स्त्री को घर या परिवार का पर्याय बना दिया गया है तो परिवार कल्याण का अर्थ भी तो पितृसत्तात्मक मान मूल्यों पर बने परिवार के कल्याण हेतु स्त्री-देह को साधन बना देना है। जब चाहा, अधिक जनों की जरूरत

तालिका : NFHS-3

	भारत			बिहार		उत्तरप्रदेश		झारखंड		उत्तरांचल	
	शहरी	ग्रामीण	कुल	ग्रामीण	कुल	ग्रामीण	कुल	ग्रामीण	कुल	ग्रामीण	कुल
किसी आधुनिक विधि से गर्भ निरोध	55.8	45.3	48.5	28.8	26.8	29.3	25.2	31.1	25.2	55.5	54.2
स्त्री नसबन्दी	37.8	37.1	37.3	23.8	22.6	17.3	16.8	23.4	19.8	32.1	36.3
पुरुष नसबन्दी	1.1	1.0	1.0	0.6	0.5	0.2	0.1	0.4	0.4	1.8	1.5
IUD (कॉपर टी आदि)	3.4	1.1	1.8	0.6	0.5	1.4	0.8	0.6	0.4	1.5	1.0
गोलियाँ	3.9	2.8	3.1	1.3	1.0	1.7	1.3	3.8	3.5	4.2	4.0
कंडोम	10	3.3	5.3	2.3	1.9	8.7	6.2	2.8	1.2	15.7	11.2

महसूस की, स्त्री देह पर अधिकाधिक प्रजनन का भार डाला और जब आबादी की बढ़ोतरी असह्य हो उठी, स्त्री-देह को बंजर बनाने हेतु उसके साथ हिंसक छेड़छाड़ की नीति चलाई गई। क्या इसी सोच के तहत परिवार-कल्याण कार्यक्रम का प्रतीक-चिह्न 'लाल त्रिकोण' रखा गया है? क्या यह संकेत है स्त्री के भग-प्रदेश (योनि) का? क्या इससे यही सीख देने की कोशिश हुई है कि इस क्षेत्र का संयम से इस्तेमाल किया जाए—चाहे नर करे या नारी। नर की तरफ से देखा जाए तो 'नारी की योनि को वह कुछ संयम से भोगे' जैसी नसीहत में स्त्री का यौन-वस्तु के रूप में परिभाषित होना खलता है। यदि नारी की तरफ से देखा जाए तो 'अपनी योनि का यौन-क्रिया हेतु उपयोग करने में स्त्री संयम रखे' जैसी सीख ध्वनित होती है। वाह रे! स्त्री मानो अपनी मर्जी से यौन-क्रिया में उतरती है। मानो स्त्री कामातुरा हो उठी है, जिस पर अंकुश लगना चाहिए। नीति-नियन्ताओं को इतना पता क्या नहीं कि एक आम भारतीय स्त्री की स्थिति किन परतन्त्रताओं में गुजरती है? क्या इतनी सशक्त है स्त्री कि वह अपनी देह से जुड़े फैसले खुद कर सके? बिलकुल नहीं।

जनसंख्या नीति में 2045 तक जनसंख्या स्थिर करने की बात कही गई है, परन्तु कितनी जनसंख्या को पर्याप्त मानकर, उस पर स्थिर कर देना है यानी शून्य-वृद्धि दर ला देना है—स्पष्ट नहीं है। यदि आज की जनसंख्या पर भी स्थिरीकरण करना हो, तो भी ठीक नहीं। इतनी विकराल कुकुरमुत्ताई स्थिति क्या कम है? इस पर स्थिर करेंगे?

फिर, दंडात्मक उपाय भी बिना सोचे-समझे स्त्री पर भी लागू कर देना ठीक नहीं। अधिक बच्चे हैं, तो कारण रूप में वह स्त्री कैसे हो गई, जिसे प्रजनन क्रिया की भूमि (क्षेत्र) कहते-कहते 'क्षेत्र' सा जड़ बना भी दिया गया है? बच्चे पैदा करने में उसकी स्वतन्त्रता है कहाँ कि उसको जिम्मेदार ठहरा कर दंडित किया जाए? दंडनीय तो वह समाज या उसका पति या कोई पुरुष है, जो उस पर अपनी इच्छा थोपता है।

विश्लेषण की जुबान : अधूरा निर्मम बखान

जनसंख्या विश्लेषण कहता है कि विश्व के 5 अरबवें शिशु का जन्म 11 जुलाई, 1987 ई. को युगोस्लाविया में हुआ था तथा 12 अक्टूबर, 1999 ई. को विश्व जनसंख्या 6 अरब हो गई। परन्तु यह नहीं कहा जाता कि विश्व की स्त्री ने 5 या 6 अरबवीं बार प्रसव-पीड़ा की ज़हमत उठाई। इसी तरह कहा गया कि 11 मई 2000 ई. को भारत ने 1 अरब का आँकड़ा छू लिया; 1 मार्च, 2001 ई. को भारतीय जनसंख्या 1,028,737,436 और 10 जुलाई, 2007 को शाम साढ़े चार बजे 1,11,09,96,998 (अनुमानित) हो गई तथा प्रतिदिन 48000 बच्चे जनम रहे हैं यहाँ। पर, यह नहीं कहा जाता कि भारत में प्रतिदिन 48000 स्त्रियाँ (जिनमें से ढेर सारी 18 से कम उम्र की नादान किशोरियाँ भी हैं) माँ बनने यानी गर्भभार व प्रसव-पीड़ा झेलने और फिर अगले काफी समय तक शारीरिक-मानसिक यन्त्रणाओं व लालन-पालन की व्यस्तता से व्यक्तित्व नाश की गुलामियों में पड़ जाती हैं। 'विश्व बैंक' की रिपोर्ट के अनुसार 2003

ई. में भारतीय आबादी 10644 लाख हो गई तथा 2015 ई. तक उसके 12316 लाख हो जाने का अनुमान है। औसत वृद्धि दर 1990-2003 ई. के लिए 1.7 प्रतिशत वार्षिक रही; 2003-2015 ई. के दौरान 1.2 प्रतिशत वार्षिक रहने की सम्भावना है। 2001 ई. की भारतीय जनगणना के अनुसार वार्षिक वृद्धि दर 1.95 है। यदि इसे 0.9 प्रतिशत पर भी लाया जाए तो 45 साल बाद और 1.2 दर ही रही तो 2031 ई. तक ही भारत विश्व में पहले नम्बर पर होगा। वाह रे! इन्हीं सब में तो पहले नम्बर पर होगा। औरतों को प्रजनन-बाध्य करने में पहले नम्बर पर होगा; जन्म पूर्व व पश्चात् बेटियों की हत्या करने में पहले नम्बर पर होगा और फिर स्त्री को 'माँ' का सम्मान (?) देने में पहले नम्बर पर होगा। NPPW (1988 ई.) नामक सरकारी पुस्तक के अनुसार भारतीय स्त्री औसतन 8-9 बार गर्भवती होती रही (यानी गर्भ-बोझ ढोने को बाध्य बनती रही है) तथा उसके प्रजनन-क्षमता-काल का 80 प्रतिशत हिस्सा गर्भावस्था व स्तनपान (यानी जनसंख्या-समस्या में उलझकर अस्तित्व लोप की पीड़ा झेलते) बीतता रहा है। यदि ज्यादा त्रासद स्थिति न कही गई हो, तब यह हाल रहता है। फिर, यदि 'माँ बनने' शब्द की—इस सांस्कृतिक गरिमा पद की वास्तविक चीरफाड़ की जाए, तो दिल दहल जाता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि आँकड़ों का संग्रहण व विश्लेषण (चाहे सर्वेक्षण कितना भी स्त्री-अभिमुखी होने का दावा करे) स्त्री के प्रति संवेदनहीन भाषा में होता है तथा स्त्री दृष्टि की अनुपस्थिति के कारण एकपक्षीयता से ग्रस्त होता रहा है। इसका एक प्रकट कारण तो यही कहा जा सकता है कि सर्वेक्षण-टीमों में अपनी औचित्यपूर्ण उपस्थिति से स्त्री वंचित रही है।

मर्द का मज़ा : औरत को सज़ा

एक आम (भारतीय) स्त्री की वास्तविकता यह है कि उसका अपनी सबसे स्थूल वास्तविकता यानी देह तक पर कोई अधिकार नहीं। ऊपर से धर्म व समाज की परम्पराओं ने उसे पति की वासना-पूर्ति तथा वंश-परम्परा चलाने का दायित्व सौंप रखा है। उसे यह चुनने की आजादी नहीं कि बच्चे पैदा करे या न पैदा करे और यदि ऐसा अधिकार किसी हद तक है भी तो परम्परा द्वारा थोपे गए मूल्यों व अशिक्षाग्रस्त होने के कारण वह खुद इस्तेमाल की जानेवाली एक चीज की तरह स्वयं को मान लेती है। इसलिए पुरुष की वासना या सन्तानेच्छा झेलते हुए वह गर्भवती होते रहने को मजबूर है। यह सामाजिक संरचना रहते, जनसंख्या वृद्धि का जिम्मेवार स्त्री को भला कैसे ठहराया जा सकता है? पर परिवार-नियोजन की सरकारी नीतियाँ स्त्री-देह को ही कसने पर तुली हैं। वे यह क्यों नहीं समझतीं कि समाज या परिवार में जहाँ भी बच्चे ज्यादा हैं, वहाँ घृणा का पात्र पुरुष है, न कि स्त्री। पुरुष जघन्य है, स्त्री तो बलि का बकरा है। सोचना चाहिए कि पुरुष ने नहीं चाहा तो स्त्री ने कहाँ से बच्चे पैदा कर लिए? जहाँ लगभग आधी स्त्रियाँ निरक्षर भट्टाचार्य हैं, वहाँ क्या उन्होंने क्लोनिंग से बच्चे जनमा लिए इतने सारे? बिना पुरुष सहयोग से क्लोनिंग से तो केवल बच्चियाँ पैदा हो

सकती हैं, तो लिंगानुपात में लड़की का ग्राफ गिरते क्यों गया है? भारत जैसे देशों में जनाधिक्य का दोषी पुरुष है—इस प्रत्यक्ष तथ्य को भी सिद्ध करने के लिए तर्कों के इतने दुरुह पापड़ बेलने पड़ेंगे? मगर सरकार है कि इसके लिए पुरुष लिंग को संयम का पाठ पढ़ाने की जगह, कृत्रिम विधि से उसे बाधित करने की जगह स्त्री को ही बाध्य-दर-बाध्य करना ज्यादा पसन्द कर रही है। उसके अधिकतर निरोध-अभियानों का स्वरूप स्त्री-कोख को प्रयोगशाला बना देने पर उतारू है। इस विषम समाज में स्त्री पर वैसे ही इतने बोझ लदे हैं—धर्म-परम्परा, भारी-भरकम लद-फद पोशाक, बाल, सिन्दूर, पतिव्रत, सतीत्व (योनि-शुचिता?) व्रत-त्यौहार, घरेलू कामकाज, पति की यौन-तुष्टि तथा वंश-वृद्धि; उस पर एक नया बोझ। जन्म-निरोध के लिए मुख्य बोझ/जिम्मेवारी स्त्री निभाए। सवाल है—क्यों निभाए? जब प्रजनन या जनवृद्धि पुरुष की निर्मर्याद अंधी हवस का नतीजा है अथवा पुत्र मोह में स्त्री को बार-बार प्रजनन में डाला और गर्भपात झेलवाया जाता है—तब इस स्थिति में स्त्री को निरोधोपायों का बोझ ढोने को क्यों कहा जा रहा है? उस पर भी ऐसे उपायों का निरन्तर थोपा जाना, जो उसकी देह के लिए हिंसक हैं। डायफ्राम और सर्वाइकल कैप जैसे उपभोक्ता-नियन्त्रित, सुरक्षित उपायों से हटकर अब जोर दिया जा रहा है खतरनाक गर्भ निरोधकों पर, जो दीर्घकाल तक प्रभावी रहते हैं। या, फिर साइडइफेक्ट-युक्त (यद्यपि हर प्रचार में साइडइफेक्ट की किसी आशंका को नकार दिया जाता है) हार्मोनल गोलियों के नियमित खाने पर जोर दिया जाता है। औरतों की नसबन्दी का प्रोत्साहन भी एक और उपाय है, जिसका कुल गर्भ-निरोधकों में हिस्सा 71 प्रतिशत है। इसके ऊपर गर्भपात भी एक उपाय के रूप में स्वीकृत है। यहाँ सवाल बना ही रहता है कि स्त्री ये सब क्यों सहे? स्थायी रूप से बन्ध्या (प्रजनन-शक्तिहीन) बन जाए, क्यों? क्यों गर्भपात की पीड़ा झेलने की नौबत आने देने के लिए मानसिक रूप से तैयार रहे? क्यों माला-डी आदि गोलियों का कोर्स पूरा करती रहे? क्या यह सब उसके व्यक्तित्व विकास या कैरियर बनाने हेतु किसी कोर्स या सिलेबस को कवर कराता है? क्यों ये बेस्वाद (ज़हरीली?) गोलियाँ उलटी के डर के बीच प्रतिदिन फाँकती रहे? अथवा कुछ नहीं तो बहुत सरल उपाय डायफ्राम ही क्यों लगाती रहे? क्या इससे स्त्री का कोई सुख-मार्ग प्रशस्त होता है या उसे प्रशस्त करने के लिए (गर्भ के डर से मुक्त रखकर यौन-सुख में समान रूप से भागीदार बनाने हेतु) यह सब स्त्री से करवाया जा रहा है? बिलकुल नहीं। इस पूरे ड्रामे के पीछे यह स्वीकृति छिपी है कि पुरुष का भोगाधिकार अक्षुण्ण बना रहे। पुरुष बिना बच्चे का अतिरिक्त संकट उठाए, स्त्री का सम्भोग-सुख पाते रहे। पुरुष नसबन्दी NSV स्त्री नसबन्दी की तुलना में बेहद आसान व दुष्प्रभाव रहित है, बिना विशेष चीरफाड़ व बेडरेस्ट की यातना सहे यह हो जाता है। परन्तु 'मर्दानगी' के भ्रामक जाल में उलझे होने के कारण पुरुष नसबन्दी कराना अपनी हेठी समझते हैं और इतिहास ने हमें समझाया है कि बिना बाध्य किए वे करवाएँगे भी नहीं। हर तरह से संतुष्ट अपनी पत्नी को ही बाध्य कर देते हैं बन्ध्याकरण के लिए। स्वयं कुछ नहीं करना चाहते। यहाँ तक कि कंडोम के इतने प्रचार

और जल-स्रोत से भी अधिक उसकी उपलब्धता के बावजूद उसका इस्तेमाल ('मजा बिगड़ न जाए' के सोचवश?) करना नहीं चाहते। 'इंडिया टुडे सेक्स सर्वे 2006' के मुताबिक सिर्फ 53 प्रतिशत पुरुष कंडोम के पक्ष में हैं। सही में अपनाते कितने हैं? 'भारतीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण' के तीन चक्रों के अनुसार कंडोम का परिवार-नियोजन के अन्तर्गत प्रयोग प्रतिशत क्रमशः 2.4, 3.1 5.3 हैं। वह भी तब यह स्थिति है जब महामारी 'एड्स' का सुरसा-मुख क्रमशः फैलते जा रहा है। ऐसे भोगोन्मादी, संवेदना-शून्य पुरुषों ने अपनी प्रेमिकाओं-पत्नियों या यौन-साथिनों को एड्स रूपी मौत का तोहफा देने का सिलसिला जारी रखा है। याद कीजिए 'फिर मिलेंगे' फिल्म की बेचारी शिल्पा शेट्टी को। विवेकशून्य प्रेमी सलमान खान ने उसे 'एच.आई.वी. पॉजिटिव' के रूप में प्रेम का परम निगेटिव उपहार दे दिया था। स्त्रियाँ मर्दों की अन्धी हवस की आग में (वेश्यावृत्ति व विवाह संस्था, दोनों जगहों पर) जल ही रही नहीं हैं, जलकर सती भी हो रही हैं। आज सरकारी नीतियों की ढिलाई या भटकाव से और भी नए-नए रूपों के साथ सती हो रही हैं—होती रहेंगी। जय हो सती मैया की!

जनाधिक्य पर लगाम कसने के लिए प्रचलित-प्रचारित निरोधोपाय, दोषपूर्ण सामाजिक संरचना के प्रति नासमझ सरकारी नीतियों के कारण मर्द के काम-सुख को अबाध बनाए रखने के लिए, स्त्री की कोख पर नियन्त्रण या उसकी देह की लय के साथ हिंसक छेड़छाड़ के रूप में ढल चुके हैं। इस परिणाम के पीछे गर्भ-निरोधकों की स्त्री-विरोधी प्रौद्योगिकी भी जिम्मेवार है। आज सरकारी प्रचार-माध्यमों से प्रवचन कराते हुए स्त्रियों को 'आधुनिक पतिभक्ता' की दीक्षा दी जा रही है—समर्पित भाव से रोज 1-1 गोली का सेवन करने का उपदेश, ताकि पति-परमेश्वर निष्कण्टक होकर अपनी-अपनी दासियों का सेवन कर सकें। दासियाँ क्या करें बिचारी? पति तो सेवन करेंगे ही चाहे उसकी चाह हो या न हो। तो, गर्भ लदने से स्वयं को बचाए रखते हेतु तो गोलियाँ गटकनी ही होंगी न। चाहे पति देवता में दिलीन होते-होते उनका निज का नाम भूल जाए, पर रोज एक गोली निगलना न भूलना है। धन्य नारी! धन्य! बच्चों का भार उठाने से आशंकित विवाहित मर्द पहले पत्नी को भोगने में कुछ संयम भी कर लेते थे (विवाह सीमा से बाहर के मर्द तो तब भी छुट्टे सांड थे या विवाहेतर स्त्री-भोग को प्रस्तुत मर्द तब भी यायावर थे); लेकिन आज तो (स्त्री-निरपेक्ष) विज्ञान को हाथ में लेकर हमारी प्रजातांत्रिक सरकार ने उन्हें फिर से छुट्टा सांड बना दिया है। चर लो चाहे जिस खेत को चाहो (स्त्री को उनके धर्मशास्त्र ने क्षेत्र=खेत कहा ही है)। भोग लो बहादुरो! वीरभोग्या वसुन्धरा!

गर्भ-निरोधक के विविध चित्र और स्त्री-विरोधी चरित्र

जनसंख्या नीति के तहत जिन आधुनिक गर्भ निरोधकों का प्रचार-प्रसार किया जा रहा है—वे मोटे तौर पर चार वर्गों में रखे जा सकते हैं :

(क) यांत्रिक : इसके अन्तर्गत पुरुष के लिए सिर्फ कंडोम आता है। स्त्री के लिए

सर्वाइकल कैप (गर्भाशय ग्रीवा टोपी), डायफ्राम (पैसरी), कंडोम (अब स्त्री के लिए भी आ गए हैं) तथा आई.यू.डी. (इंट्रा यूटेरिन डिवाइस) आते हैं। डायफ्राम रबर की कटोरी जैसा होता है जो गर्भाशय ग्रीवा पर लगाया जाता है। कैप की भी यही स्थिति है। इसके अलावा, स्त्री-कंडोम भी बन गया है। यह 17 सेमी. लम्बा पॉलीयुरेथीन थैले जैसा होता है, जिसके दोनों छोरों पर छल्ला होता है। छोटा छल्ला गर्भाशय ग्रीवा (सर्विक्स) पर बैठाया जाता है, दूसरा (बड़ा) छल्ला योनि के बाहर लटका हुआ होता है, जिससे यन्त्र पूरी तरह से योनि में समा नहीं जाता। इस कंडोम के अन्दरूनी हिस्से में चिकनाहट पैदा करनेवाला पदार्थ सिलिकॉन लुब्रीकेंट लगा होता है। आई.यू.डी. के अन्तर्गत लूप व कॉपर टी आते हैं। लूप प्लास्टिक का बना डबल 'S' आकार का होता है तथा कॉपर टी (ताम्बी) प्लास्टिक का बना 'T' आकार का यन्त्र होता है, जिस पर तांबे के बारीक तार लपेटे होते हैं। आजकल 'T' ही ज्यादा प्रचलित है। कम से कम एक बार प्रसव कर चुकी स्त्री यह लगवा सकती है। हर 3 साल पर इसे बदलवाना होता है। यौन जीवन में नई-नई उतरी स्त्री इसे लगवाए तो उसकी श्रोणी (पेड़) में सूजन भी हो सकती है। कॉपर टी को गर्भाशय में डालने पर उसकी दीवारों से प्रचुर मात्रा में म्यूकस निकलते हैं, जिससे भ्रूण गर्भाशय की दीवारों पर आरोपित नहीं हो पाता। कॉपर टी एवं लूप डॉक्टर या नर्स ही लगा सकते हैं। इसके प्रयोग में परेशानियाँ बनी रह सकती हैं—श्रोणी में इन्फेक्शन, पेट में ऐंठन, गर्भाशय रसौली, गर्भाशय ग्रीवा में सूजन, रक्ताल्पता, रजः स्राव का कुछ दौर भारी होना आदि। फिर इसके साथ कॉपर टी के खिसकने की आशंका भी बनी रहती है। यदि कॉपर टी खिसक गया तो गर्भ प्रायः ठहर ही जाता है। इसलिए 'T' की वार्षिक जाँच जरूरी हो जाती है। प्रसव के तुरन्त बाद भी कॉपर टी लगवा सकते हैं।

(ख) रासायनिक : यह प्रयोग सिर्फ स्त्री के लिए है। इसके अन्तर्गत, शुक्राणुनाशक टेब्यूल्ट्स, कुछ क्रीम, टैबलेट, वर्तिका (Suppositories) आदि आते हैं। स्पर्मिसाइडल रसायन, सम्भोग पूर्व गर्भाशय ग्रीवा (सर्विक्स) के निकट लगा देने से स्खलित वीर्य के शुक्राणुओं का नाश कर देता है। गर्भ निरोधक वर्तिका को रति क्रिया के न्यूनतम 5 मिनट पूर्व योनि में रखने से 1 घंटे तक प्रभावी रहती है तथा शुक्राणुओं का नाश करती है। वैजाइनल टैबलेट सम्भोग पूर्व योनि की गहराई में रख देने से वहीं पिघलकर फैल जाते हैं तथा शुक्राणु नाश करते हैं। इसी तरह फोम टैबलेट (झागदर गोली) भी होता है, जो झाग पैदा करता है। इस आवरण से शुक्राणु को प्रवेश करना मुश्किल हो जाता है और वह नष्ट हो जाता है। शुक्राणुनाशक क्रीम या जैली एप्लीकेटर के जरिए योनि में प्रविष्ट कराई जाती है। इन सारे रसायनों को पहले से लगे डायफ्राम (या कंडोम) पर लगा देने से उसका असर बढ़ जाता है। मधुमेह या रक्तचाप ग्रस्त स्त्री के लिए भी ये उपयुक्त हैं, पर योनि-संक्रमण होने पर अनुपयुक्त हैं।

(ग) हार्मोनल : ऐसा प्रयोग भी केवल स्त्री पर होता है। विविध हार्मोनो से बनीं, माला-एन, माला-डी जैसी गोलियाँ नियमित रूप से खाने या हार्मोनयुक्त सुइयाँ (नेट एन

और डेपो प्रोवेरा) लगवाने से स्त्री का डिम्बक्षरण रुक जाता है—बिना मासिक स्राव प्रभावित हुए। गोलियों का इस्तेमाल 35 से कम उम्र की सामान्य स्त्री (यानी, माइग्रेन, पीलिया, दमा, मिर्गी, रक्तचाप, हृदय रोग, स्तन/जननांग का कैंसर, जिगर का रोग, योनि से खून-स्राव आदि रोगों से रहित) कर सकती है। प्रतिदिन 1 गोली लेनी होती है और यदि किसी दिन भूल जाए तो अगले दिन दो लेनी पड़ती हैं—एक सुबह, दूसरी शाम (यानी रात सोते समय)। परन्तु, गोली का इस्तेमाल स्तनपान करा रही महिला को नहीं करना चाहिए अन्यथा दूध सूख सकता है और इससे वक्ष में पीड़ा महसूस हो सकती है। गोली से ऋतुकाल भी अनियमित हो सकता है तथा पहले से विद्यमान होने पर कैंसर बढ़ सकता है।

यान्त्रिक व रासायनिक-हार्मोनल उपायों के अन्तर्गत आपातकालीन गर्भ-निरोधक भी हैं। कुछ गोलियाँ हैं जो सम्भोग या बलात्कार के 48-72 घंटों के भीतर, फिर ठीक 12 घंटों पर अगली गोली लेने पर गर्भाधान टल जाता है। इनसे डिम्बक्षरण या अंडों का उर्वरण/उत्प्रेरण (तथाकथित निषेचन) रुक जाता है, अतः स्त्री गर्भ बोझ ढोने से बच जाती है। ऐसी गोलियों में माला डी भी इस्तेमाल हो सकती है या ओवराल एल, मार्निंग आफ्टर पिल, नारलेवा भी हैं। इनके अलावा, मिफेप्रिस्टो (600 मि.ग्रा.), लिवोनोरजेस्ट्रेल (0.75 मि.ग्रा.), डानाजोल (400-800 मि.ग्रा.) और युज़पे (इथीनाइल एस्ट्राडायल 100 माइक्रोग्राम+लिवोनोरजेस्ट्रेल 0.5 मि.ग्रा. के मिश्रण से बनी गोली) जैसी ज्यादा प्रभावशाली गोलियाँ हैं। युज़पे की दो गोलियाँ सम्भोग या बलात्कार के 72 घंटों के भीतर स्त्री को लेनी पड़ती हैं, फिर 12 घंटों पर दो और गोलियाँ लेनी होती हैं। लिवोनोरजेस्ट्रेल टैबलेट भी एक साथ दो या 12-12 घंटों पर एक-एक लेने से गर्भ ठहरने की आशंका 90 प्रतिशत टल जाती है। गोली खाने के 2 घंटों के भीतर उलटी आ जाए तो 1 गोली और लेनी चाहिए। 2 घंटों के बाद उलटी आए तो कोई बात नहीं है।

यान्त्रिक उपायों के अन्तर्गत भी आपातकालीन निरोधक है—सम्भोग/बलात्कार या डिम्बक्षरण के 5 दिनों के भीतर तक कॉपर टी लगवा लेने से भी गर्भ-संकट टल जाता है पर जितना ही जल्दी किया जाए, उतना ही बेहतर है।

ये सारे उपाय गर्भाधान को टालने या दो गर्भाधानों के बीच अन्तर रखने के हैं। स्थायी रूप से गर्भ-निरोध सर्जिकल उपाय से ही सम्भव है।

(घ) सर्जिकल : इसके अन्तर्गत पुरुष के लिए नसबन्दी 'Vasectomy' तथा स्त्री के लिए नसबन्दी 'Tubectomy' है। Vasectomy के अन्तर्गत पुरुष के अंडकोष के दोनों ओर 1-1 सेमी. (गेहूँ के दाने सा) चीरा लगाकर, शुक्रवाहिनी नली को प्राप्त करते हैं—फिर उसे बीच में काटकर छोरों को बाँध देते हैं। इससे शुक्राणु का निकलना रुक जाता है और वह शुक्राशय में ही समंजित (विलीन) हो जाता है। फिर कभी वीर्य में उसकी मौजूदगी नहीं दिखती। पर Vasectomy के बाद पुरुष को पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, बल्कि 3 मास तक वीर्य जाँच कराते रहना चाहिए। शुक्राणु यदि आना

बन्द हो जाए, तभी जाकर सन्तुष्ट होना चाहिए। अतः इस अवधि के दौरान यौन-क्रिया करनी हो तो वैकल्पिक गर्भ-निरोधक अपनाते रहना चाहिए। Vasectomy में सिर्फ 15-20 मिनट लगते हैं और पुरुष को बेडरेस्ट की भी जरूरत नहीं पड़ती। स्त्री की नसबन्दी में पेट चीरकर या योनि के रास्ते डिम्बवाही नली (फैलेपियन ट्यूब) पाते हैं तथा उसे बीच में काटकर बाँध देते हैं। इससे डिम्बक्षरण पूरी तरह तत्काल रुक जाता है और डिम्बकोष में ही वह समंजित हो जाता है। इस ऑपरेशन के बाद तत्काल गर्भाधान की आशंका समाप्त हो जाती है। स्पष्टतः पुरुष नसबन्दी की तुलना में यह तकलीफदेह व समय-साध्य है। बेडरेस्ट व भारी कामों से निजात भी कई दिनों तक जरूरी रहती है। Tubectomy प्राकृतिक प्रसव के 48 घंटों के भीतर भी कराई जा सकती है। सीजेरियन ऑपरेशन से प्रसव कराया जा रहा हो तो, उसी समय Tubectomy करा लेने से दुबारा पेट फाड़ने या अतिरिक्त बेडरेस्ट के झंझट से स्त्री बच सकती है। आजकल लेप्रोस्कोपिक स्टरलाइजेशन विधि के प्रयोग ने Tubectomy को आसान बना दिया है कुछ। तब ½ इंच मात्र का चीरा लगाने से काम चल जाता है, बहुत कम समय लगता है तथा 3-4 दिन बाद स्त्री स्वस्थ हो सकती है।

इसके अलावा सर्जिकल विधि से आपातकालीन उपाय भी हैं—गर्भ ठहर जाने के बाद। स्त्री के लिए एम.टी.पी (Medical Termination of Pregnancy) या गर्भ का चिकित्सकीय समापन; जिसके लिए प्रचलित शब्द गर्भपात (भ्रूण-हत्या) है, ऐसा उपाय है। 1972 ई. में पारित भारतीय सरकार के 'MTP एक्ट (1971)' के अनुसार अधिक से अधिक 20 सप्ताह तक के गर्भ को, कुछ उपबन्धों के तहत, स्त्री चिकित्सकीय विधि से समाप्त करा सकती है। गर्भपात की एक और विधि है—42 या कम दिनों के गर्भ को 'केन्यूला' और 'सिरिंज' लगा के खींच लिया जाना। गर्भावस्था के 7 हफ्तों तक का गर्भपात माइफेप्रिस्टोन (यू-466) नामक गोली खाने से भी हो सकता है—कुछ दिनों तक के रक्तस्राव व रिसाव द्वारा। इसे 'औरत की आजादी की गोली' भी कहते हैं। पर ध्यातव्य है कि यह शब्द उसी स्थिति में सार्थक है जब बलात्कार के कारण स्त्री गर्भ भार से ग्रस्त हो चुकी हो। लेकिन, यदि स्त्री पति की भोगेच्छा को निष्कण्टक (बच्चे का भार उठाने के संकट से रहित) बनाए रखने या उसकी पुत्रेच्छा के तहत गर्भपात करने हेतु यह गोली खा रही है—तो यह आजादी की जगह, स्त्री की घोर गुलामी (पितृसत्तात्मक मानसिकता) की गोली होगी।

इन आधुनिक विधियों के अतिरिक्त परम्परागत या देशी तरीकों से भी गर्भ-निरोध, गर्भस्राव व गर्भपात हेतु प्रयास प्राचीन काल से ही होते रहे हैं। इनमें से कुछ तरीके तो स्त्री-देह के साथ भीषण कसाईगिरी वाले भी हैं। जैसे—गर्भवती स्त्री से भारी बोझ उठवाकर या उसके साथ जोर-जबरदस्ती करके भी गर्भ गिराने की कोशिशें होती रही हैं। गर्भ गिराने हेतु स्त्री की योनि के रास्ते भीतर कंटीली पत्तियाँ, सुइयाँ, पिन, तार, सलाई, पेंसिल, रबर-नली आदि तरह-तरह की चीजें डालने की खतरनाक कोशिशें भी की जाती हैं। साथ में 'दीक्षा' फिल्म की तरह यमराजी कृत्य। पेट पर कुछ

लेप लगाकर जलता दीपक रख देना। फिर उसे एक पात्र से ढंक देना। पात्र स्त्री के पेट पर बुरी तरह चिपक जाता है। फिर उसे शायद खींचकर गर्भ पर जोर पैदा करना। गर्भ अपनी जगह से जैसे-जैसे उखड़ता है—स्त्री की चीख पूरी फिल्म में छा जाती है। आज अनाड़ी डॉक्टर सीरिज में साबुन या डेटाल घोल भरकर भी योनि में डूश देते हैं। पुरुष का हवस निष्कण्टक बनाए रखने हेतु (अथवा कभी-कभी बेचारी स्त्री को गर्भ झेलने की मजबूरी से मुक्ति देने हेतु) गर्भ-मुक्ति की चाह भी आदिम (?) लगती है। चीन सम्राट श्येन नंग (ई.पू. 27वीं शती) ने लिखा था कि पारा देने से गर्भवती का गर्भपात हो सकता है। आयुर्वेद ही नहीं, कामशास्त्रीय ग्रन्थों में भी ऐसी जड़ी-बूटियों, तेलों, रेचक औषधियों व रसायनों (कुनैन, लाल पोटायस, तारपीन तेल आदि) का उल्लेख रहा है, जिन्हें सम्भोग पूर्व योनि में लगाने या सम्भोग के बाद खाने से गर्भ-निरोध का कार्य करते हैं। कामशास्त्रीय पुस्तक 'अनंग-रंग' (कल्याण मल्ल रचित) के 6/74-77 श्लोकों में ऐसी औषधियों की चर्चा है। आयुर्वेद में स्त्री के बन्ध्याकरण के उपाय भी कहे गए हैं। इसके सिवा, अन्धविश्वास के पिटारे ज्योतिष में भी गर्भाधान टालने हेतु सम्भोग के कुछ मुहूर्त बताए गए हैं। प्राचीन ग्रीस में निरोधार्थ मरहम, दवा, तेल, जड़ी-बूटी; मिस्र में गोन्द, शहद, पशु विशेष का मल आदि उपाय सुझाए जाते थे। जापान में गर्भाशय का मुँह बन्द करने हेतु थैली किस्म की चीजें काम में लाई जाती थीं। इनके अलावा धर्म के चोले में शिशु-हत्या (विशेषतः बच्ची की) भी होती रही है, जैसे—प्राचीन मिस्र में या प्रयाग में नदी में डुबा कर शिशु-हत्या प्राचीन काल से संसार में सर्वत्र प्रचलित रही है—खासकर बच्चियों की हत्या। अरब, यहूदी, बेबीलोनियाई, मिस्री, सीरियाई, फीनिशियन, यूनानी, रोमन, भारतीय सब प्राचीन समय से ही यह कुकृत्य करते आ रहे हैं। यहाँ तक लोग नौबत आने देते हैं, पर देशी विधि से भी 'संयम' का तरीका नहीं अपना सकते थे? माहवारी होने के 11वें से 17वें दिन तक गर्भाधान की सम्भाना होती है। इन्हें छोड़कर भी तो हवस-पूर्ति (पुरुष) कर सकते थे। (इसके सिवा, प्रसवोपरान्त नियमित 8-10 बार स्तनपान करानेवाली महिला के गर्भाधान की आशंका भी 98 प्रतिशत समाप्त हो जाती है, तब जब 6 मास तक माहवारी न आ रही हो)। पर, यही हुआ रहता तो रोना काहे को था?

उपर्युक्त तमाम गर्भ-निरोधोपाय—चाहे आधुनिक हों या प्राचीन—उनका विश्लेषण करने पर जो तस्वीर उभरती है, वह निश्चित रूप से पुरुष के प्रति सहिष्णु, पर स्त्री को अकारण दंडित करनेवाली है। जैसे—

(i) इनमें से अधिकतर साधन स्त्री की कोख या शरीर पर प्रयुक्त किए जाते हैं, मानो वही जनवृद्धि की मुख्य जिम्मेदार हो। पुरुष के लिए जो थोड़े से साधन बनाए भी गए, पितृसत्तात्मक वातावरण की शह पाकर, उनके झंझट में पड़ने से वह बच जाता है—जबकि जनवृद्धि का मुख्य जिम्मेवार वही है।

(ii) स्त्री पर थोपे गए साधन अधिक कष्टकर व समय-साध्य हैं। गोली से

उलटी, मिचली, वजन-वृद्धि, आगे की माहवारी अनियमित होना, वक्ष में पीड़ा अथवा पहले से मौजूद कैंसर आदि रोगों का बढ़ जाना तो होता ही है; बल्कि कई बार गोली की विफलता की स्थिति में गर्भस्थ भ्रूण का विकृत हो जाना भी एक बड़ी समस्या के रूप में है। इतना तो साफ है कि हर गोली के साथ कुछ न कुछ विफलता सम्भावित है ही। कॉपर टी आदि तो श्रोणी (पेड़) में सूजन, जननांगों में ऐंठन, संक्रमण व रतिज रोगों का खतरा भी साथ लाते हैं। NFHS II के अनुसार 20.6 प्रतिशत स्त्रियों ने परिवार-नियोजन की इन विधियों में साइडइफेक्ट की शिकायत की।

- (iii) स्त्री की स्थायी नसबन्दी भी पुरुष नसबन्दी से अधिक चीरफाड़ या बेडरेस्ट की मोहताज है। गर्भपात तो खैर, स्त्री को असह्य यन्त्रणा में डालने का ही नाम है। NFHS II के अनुसार 21.9 प्रतिशत स्त्रियों ने नसबन्दी से साइडइफेक्ट की शिकायत की।
- (iv) सरकारी तौर पर हार्मोनल सुइयाँ या अन्तःगर्भाशय यन्त्र IUD जैसे उपाय आदर्श माने जाते हैं, क्योंकि इन पर प्रदानकर्ता (चिकित्सक, सरकार) का नियन्त्रण रहता है। इसका अर्थ क्या निकला? सरकार स्त्रियों को भरोसे के लायक नहीं मानती—गोली खाना याद रखेगी कि नहीं, डायफ्राम/कंडोम लगाएगी कि नहीं—संदिग्ध है उसकी निगाह में। साथ ही उक्त उपाय स्त्री पर लाद देने से, पुरुष को कंडोम लगाने के लिए राजी करना भी जरूरी नहीं रह जाता। उसे छूट सी दिए रहो ताकि उसका मज़ा किरकिरा न हो जाए!
- (v) इसके अलावा हार्मोनल गर्भनिरोधक बनानेवाली कम्पनियों तथा परिवार-नियोजन एजेंसियों के बीच गठजोड़ भी हो सकता है ताकि डायफ्राम व कैप जैसे सस्ते, अहिंसक उपाय इस देश में उपलब्ध ही न रहें—यह सुनिश्चित हो जाए।
- (vi) स्त्री की कोख या दैहिक दिनचर्या को लक्ष्य बनाकर गर्भ-निरोधकों के क्षेत्र में अनुसन्धान प्रायः होते रहे हैं और संकेत हैं कि आगे भी होते रहेंगे। ऐसी गोलियाँ या सुइयाँ क्यों न खोजी गईं, जो पुरुष के शुक्राणु-क्षरण को रोकें या उसकी देह में शुक्राणु का नाश कर दें?

स्त्री निरपराध, पर वही पाती दंड अबाध

सरकार का परिवार-नियोजन रुख यदि स्त्री को कसने या अकारण दंडित करने का है तो उस पितृसत्तात्मक समाज के अनुरूप ही है जिसने स्त्री को बराबर उस 'अपराध' (?) का दंड दिया है, जो उसने किया ही नहीं और वह 'अपराध' भी 'अपराध' है ही नहीं वस्तुतः। खुद उसके विमर्श से भी कई बार स्त्री दोषी नहीं ठहरती, लेकिन दंडित की जाती है वही। पुरुष को बीज-दाता, स्त्री को क्षेत्र (खेत)

तथा सम्भोग-क्रिया को पुरुष द्वारा स्त्री की जुताई या हल चलाने के रूप में उसका परम्परागत दर्शन रहा है—शास्त्रीय स्तर पर भी, सामाजिक स्तर पर भी। विज्ञान की इतनी प्रगति के बावजूद किसी आदिम युग में गढ़ा गया यह मिथक आज भी लोकचित्त को चला रहा है। स्त्री को हर जगह जड़ साधन बनाकर उसे अधिकारों से बेदखल और छीना-झपटी का सामान, दान-वस्तु आदि बनाकर नाना प्रकार की गुलामियों में डालनेवाला यही दर्शन है—‘बीज’ व ‘क्षेत्र’ का। समाज में जेंडर (सांस्कृतिक लिंग) का मूल स्रोत यही दर्शन है। खैर! इस दर्शन के पाखंड को तो विशेष आगे खोलेंगे। यहाँ सिर्फ इतना ध्यान दिला दें कि यदि यह दर्शन भी मान्य होता अन्तरात्मा से, तो समाज के ठेकेदार सोचते—फसल (बच्चे) न होने, ज्यादा या कम होने अथवा विकृत (बेटी) होने का जिम्मेवार बीजदाता या हल चलानेवाला कृषक (पुरुष) है, न कि बेचारा जड़-निष्क्रिय क्षेत्र (स्त्री)। शायद इसी सोच के तहत हस्तिदिक यहूदी समुदाय में बेटी होने पर बाप को कोड़ों से पीटा जाता था; माँ को दंड नहीं दिया जाता था। स्त्रीद्रोही दर्शन पर आधारित यह कर्म अमानवीय तो था, पर उस दर्शन के तर्क-संगत था। पर ऐसा आम प्रचलन न था या न रहा। स्त्री दंडित होती रही प्रायः। जड़ तो दंडनीय नहीं होता—दोष चेतन का होता है। तो फिर, सन्तान या बेटा न होने पर पुरुष एक स्त्री को छोड़, दूसरी को इसके लिए विवाह के जरिए, क्यों पाते रहे (या, सन्तान भी बहाना थी, विवाह की बात अहम थी; फिर विवाह भी बहाना था, उद्देश्य कुछ और था)? पुत्र न पैदा कर पाना कोई अपराध नहीं है, क्योंकि प्रकृति की दृष्टि में जैसा बेटा—वैसी बेटी! समान जनन-प्रक्रिया है (एक बूंद—एकै मलमुत्तर एक चाम एक गूदा। एक ज्योति से सब उपजानी...); समान भूमिका है संसार के लिए दोनों की। पर इसके लिए मर्द औरत को बराबर दंडित करता रहा है—कभी तानों से छलनी कर, कभी त्याग कर तो कभी उसके सिर पर एक सौत थोपकर (और फिर उस ‘सौत’ के रूप में एक अन्य स्त्री को सन्तान जनने की या यौन-मशीन बनाकर) अथवा उसे कठिन व्रतोपवास, स्नान, अन्धविश्वास-जनित टोटके या ओझाओं को उसकी देह पर लादकर, जिसमें हर तरह से उस देह की दुर्गतियाँ होती रही। भले यह जीव-वैज्ञानिक तथ्य उसे पता न रहा होगा कि बेटा बनानेवाला गुणसूत्र y मर्द के बीजांश (शुक्राणु) से आता है, पर ‘सन्तान का बीज पुरुष के पास है’—उसके इसी भ्रान्त ज्ञान से स्त्री की जगह खुद ही पुत्र या सन्तान न जनम पाने का अपराधी ठहरता है। फिर, ज्यादा सन्तानों के जनमने का कारण भी वही ठहरता है, बीजदाता जो है। पर, दोनों ही स्थितियों में स्त्री-देह के साथ बर्बरता की जाती रही। वाह रे सामाजिक न्याय! अपराध (यदि ‘है’ तो) कोई और करे, दंड-यातना पाए कोई और। मजा यह कि अपराधी ही दंड देने चला है, उस बेकसूर (स्त्री) को जिसके प्रति उसने अपराध किया है। हमारी सरकार या जनसंख्या नियन्त्रण से जुड़ी प्रौद्योगिकी ने इसी पितृसत्तात्मक व्यवस्था से प्रेरणा ग्रहण की है क्या? बेकसूर स्त्री पर सारे निरोध कार्यक्रम, दवा-सुई, ऑपरेशन-यन्त्रादि

का बोझ थोप दिया गया तथा उसकी देह को जन्म-निरोध 'के अनुसन्धानों की प्रयोगशाला बनाने के लिए अनन्तकालीन पेटेंट करा लिया गया है। क्या सिर्फ इसलिए कि स्त्री जनवृद्धि का माध्यम बनने के लिए क्यों तैयार हुई? क्या वह शौक से तैयार हुई है? क्या ऐसा करने से उसे बड़ा सुख है? यह सब क्यों नहीं सोचा जाता?

अध्याय-3

माँ बनाने की सांस्कृतिक मर्दानगी से संतुष्ट स्त्री

देह की जेल में गर्भ को झेल

नारी को भी प्रकृति उसी प्रक्रिया से पैदा करती है, जिस प्रक्रिया से पुरुष को जन्म देती है। उतनी ही सम्भावनाशील रखकर प्रकृति उसे संसार में लाती है, जितनी सम्भावना पुरुष के साथ रखती है। तो स्वाभाविक यही है कि वह भी पुरुष की तरह ही तन व मन की दुनिया में समर्थ हो तथा कर्म-भोग-त्याग में समान रूप से भागीदार हो। पर ऐसा हो नहीं पाता, तो कारण है दोषपूर्ण सामाजिक संरचना। उसके तहत वह जन्म लेते ही भेदभाव की शिकार हो जाती है (आज तो जन्मपूर्व, गर्भ में ही शिकार हैं)। लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा सब में पुरुष से हीनतर बनाकर रखी जाती है। उसके तन-मन की समस्त सम्भावनाएँ अबलाकरण की क्रमिक प्रक्रियाओं में ठेल दी जाती हैं। प्रायोजित कुशिक्षाओं द्वारा उसे 'देह' मात्र में सिमटने को मजबूर कर दिया जाता है तथा उस देह को भी स्वस्थ-सबल रूप में विकसित होने नहीं दिया जाता है। कारण—सहज प्राप्त नैसर्गिक सुविधाओं (हवा-पानी, धूप, चलना-घूमना, खान-पान आदि) से पग-पग पर वंचित करना। साथ ही, उस देह को अपने तरीके से काटने-छाँटने, ढँकने-उघाड़ने का सिलसिला बनाए रखा जाता है। उद्देश्य होता है—उसे स्वतन्त्र नहीं होने देना, 'व्यक्ति' बनने से रोकना। उसे बचपन से ही पुरुष द्वारा शासित होने के लिए तैयार किया जाता है। उद्देश्य होता है इन सबका—पुरुष के सुख के लिए उसे साधन रूप में बनाए रखना, पुरुष के हित की दृष्टि से बने मान-मूल्यों को बचाए रखने के लिए (देह मात्र में उसे कैद कर) उसकी देह को साधन बनाए रखना। सभी धार्मिक परम्पराओं में उसे घरेलू बनाकर, जन्म से मरण तक, किसी न किसी पुरुष की अधीनता में बने रहने को आदर्श मूल्य के रूप में रखा गया है। मनुस्मृति (9/3), वसिष्ठ स्मृति (5/1/3) का श्लोक है—

“पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।

रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः न स्त्री स्वातंत्र्यं महति।”

यानी, कौमार्य (विवाह होने तक) में पिता, (विवाह बाद) जवानी में पति तथा बुढ़ापे में पुत्र रक्षा करते हैं—स्त्री कभी स्वतन्त्र होने योग्य नहीं है। स्पष्टतः, 'रक्षा' करने का

अर्थ अधीन बनाए रखना है, क्योंकि आत्मनिर्भर होने में निरन्तर बाधा खड़ी कर स्त्री को पुरुषों का मोहताज बनाए रखा जाता है। गौतम स्मृति (18/1), वसिष्ठ धर्मसूत्र (5/1,3), मनुस्मृति (5/146-148) (9/2-3), बौधायन धर्मसूत्र (2/2/50-52), नारद स्मृति (दाय भाग, 31) आदि तमाम धर्मग्रन्थों ने घोषित किया है कि स्त्री सभी मामलों में पुरुष के आश्रित एवं परतन्त्र है, यहाँ तक कि जिस 'घर' में उसे ठेल दिया जाता है, उसके कार्यों में भी बिना पूछे, अपने मन से चलने को प्रतिबन्धित किया गया है। उसे दीन-हीन, अशिक्षित, परजीवी बनाकर समग्र विश्व से काटकर घर में कैद रखने को महान् संस्कृति का पर्याय समझा जाता है—जहाँ वह पति के लिए मुफ्त की नौकरानी, यौनदासी और बच्चे पैदा करने की मशीन भर बनकर रह जाती है। आदर्श पत्नी की परिभाषा ही यह है—

“कार्येदासी स्तौ वेश्या भोजने जननी समा
विपत्सु मंत्रिणी भर्तुः सा च भार्या पतिव्रता।”

(पद्म पुराण, सृष्टि खंड 47/56)

ऐसे श्लोकों को सिर्फ ऐतिहासिक दस्तावेज समझने की भूल न करनी चाहिए, बल्कि लोकतन्त्र के इस युग में भी यह एक पुष्ट सामाजिक यथार्थ है। पढ़ी-लिखी आत्मनिर्भर स्त्री से भी अपेक्षा की जाती है कि वह बस पति के लिए जिए, जैसा कि श्लोक में कहा गया। उक्त 'सूक्ति' (?) का व्याख्यात्मक अनुवाद करके, हिन्दू-संस्कृति की आइडियोलॉजी होने का दावा करनेवाला 'गीता प्रेस' ढंग से समझाता है कि पति के लिए नारी को क्या-क्या बनना चाहिए—

“परामर्श में है मंत्री सी, सेवा में नित दासी है।
भोजन में माता के सम है, शयन-समय रंभा सी है।।
धर्म-कर्म में सदा संगिनी, रोष सहिष्णु धरा सी है।
छह आदर्श गुणों से शोभित नारी पुण्य की राशी है।।”

(‘कल्याण-नारी’ अंक/पृष्ठ 151)

जब तक जीवन में 'पति' न आया (यानी न लाया गया हो), तब तक बाप-भाई और जब पति न रहे तो बेटे के लिए जीना, उन्हीं के मन-मुताबिक चलना स्त्री के लिए आदर्श है। कोई न हो तो समाज के सारे मर्द उसके बाप, भाई, पति हैं। स्त्री को दीन-दलित और पुरुष को सारी शक्तियों का अधिष्ठाता एवं हर सुख भोग का भागीदार बनाए रखने की विचारधारा को 'पितृसत्तात्मकता' कहते हैं। इसकी सीधी-सादी व्याख्या है—समाज के विधि-निषेध, कायदे-कानून, कार्य व भोग के क्षेत्र का विभाजन पुरुष के हित का ख्याल कर बनाने वाली विचारधारा; फिर नारी को उसी के अनुसार अनुशासित/शासित व परिभाषित करना तथा वह 'क्या करे' से आगे बढ़ कर 'क्या सोचे' तक को अपने अनुसार तय करना उस विचारधारा का मुख्य तत्त्व है। स्त्री को नियंत्रित करने की यह प्रक्रिया आचार-व्यवहार, बातचीत, हँसी-मजाक, सामाजिक सम्बन्ध निर्वाह, भोजन और स्वास्थ्य प्रक्रिया तक में चलाई जाती रही है। इस प्रकार

यह विचारधारा न सिर्फ स्त्री को पुरुष से भिन्नलिंगी एकदम अलग प्राणी करार देती है, बल्कि उसे पुरुष के सामने 'दोयम दर्जे का मनुष्य' (सेकेण्ड सेक्स) रूप में सदियों से स्थापित करते चली आ रही है। अपनी चाल को नारी पर प्रकट न होने देने के लिए 'अशिक्षा' व 'कुशिक्षा', दोनों हथियारों का वह सहारा लेती है तथा आकर्षक भाषा (जैसे—स्त्री 'देवी' है, 'माँ', है 'सुन्दर' है आदि) युक्त विविध माध्यमों से वह स्त्री को भरमाए, भटकाए व 'देह' में ही उसे उलझाए रखती है। किसलिए? व्यक्तित्व-विकास के लिए अवसर न खोज पाए। अपने प्रति किए जा रहे अन्यायों का स्त्री मन, जुबान या देह से प्रतिरोध न कर सके—इसकी भी व्यवस्था इस विचारधारा में कर रखी गई है—स्त्री को लज्जाशील, नतमुख बना-बताकर, वीरता व अभिव्यक्ति के स्रोत शिक्षण-प्रशिक्षण का द्वार बन्द कर और गृह-कार्यों का कमरतोड़ बोझ थोपकर ताकि आत्मचिन्तन का अवसर वह पा न सके।

शिक्षा व विकास के ढेर सारे द्वार आधुनिक समय में स्त्री के लिए खुल जाने के बाद भी स्थिति में ज्यादा परिवर्तन नहीं आ सका है तो कारण है—रोग पुराना है जो सांस्कृतिक मूल्य की तरह मन में बैठा हुआ है। स्त्री की शिक्षा की बात तो छोड़िए, साक्षरता का प्रतिशत 2001 की जनगणना के अनुसार 53.7 प्रतिशत भारतीय स्त्रियाँ साक्षर हैं, वहाँ भी गाँवों में 46.7 प्रतिशत ही। साढ़े छह लाख गाँव ही तो हैं भारत में। शहर-कस्बे मिलाकर तो साढ़े पाँच हजार ही हैं। अबलाकरण व अशिक्षा (या पितृसत्तात्मक कुशिक्षाओं) के कारण ही, भारतीय स्त्री को संविधान द्वारा अधिकारों व सुविधाओं में बिलकुल पुरुष के समान व्यक्ति बना देने की उसकी जारी यात्रा से कदम-ताल मिलाकर इस देश का स्त्री-समाज चल नहीं पा रहा है। यानी, इस देश के गाँव-कस्बों व शहरों के विशाल हिस्से में भी स्त्री पुरुष के सामने दीन-हीन, प्रताड़ित, पददलित तथा मर्द की दासी ही नहीं, बहुधा उसके पैर की जूती तक है। जूती की नियति क्या है? निरन्तर पैरों तले रहना और 'मालिक जब चाहे पहन ले, जब चाहे फेंक दे'—सब सहती रहना चुपचाप। लात-घूँसे सब कुछ सहती जाना चुपचाप और आदर्श माँ, बहन, बेटी व पत्नी बनी रहने की कोशिश में—भय के साए में सहमकर, घुट-घुटकर जीना। एक पशु का जीवन जीना, जिस पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कई रस्सियाँ बँधी और कई लाठियाँ तनी हुई हैं—धर्म, परम्परा (शास्त्र व लोक), आर्थिक परावलम्बन और साथ-साथ मर्द की ताकत या मर्दानगी की। यदि ऐसा न होता तो 'घरेलू हिंसा निवारण कानून 2005' लाने की जरूरत क्यों पड़ती?

जब अधिकतर स्त्रियों को अपनी देह पर ही कोई अधिकार नहीं है, तो बाकी स्वतन्त्रताओं की सम्भावना ही क्या है? वह देह आजीवन किसी पुरुष (या पुरुष सत्तात्मक विचार) की गिरफ्त में डाली रहती है। चाहे पुरुष उसे घरेलू कामकाज में मुफ्त खटवाए (यानी, श्रम-शोषण करे) या (मुफ्त का) भोग करे (यानी, यौन-शोषण करे) या सन्तान (=बेटा) पैदा करने की फैक्टरी में तब्दील करे अथवा वह (=बाप) किसी मनपसन्द मर्द को दान कर दे ('कन्यादान' द्वारा) और फिर वह मर्द (=पति) भी भोग

लगाने के लिए किसी अन्य मर्द को दे दे, बेच दे या किसी आवेदन-पत्र के साथ उस देह को नत्थी कर पोस्ट कर दे। ऐसे दानों या आवेदन पत्रों का उद्देश्य इस लोक में जीते-जी स्वर्ग का कोई टुकड़ा (नौकरी, राज्य प्राप्ति या विस्तार, पद, पैसा आदि) पाना भी हो सकता है अथवा मृत्यु के बाद 'स्वर्ग' रूपी पाँच सितारा होटल में हर तरह के ऐशो-आराम का 'ए.सी. रूम' एलॉट कराना और वहाँ की अप्सराओं से नैन (और चोंच) लड़ाना। यानी, 'पातञ्जल-योग-सूत्र' के व्यास भाष्य के शब्दों में 'मधुमती भूमिका' पाना उद्देश्य है जिसमें पहुँचने पर साधक "इह रम्यताम् कमनीयोऽयं भोगः कमनीयेऽयं कन्या...उत्तमा अनुकूला अप्सरसः" की पुकार सुनता है। [मतलब है—यहाँ रमण करें, यह भोग पदार्थ कमनीय है, यह कन्या भी कमनीय है, उत्तम कोटि की अनुकूल अप्सराएँ विद्यमान हैं—आप मजे से सेवन करें]। स्वर्ग-कल्पना भी मर्द के भोगी मन का विस्तार है, और कुछ नहीं। इस लोक की मधुशाला में साक्री (एयर होस्टेस?) और स्वर्ग में अप्सरा किसकी चाह के रूप हैं? मर्द के भोगी मन की ही तो। स्त्री के लिए कहाँ है कुछ? स्त्री तो खुद यहाँ सामान बनी हुई है। पुरुष स्त्री को देह बनाकर कुछ भी करे—सब कुछ धर्मसम्मत है, दार्शनिक है, क्योंकि समूचा धर्मशास्त्र-दर्शन उसी की तो गढ़न है। 'बाइबिल' में भी स्त्री-देह की ये सब दुर्गतियाँ विहित हैं (विशेषतः 'शमूएल-2' में देखें)।

पति का पत्नी पर अबाध भोगाधिकार इस हद तक धर्म व समाज से सम्मत है कि पत्नी बनी स्त्री अपने को 'देह' और उस देह को पति द्वारा इस्तेमाल की जानेवाली एक 'मस्त चीज' की तरह मान बैठती है। हिन्दू-संस्कृति में पत्नी बनी स्त्री के लिए 'शयनेषु रम्भा' (बिस्तर पर रमणीय वेश्या) का आदर्श है तो (तसलीमा नसरीन के अनुसार) मुस्लिम-संस्कृति के 'हदीस' में कहा गया है कि सम्भोग की इच्छा से पति जब भी बुलाए पत्नी झट चली आए, चाहे वह रसोईघर में ही क्यों न हो (औरत के हक में, पृष्ठ 83)। ब्रह्मवैवर्त पुराण में कहा गया है—

“ऋतुस्नाता तु या नारी भर्तारं नोपसर्पति
सा मृता नरकं याति विधवा च पुनः पुनः।”

यानी, ऋतुस्नान के बाद जो स्त्री पति के पास (सेवा) में नहीं जाती, वह मरने पर नरक जाती है और इस पाप के कारण बार-बार विधवा होती है। 'नरक' या 'विधवा' के ब्रह्मास्त्र से स्त्री को डराकर बिस्तर तक खींच लाना। 'नरक' कल्पना है (और यदि वस्तुतः है भी तो क्या फर्क पड़ता है? स्त्री के लिए स्वर्ग है कहाँ? हर जग तो उसका नरक ही है।) और 'विधवा' होना कोई समस्या नहीं, मर्द-भाषा की गढ़न है। ये दोनों मर्दवादी भय हैं। विविध मजहबों में स्त्री को पुरुष की भोग्या बनाने के इतने हथकण्डे अपनाए गए हैं कि कहाँ तक बचेगी स्त्री? तसलीमा नसरीन के 'औरत के हक में' पढ़ा है कि (पृ. 159) हदीस में पत्नी को पीटने का अधिकार जिन चार कारणों से पति को दिया गया है, उनमें से एक है पति की सहवास-इच्छा पर पत्नी का न आना। स्त्री भोग्या बनने से नहीं बचेगी, तो गर्भ भार से लदेगी ही। धर्मशास्त्र बहुत पुनीत भाषा में स्त्री

जीवन का अर्थ बताता है तो कहता है कि स्त्रियाँ सन्तानोत्पत्ति हेतु बनाई गई हैं ('प्रजनार्थं स्त्रियाः सृष्टा')। 'मनुस्मृति' (9/33) कहती है कि स्त्री सन्तान रूपी फसल का खेत है। 'नारद स्मृति' का भी यही विचार है। 'कुरान शरीफ' का स्पष्ट प्रतिपादन है—“तुम्हारी बीवियाँ (गोया) तुम्हारी खेतियाँ हैं। अपनी खेती में जिस तरह चाहो जाओ।” (सूरतुल् बकरति, आयत 223, 'कुरान शरीफ', लखनऊ किताबघर प्रकाशन) पवित्रतम भाषा यही है कि विवाह 'सन्तान' के अर्थ (पुरुष द्वारा) किया जाता है और 'सन्तान' का अर्थ अक्सर 'बेटा' हुआ है। 'मनुस्मृति' तो पुरुष के यौन-भोग की कमी पड़ने पर उसे एकाधिक स्त्रियों को ब्याहने ('विवाह' के बहाने पाने) का प्रोत्साहन सा देती है।

कथन है—

“सवर्णाग्निं द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।

कामतस्तु प्रवृत्ता नामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।

ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥”

(मनुस्मृति 3/12-13)

यानी, द्विजों को प्रथम विवाह दार-कर्म (धर्मशास्त्र विहित पत्नी कर्म) हेतु सवर्णा (अपने वर्ण की) स्त्री से करना उपयुक्त है। फिर कामेच्छा से जो चाहे तो अनुलोम क्रम से इस प्रकार उचित है—शूद्र पुरुष की एक ही स्त्री उचित है [यानी शूद्रा]। वैश्य की वैश्या व शूद्रा यानी दो; क्षत्रिय की क्षत्रिया, वैश्या, शूद्रा यानी तीन तथा ब्राह्मण की ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या व शूद्रा यानी चार तक स्त्रियाँ विहित हैं। चंडेश्वर कृत 'गृहस्थ रत्नाकर' के एक श्लोक में यही भाव है, पर साथ में एक्सटेंशन इतना है कि राजा चाहे तो कितनी भी स्त्रियों को ब्याह सकता है। मर्द को भोगवादी सुपर पावर देने का सिलसिला इस्लाम में भी है। अन्तर इतना ही है कि वैसा करते समय मर्दों को वर्णवादी तराजू से नहीं तौल सका—मर्द होना ही काफी माना गया चार तक पत्नियों को पाने हेतु। पर, एक शर्त और लगा दी कि वैसा तब करो, जब बराबरी का बर्ताव (प्रेम) उनमें रख सको। (कुरान शरीफ सूरतुन्निसाअि, आयत 3) यदि ऐसा न कर सको तो एक ही बीवी या लौंडी जो तुम्हारे कब्जे में है, काफी है।

पति की भोगेच्छा की राह में घास की तरह बिछ जाना और उससे लदे गर्भ को 'पवित्र मातृत्व' का ख्याल कर सहर्ष सह लेना—ऐसी स्थिति में स्त्री का सहज बोध बन जाता है। खासकर ऐसा होना तब ज्यादा मुनासिब होगा, जब न्यायालय तक ऐसी ही भाषा में बोलने लगे। अभी 18 अप्रैल, 2007 के 'इंडिया टुडे' में खबर छपी कि 'जयाघोष-समरघोष तलाक केस' को 26 मार्च, 2007 को 'तलाक-स्वीकृति' द्वारा निबटाते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने व्यवस्था दी कि बिना किसी चिकित्सकीय कारण के शारीरिक सम्बन्ध बनाने से इनकार करना, बच्चा न पैदा करने का एकतरफा निर्णय लेना या गर्भपात अथवा नसबन्दी बिना साथी की सहमति के करा लेना भी

दाम्पत्य-सम्बन्ध में मानसिक क्रूरता के अन्तर्गत आएगा और इसके आधार पर तलाक का अधिकार मिल जाएगा। अदालत ने इस तरह पत्नी की देह-स्वतन्त्रता को नकार सा दिया और उससे जबरन देह-सम्बन्ध बनाने और बच्चा पैदा करवाने की पति की परम्परा को उचित सा ठहरा दिया। फिर तो विवाह का अर्थ सेक्स या बच्चे पैदा करने की मशीन बनने हेतु स्त्री की बाध्यता है? वाह री अदालती विडम्बना! एक तरफ पत्नी को जबरन यौन-जीवन में घसीटे जाने को दंडनीय बताते हुए 'घरेलू हिंसा से महिला की सुरक्षा का कानून 2005' खड़ा है, तो दूसरी तरफ पति को हर हाल में पत्नी से सेक्स करने को हरी झण्डी सा देना। क्या विवाह स्त्री को देह-कारागार में धकेल देने के अलावा किसी अन्य अर्थ का वाहक है ही नहीं?

'विश्वमित्र' (1935 ई. की फरवरी) में कुट्टन नायर के छपे लेख ('स्त्रियाँ प्रतिरोध करना सीखें') में कहा गया था कि हिन्दू बालिका को वचपन से ही यह सिखलाया जाता है कि उसका जन्म ही इसलिए हुआ है कि पुरुष विशेष की पत्नी बनकर उसके सुख के लिए अपना तन-मन-प्राण सब निछावर कर दे चाहे रोग-शोक हो या अस्वास्थ्य—उसकी परवाह न करे। इसी से स्त्री को पति की इच्छा के आगे सिर झुकाना पड़ता है—बीमार होने पर भी उसकी वासना झेलनी पड़ती है। अधिक सन्तानवती या गर्भवती होने पर भी उसकी असंयत हवस सहनी पड़ती है, जिससे उसका स्वास्थ्य हर तरह से नष्ट हो जाता है। अकाल में ही वह यमपुरी भेज दी जाती है। पर चूँकि पत्नी की स्थिति दासी की है, इसलिए वह परवश है। उसका लाभ उठाकर कामुक पति उसकी देह पर अत्याचार करता रहता है (स्रोत : 'स्वाधीनता संग्राम, हिन्दी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र')।

सन्तान (=बेटा) पैदा करने के लिए (या उसके नाम पर) स्त्री को सांस्कृतिक परम्परा ने इस हद तक देह की जेल में ठेल दिया है कि पत्नी द्वारा देह-सम्बन्ध से इनकार करने पर बलात्कार करने की प्रेरणा भी शास्त्र पति को देता है। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' (6/4/7) का स्पष्ट वचन है—

“सा चेदस्मै न दद्यात् काममेनाभवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात् काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोप हन्याति क्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति।”

अर्थात्, (पुत्रोत्पत्ति की इच्छा से पत्नी के पास पति के जाने पर) वह (पत्नी) पति को यदि मैथुन न करने दे तो पहले उसे वस्त्राभूषण देकर अपने प्रति प्रेमासक्त करे। इतने पर भी वह मौका न दे, तो पति इच्छानुसार दंड का भय दिखाकर उससे जबरदस्ती समागम करे। यदि यह भी सम्भव न हो तो कहे कि तुझे शाप देकर बन्ध्या बना दूँगा।

जहाँ स्त्री की देह सांस्कृतिक (और कभी-कभी कानूनी) रूप से इस कदर बाध्य की गई है, वहाँ उसकी इतनी मजाल कि पति द्वारा थोपे गए यौन सम्बन्ध से इनकार कर दे या सन्तान जनने के कष्ट से बच जाए? जहाँ गर्भ-पीड़ा के यथार्थ भय और उससे हुए स्त्री के सहज बोध को 'कुटिला' शब्द द्वारा निन्दित किया जाता है, वहाँ स्त्री की

यह मजाल कि माँ बनने से बच जाए? ‘पद्मपुराण’ के उत्तरखंड में ‘श्रीमद्भागवत माहात्म्य’ में गोकर्ण-धुन्धकारी की कथा आती है। साधु द्वारा सन्तानार्थ दिए गए फल को ब्राह्मणी नहीं खाती। वह रो कर सखी से कहती है—सखी! मुझे तो बड़ी चिन्ता हो रही है। मैं तो यह फल न खाऊँगी। फल खाने से गर्भ रहेगा और गर्भ से पेट बढ़ जाएगा। फिर कुछ खाया-पिया न जाएगा। उससे मेरी शक्ति क्षीण हो जाएगी। तब बता, घर का धन्धा कैसे होगा? दैववश यदि कहीं गाँव में डाकुओं का आक्रमण हो गया तो गर्भिणी स्त्री कैसे भागेगी? यदि शुक्रदेव की तरह गर्भ भी पेट में ही रह गया तो उसे बाहर कैसे निकाला जाएगा? और कहीं प्रसवकाल में टेंढ़ा हो गया तो फिर प्राणों से ही हाथ धोना पड़ेगा। यों भी प्रसव के समय बड़ी भयंकर पीड़ा होती है। मैं सुकुमारी भला यह सब कैसे सह सकूँगी? जो स्त्री बच्चा जनती है, उसे उस बच्चे के लालन-पालन में भी बड़ा कष्ट होता है। मेरे विचार से तो बन्ध्या या विधवा स्त्रियाँ ही सुखी हैं।

सामाजिक संरचना में स्त्री की स्थिति से बना उसका सहज बोध पुराणकार द्वारा किस प्रकार निन्दात्मक स्वर में प्रस्तुत किया गया है, आप पूरा प्रसंग पढ़कर देख सकते/सकती हैं। कुछ अंश इस तरह हैं—

“तरुणी कुटिला तस्य सख्यग्रे च रुरोद ह।

अहो चिन्ता ममोत्पन्ना फलं चाहं न भक्षये ॥

फल भक्षेण गर्भः स्याद् गर्भेणोदरवृद्धिता। स्वल्पभक्षं ततोऽशक्तिर्गृहकार्यं कथं भवेत्। दैवाद् घाटी व्रजेत् ग्रामे पलायेद् गर्भिणी कथम्। शुक्रवत् निवसेद् गर्भः तं कुक्षे कथमुत्सृजेत् ॥ तिर्यक् चेदागतो गर्भस्तदा मे मरणं भवेत्। प्रसूतौ दारुणं दुःखं सुकुमारी कथं सहे ॥ लालने-पालने दुःखं प्रसूतायाश्च वर्तते। बन्ध्या वा विधवा नारी सुखिनी चेति मे मतिः ॥

(श्रीमद्भागवत माहात्म्य 4/44-49)

यदि गर्भ भार से पस्त-दर-पस्त होती स्त्री बन्ध्याकरण (नसबन्दी) या परिवार-नियोजन का सहारा लेकर सुखी होना चाहती है, तो ‘मातृत्व’ (वह भी थोपा हुआ) का महिमामंडन करनेवाला ढोंगी समाज अनगढ़—आम भाषा में ही नहीं, कभी-कभी काव्यभाषा में भी कोसते नहीं थकता—

“काश! समझतीं जन्म-निरोधातुर कृत्रिम बन्ध्याएँ

पुत्र-कामना इच्छा है अपने को ही पाने की।”

‘सन्तान’ शब्द भी नहीं, ‘पुत्र’ शब्द है। कवि-तर्क है—

“सीधा नहीं योग नारी का जग के संघर्षों से

बेटों के मुख से अपना सन्देश कहा करती है।”

(दोनों उद्धरण ‘रसवन्ती’—दिनकर से)

वाह! क्या सूझ है स्त्री को बच्चे की प्रोडक्शन फैक्टरी बनाने हेतु। उस पर मर्द की आरोपित हवस को ‘गर्भ’ तक पहुँचाने की जिम्मेवारी भी गूँथने हेतु! वाह! इस स्थिति में स्त्री भला गर्भ-निरोधक अपना सकती है बिना अपने मालिक से पूछे? फिर

उसे नसबन्दी कराने को कहना तो उससे सपने में भी नहीं होगा। एक सर्वेक्षण का आकलन है कि हिन्दू स्त्री ने 45.5% तथा मुस्लिम स्त्री ने 33.8% ही परिवार-नियोजन कार्यक्रम में हिस्सा लिया है। इतनी स्त्रियों को इसके लिए छूट देना तथा बाकी स्त्रियों पर रोक लगाना—सब पितृसत्तात्मक सोच का परिणाम है। अशिक्षा, पितृसत्ता व अल्पसंख्यकता बोध से मुस्लिम स्त्रियों में यह प्रतिशत कम है, जैसे कि जम्मू कश्मीर में हिन्दू स्त्री का मात्र 35% परिवार-नियोजन से जुड़ा है। पितृसत्तात्मक सोच ही हिन्दू व मुस्लिम राष्ट्रीयताओं में बँटी राष्ट्रवादी राजनीति के तहत ‘अल्पसंख्यकता’ बोध से ग्रस्त होती है और स्त्री को गर्भ-निरोध से रोकती है। उसी तरह अपनी जरूरत पर स्त्री को परिवार-नियोजनार्थ बाध्य करती है।

स्त्री को ‘लदा गर्भ’ बनाने पर तुले संस्कृति के ठेकेदार

हमारी संस्कृति में स्त्री की पहचान ‘माँ’ के रूप में और फिर ‘माँ’ की पहचान ‘गृहिणी’ के रूप में की गई है और सर्वस्वीकृति सी है कि संस्कृति का दारोमदार स्त्री के इसी रूप पर है। ‘सौभाग्यवती भव’ और ‘शत/अष्ट पुत्रवती भव’ जैसे आशीर्वाद ही किसी स्त्री के लिए मुकम्मल आशीर्वाद माने गए हैं। दोनों कोटियों के आशीर्वाद अन्यपरक हैं यानी खुद स्त्री के लिए लाभकर नहीं, बल्कि किसी अन्य (=पति) को लाभ पहुँचाने हेतु स्त्री को साधन बनानेवाले हैं। इससे भी बढ़कर स्त्री के लिए घरेलूकरण का पुख्ता आधार बनाने वाले अर्थात् हासकारी हैं। यह तो उसी प्रकार की बात है कि किसी को उपहार में किताब, साइकिल आदि न देकर प्रेशर कुकर, घरेलू बर्तनों का सेट आदि दे दिया जाए। स्त्री को यह सब ही तो दिया जाता रहा है। साथ में गहने-साड़ी आदि। साड़ी पहनकर सजी रहो और अपने ही घरे में कैद रहो—गहनों में उलझी रहो; पढ़ो मत। ‘मनुस्मृति’ का (3/55) बहुप्रचारित वाक्य “यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः” इसी सन्दर्भ में तो खड़ा है। आगे-पीछे देख लें, तो सारा भ्रम मिट जाएगा। पूजा का अर्थ वस्त्राभूषणों से सत्कार है। कहा गया वहाँ—“पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याण मीप्सुभिः।” (3/55) तब है—“यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते...” (3/56)। फिर आगे देख लेने पर इस प्रकार के पूजावाद की भी पोल खुल जाती है—“यदि हि स्त्री न रोचते पुमांसं न प्रमोदयेत्। अप्रमोदात्पुनः पुंसं प्रजनं न प्रवर्तते ॥ स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्। तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते।” (3/61-62)—यानी, स्त्री यदि वस्त्राभूषण से प्रसन्न न की जाए तो, वह अपने पति को प्रसन्न न करेगी; फिर पुरुष के प्रसन्न न होने पर गर्भाधान न होगा। स्त्री के प्रसन्न होने पर इस प्रकार समूचा कुल प्रकाशित रहता है। अन्यथा (उसके पर-पुरुष से सम्बन्ध बनने की आशंका होने से?) सब कुछ बेकार हो जाता है। यह तो वही बात हुई कि पगहे में बँधी गाय को चारा खिलाना, जिससे वह भली-भाँति दूही जा सके।

‘सुहाग अचल रहे’ (यानी तेरा मालिक दीर्घजीवी रहे) और ‘दूधो नहाओ पूतो फलो’ जैसे आशीर्वाद-जालों से परे होकर स्त्री ने जब-जब अपना व्यक्तित्व, सामाजिक पहचान

या कैरियर सँवारने की कोशिश की, उसे सौ-हजार-लाख मुँहों से कोसा गया। चाहे वह रजिया सुल्तान हो या महादेवी वर्मा। 'बिगड़ी' या 'मरदानी' कहकर अवमूल्यन किया गया। जनसंख्या-वृद्धि की घरेलू मशीन बनाए रखने में ही उसकी सार्थकता देखी गई। यदि किसी स्वार्थवश उसके इन आत्मनिर्भर रूपों को सहा या सराहा भी गया तो उसकी घरेलू भूमिका को प्राथमिक अर्हता (प्राइमरी इलिजिबिलिटी) के रूप में सुनिश्चित करके ही। चाहे गांधीवाद हो, नक्सलवाद या राष्ट्रवाद—हर जगह स्त्री की यही स्थिति है। कम्युनिस्ट रूस की जनवृद्धि की नीति पहले बखानी जा चुकी है। यहाँ, मुझे 'सहारा समय' साप्ताहिक का एक सम्पादकीय उद्धृत करने का मन हो रहा है। देश के एक प्रमुख हिन्दूराष्ट्रवादी संघ के प्रधान ने एक-दो साल पूर्व हिन्दू माताओं को सन्देश दिया—'सन्तान पैदा करो। एक दो नहीं। तीन से कम नहीं और जितने ज्यादा कर सको; उतना अच्छा।' धार्मिक जनसांख्यिकी पर एक किताब का लोकार्पण करते हुए उन्होंने 'हम दो हमारे दो' की नीति के झाँसे में न आने का आह्वान करते हुए ढेर सारी बातों के क्रम में एक ऐसी 'वीर माता' का भी उल्लेख किया, जिसके सत्रह बच्चे थे और वह और भी बच्चे चाह रही थी। इस पर सम्पादकीय ने बिलकुल सही टिप्पणी की थी कि संघचालक की निगाह में शायद सन्तानोत्पत्ति ही स्त्रियों की वीरता है। सवाल केवल उन महापुरुष का नहीं, हमारे सारे धर्म-सम्प्रदाय के नायक ('नायिका'?) या कहा जाए कि धर्म-बाजार के मल्टीनेशनल व्यापारी (कई बार 'स्मगलर' भी) जुबानें बदल-बदलकर, अपने मुखारविन्दों से ऐसी ही वाग्धारा तो बहा रहे हैं। उसमें क्या है आखिर? किस्से-कहानियों एवं संगीतमय गायन के पूरे सम्मोहन को भेद कर यदि उनकी विचार-भित्ति की थाह लें तो 'गीता-प्रेसवाद' से बेहतर स्थिति नहीं मिलेगी। गीताप्रेसवाद और तालिबानीकरण भीतर से पर्यायरूप हैं—खासकर स्त्री के सन्दर्भ में। गीताप्रेस आदि ढेरों प्रकाशन अपनी किताबों (जैसे 'कल्याण नारी अंक', 'नारी-शिक्षा', 'स्त्रियों के लिए कर्तव्य-शिक्षा' आदि) के जरिए स्त्री की हर आत्मनिर्भरता को धिक्कारते और पति की राह में—उसके भोग, प्रेम, घृणा, तप, रोष, तोष नुमा हर चरण में पत्नी के एकान्त समर्पण को आदर्शीकृत करते हैं। कुकुरमुत्तों की तरह उग आए ढेर सारे प्रवचनकर्त्ता (जिनमें कई दिग्भ्रान्त स्त्रियाँ भी हैं) नियमित ओजस्वी स्वरों में, स्त्री को 'माँ' (बच्चों की प्रोडक्शन कम्पनी और पालन गृह), 'गृहिणी' (घरेलू कैदी, बैल सी खटने वाली) और 'पतिव्रता' (पति की एकनिष्ठ यौनदासी व गृहदासी) मात्र की भूमिकाओं में सिमटने की शिक्षा दे रहे हैं। उन नालायकों को चिन्ता है कि हम जिस-जिस मजहब या जनवृत्त (सेक्टर) के नेता हैं, उस-उसकी आबादी घट रही है। इसलिए संवेदनाशून्य होकर वे स्त्रियों को अधिकाधिक बच्चे पैदा करने की सीख दे रहे हैं। इस सीख में उन्हें वह क्रूरता भी नहीं दिखाई देती, जो ढेर सारे बच्चे जनमाने को बाध्य स्त्री के साथ घटती है। क्या यह सलाह उस हिटलरी आदेश से मेल नहीं खाती, जिसने नाजीवाद के सिपाही बनने के लिए बेटों की जरूरत से जर्मनी की स्त्रियों को सारे कामकाज भूलकर सिर्फ जच्चाघर में रमने को कहा था? स्त्री की इस प्रसंग में

होनेवाली यातना या व्यक्तित्व-लोप की समस्या को कुछ क्षण के लिए नजरअंदाज करके भी सोचें, तो क्या ये धर्म-नेता इतने नासमझ व कठोर हो चुके हैं कि भारत जैसे जनाधिक्य-ग्रस्त देश को एकदम नंगे-भूखे बेकार और अपराधी बन चुके बच्चों-जवानों की भीड़ में परिवर्तित करके ही छोड़ेंगे? कम्युनिस्ट रूस के पास तो कम आबादी का 'तर्क' और स्त्री को प्रसव हेतु समुचित आधुनिक सुविधाएँ देने की 'क्षमता' भी थी (यद्यपि न वह 'तर्क' समुचित था, न 'क्षमता' सही दिशा में कार्यरत); पर इन महानुभाव मर्दों के पास क्या है? ज़हरीली गैस की फैक्टरी जैसे दिमाग के अलावा? स्वयं छप्पन भोग, छत्तीस व्यंजन चाभो, राजगद्दी पर देह सेंको, मर्सिडीज या विमान में उड़ो और अन्तर्राष्ट्रीय माइक या इंटरनेट-टीवी चैनलों पर उद्घोषणा करते हुए; हर प्रकार के इन्द्रिय-सुख की मन्दाकिनी में डुबकी लगाते रहो! पर, अपने बाड़े में अधिकाधिक भेड़-बकरियों जैसे मनुष्यों को इकट्ठा करने हेतु और इस प्रकार अपनी शासन-सीमा विस्तृत करते जाने के सपने [बड़े राज्य की सीमा ताकि अधिक जनों को लूट सकें] को साकार करने हेतु स्त्रियों को कारखाने में बदल दो। नंगे-भूखों को यह कहकर बहला लो कि भौतिक सुख मिथ्या है; हम तो तुम्हें मुक्ति-सुख देंगे। बस यही किस्सा रहा है हर मजहबी नेता या संस्कृति के ठेकेदार का—वेदकाल से अब तक यही सिलसिला रहा है। लड़की बड़ी हुई नहीं कि उसे विवाह में जकड़कर, उसे गर्भवती बनाने हेतु वे मचलने लगते हैं। आगे के आँकड़े बताएँगे कि बाला के विवाह और कम उम्र में माँ बनने की कितनी घटनाएँ घट रही हैं। भाषा या प्रथा के सुनहरे जाल या लौह शृंखला में विवाहिता जहाँ कैद है, वहाँ उसका यह दुस्साहस क्या सम्भव है कि पति को हवस (और गर्भ) न थोपने दे? पति तो उसे दान भी दे सकता है भोगार्थ किसी पराए मर्द को; या 'नियोग' हेतु प्रेषित भी कर सकता है उसके पास! तो भी, पत्नी को सब कुछ चुपचाप सहना ही नहीं, सहर्ष करना है। 'महाभारत' के 'अनुशासन पर्व' के 'दान धर्म उपपर्व' (अध्याय 2) में ऐसे दान-धर्म का निर्घृण-नंगा नाच देखा जा सकता है। साथ ही यह भी ध्यान रखना है कि 'महाभारत' या विश्व की पूरी धार्मिक-सांस्कृतिक परम्परा में यह पहली व अन्तिम घटना नहीं है। कथा का सारांश इस प्रकार है—अग्निकुमार सुदर्शन घर पर नहीं था। उसके पीछे एक ब्राह्मण अतिथि आया। उसने उसकी पत्नी से (धर्म की दुहाई देते हुए) यौन-तुष्टि के लिए उसकी देह माँगी—“यदि प्रमाणं धर्मस्ते गृहस्थाश्रम सम्मतः। प्रदानेनात्मनो राज्ञि कतुमर्हसि मे प्रियम्।”—यदि तुम गृहस्थ धर्म को मानती हो तो अपनी देह प्रदान कर मुझे खुश कर दो। पहले तो स्त्री हिचकी, पर पति के आतिथ्य-व्रत को निभाने के ख्याल से भर उठी, क्योंकि पति के हर कार्य में साथ देना पत्नी का धर्म है (परन्तु, इसका उलटा भी क्या कभी हुआ है?)। इसलिए झिझक छोड़कर वह ब्राह्मण को घर के भीतर ले गई। कुछ समय में लौट आया सुदर्शन, ब्राह्मण देव की करनी जानकर भी अविचल रहा, बल्कि सन्तुष्ट हुआ—“सुरतं ते अस्तु विप्राग्र्य प्रीतिर्हि मम..”—यानी, तुम रतिक्रिया करो। इसमें मैं प्रसन्न ही हूँ। इस प्रकार की अतिथि सेवा की पराकाष्ठा से सुदर्शन ने उत्तम लोक पाया, पर उस अभागिनी पत्नी का क्या हुआ?

इस पर 'महाभारतकार' मौन है। ऐसे ठोस यथार्थपरक सामाजिक प्रश्नों से कन्नी काट लेना तो हमारे सांस्कृतिक ठेकेदारों व आध्यात्मिक उत्थापकों की चिर प्रवृत्ति रहा है। वासना-विक्षिप्त ऐसे मर्द अतिथियों की आग में जलने के लिए पत्नी को सहर्ष नियुक्त करनेवाला [वह भी तब जब 'कंडोम' या 'माला डी' का युग न था और यदि होता भी तो स्त्री क्या मर्दों की हवस में स्वाहा होने के लिए बनी है?] अथवा उसकी देह का खुला विज्ञापन करते हुए उसे जुए की दाँव पर रखनेवाला मर्द जहाँ की सांस्कृतिक यात्रा की राह में 'मील के पत्थर' की भांति गड़ा है, उस समाज के स्त्री की यह मजाल कि इनकार कर दे पति की वासना-पूर्ति से? युधिष्ठिर ने यह कहकर द्रौपदी को दाँव पर लगाया था—नैव हस्वा नैव महती न कृशा नातिरोहिणी नीलकुंचित केशीसा तथा दीव्याम्यहं त्वया (महाभारत, सभापर्व)। यानी, मेरी यह पत्नी न तो बहुत दुबली है, न बहुत लम्बी, न बहुत मोटी। बाल इसके घुँघराले हैं। इसे मैं पासे पर चढ़ा रहा हूँ। यह नारी-देह के दलाल की भाषा ही तो है। एक और महती कथा का पारायण करके बात का विस्तार कर सकते/सकती हैं।

एक दिन पराशर ऋषि का दिल सत्यवती मछुआरिन की देह पर आ गया। कामातुर होकर उसने मत्स्यगन्धा सत्यवती को बुरी तरह पकड़ लिया—'मत्स्यगन्धां प्रजग्राह मुनिः कामातुरः तदा' ('देवी भागवत')। पर, औरत की देह का लोलुप ऋषि-मन, सामन्ती नैतिकता के ढोंग में पड़ा था, अतः सत्यवती को भोगते समय तपोबल से धुन्ध (कुहासे) का परदा रच लेता है। भोग में उपयुक्त की गई स्त्री सम्भावित गर्भजन्य अपनी ठोस भौतिक पीड़ा और पुरुषसत्तात्मक समाज द्वारा उसके सम्भावित विस्तार से डर जाती है। कातर होकर पूछती है—आप तो मजे लेकर चलते बनोगे, पर गर्भ भार से लदकर, लोगों की निगाह में आकर मैं बाप-भाई या समाज को कौन-सा मुँह दिखाऊँगी?

“पितरं किं ब्रवीम्यद्य सगर्भा चेद्भवाम्यहम्
त्वं गमिष्यसि भुक्त्वा मां किं करोमि वदस्वतत् ।।”

(‘देवीभागवत’)

तब ऋषि पराशर अपने लोक स्वीकृत तपोबल का चारा मर्दवादी मानकों की थाली में परोसकर सत्यवती को छल लेता है—

“पुराणकर्ता पुत्रस्ते भविष्यति वरानने ।
वेदविद् भागकर्ता च ख्यातश्च भुवनत्रये ॥

(‘देवीभागवत’)

यानी, घबराओ मत सुमुखि! तेरे बेटा होगा तथा वह वेद का विभाग कर्ता (व्यास) व तीनों लोक में विख्यात रहेगा। छल वाणी के सिवा क्या है यह? जन्मपूर्व ही लिंग-चयन ('तेरे बेटा होगा') एवं गुण-चयन ('वह बड़ा विद्वान होगा') कर लेने की इतनी उच्च प्रौद्योगिकी जिसके पास हो; वह क्या काम-ज्वर से स्वयं को या गर्भ भार से स्त्री को नहीं बचा सकता था? यदि काम-सुख ही लेना था तो वैकल्पिक उपाय भी खोज सकता था अथवा 'ऋषि' या 'जितेन्द्रिय' का ही ढकोसला रचने की क्या जरूरत थी? मेहनत

की रोटी कमाने निकली एक बेचारी नारी को पकड़कर उसे बहला-फुसलाकर, उसके पेट पर अपनी लम्पटता लादकर चलते रहे मस्तराम और झेलती रही स्त्री! आश्चर्य है कि ऐसों को हम त्रिकालदर्शी ऋषि मानकर सिर पर चढ़ाते हैं; जबकि एक अदना सा इंसान मानने में भी हमें सन्देह होना चाहिए। आज का कानून होता तो 'ब्लैकमेलिंग द्वारा बलात्कार' का केस बनता तथा जेल में वे सड़ते तो सारी ऋषिगिरी भूल जाती बच्चू की। बेचारी नारी जब पेट पालने निकलती है कि ऐसे महान् मर्दों की भीषणता से ही उसके पेट में कोई पलने लगता है। युग-युग से चला आ रहा यह सच है।

इस तरह के नाना सांस्कृतिक व वैधानिक प्रसंगों से यह समझ में आ जाना ही चाहिए कि स्त्री को विवाह आदि अनेक व्यवस्थाओं द्वारा कसकर और (एक हद तक वह स्वतन्त्र भी है तो) प्रलोभन व भय, दोनों हथियारों से उसे विवश कर मर्द-सत्ता ने अपनी वासना-पूर्ति के लिए उपयोग किया है, जिसमें वह गर्भ-भार का पहाड़ झेलती रही (कभी-कभी वैसे तो सन्तानेच्छा से भी वासना-भूमि पर घसीटा गया)। ऐसी स्थिति में स्त्री को यह चुनने की आजादी कहाँ है कि प्रजनन-शक्ति का उपयोग करे या न करे? बच्चे चाहे या न चाहे या कितने बच्चे चाहे? (जब यही आजादी नहीं है तो काम के चरम सुख का अहसास पाने की स्वतन्त्रता तो दूर की बात है)।

विवाह के पिंजड़े में कैद स्त्री को 'जनसंख्या-वृद्धि की घरेलू मशीन' बनाए रखने की बाध्यता का मार्मिक चित्रण शरद देवड़ा के उपन्यास 'प्रेमी-प्रेमिका संवाद' में पढ़ सकते/सकती हैं—

‘दिन भर घर के काम-धन्धों और बच्चों की शरारतों से थकी-हारी उसकी सूखी व अर्द्धनिद्रित काया को जबरन अपनी ओर खींचकर, पशु की तरह, उस पर सवार हो जाता है...अपने दो-ढाई मन बोझ तले उसे रौंदता-पीसता है और चौथाई औंस वीर्य उसके गर्भ में एक तेज फव्वारे की तरह, उड़ेल देता है, जिसमें कुछ बूंदों के रूप में करोड़ों की तादाद में शुक्राणु भी होते हैं। ये हिंसक शुक्राणु तेज गति से तैरते हुए, योनि और गर्भाशय को पार करके, फालोपियन ट्यूब में प्रवेश करते हैं और वहाँ दुबककर बैठे नारी के कोमल डिम्ब पर आक्रमण करके, उसे गर्भवती बना देते हैं। इस तरह न चाहते हुए भी, औरत साल दर साल गर्भवती हो जाती है, दस-दस महीने उस बोझ को पेट में ढोकर, भयानक प्रसव-पीड़ा झेलकर, उसकी गन्दगी साफ कर, उसे पालती-पोसती है, पुरुष की वंश-वृद्धि करती है और अपना खून-पसीना सुखा-सुखाकर, खुद असमय मौत के निकट पहुँचती जाती है।’ (पृष्ठ 57)

इस क्रूर मजाक को रोकने का पत्नी के पास क्या अधिकार है, जब पुरुष ने जीवन भर उसका पेट पालने के एवज में सांस्कृतिक व कानूनी तौर पर उससे सम्भोग (बलात्कार) का हक जीवन भर के लिए खरीद लिया है; जैसे देह-मंडी में किसी स्त्री से यह हक रात या कुछेक घंटों भर के लिए मर्द खरीदता है। यह हकवाद पुराना होने से इतना मजबूत है कि पेट या देह की दृष्टि से आत्मनिर्भर स्त्री पर भी मर्द आज तक जमाता आया है।

स्त्री यह सब झेलते हुए, मौत की ओर बढ़ती एक दिन मर भी जाती है तो पतिदेव के लिए 'बिल्ली के भाग में छींका टूटना' चरितार्थ हो जाता है। बांग्ला कहावत है कि भाग्यवान की बीवी मरती है, अभाग की भैंस। अधेड़ अवस्था में भी पुरुष-हितैषी समाज एक नई-नवेली कमसिन दुल्हन, उसे उपलब्ध करा देता है। पहली पत्नी की कर्म-परम्परा की लड़ी में पिरोई गई वह युवती भी असमय बूढ़ी हो जाती है। दो-दो, चार-चार बीवियाँ पाल रखने तक की घटनाएँ आम होती हैं तथा भारत में गोवा राज्य को छोड़कर शेष सम्पूर्ण देश में मुस्लिम समाज और पूरे देश की अनेक जनजातियों के मर्दों को जब ऐसा करने का सरकारी परमिट मिला हुआ है, तब स्त्री की क्या स्थिति रह जाती है सोच सकते/सकती हैं।

'ताजमहल' को देख-देखकर, अतीत के धुँधलके में मुमताज के प्रति शाहजहाँ के प्रेम को पढ़ने की अन्तहीन कोशिशें होती रही हैं। परन्तु, एक बार भी किसी चिन्तक, साहित्यकार या फिल्मकार के भीतर यह सवाल नहीं कौंधा कि प्रेमी पति का वह कैसा 'प्रेम' रहा होगा, जिसने प्रियतमा पत्नी पर 14वीं सन्तान तक को जनमाने का बोझ डाला और जिस प्रसंग में बेचारी मुमताज को जान से हाथ धोना पड़ा? दूसरी बात, हरमों और रखैलों की मर्दवादी सामन्ती संस्कृति में प्रेम का स्पेस कितना हो सकता है? प्रेम तो 'अनन्यता' की माँग करता है, 'आत्मवत् सर्व-भूतेषु' (हर कुछ में अपने जैसा समझने) के अहसास की माँग करता है। यह कैसा प्रेम है? स्त्री को प्रसव-मौत हेतु मजबूर करनेवाला?

इन सारी सांस्कृतिक-सामाजिक व वैधानिक स्थितियों के रहते किसी स्त्री के बारे में यह सपाट सूचनात्मक भाषा सुनाई पड़ती है—'वह गर्भवती हो गई' या 'माँ बन गई' तो इस फूहड़ प्रयोग पर सिर पटक देने का मन करता है। 'हो गई' या 'कर दी गई'? 'बन गई?' या 'बना दी गई?' क्या 'खुश/नाराज़ हो गई' या 'उसे ठंड/लू लग गई' की तरह ही सहज घटना है गर्भवती होना? उसके अपने सहज अधिकार में है यह? क्या अपनी इच्छा से वह हुई और ऐसा करने में उसे बड़ा सुख मिलता है? आत्मगौरव होता है? वह भी तब जब एक 'गर्भवती स्त्री' मर्दवादी समाज के लिए आदरणीय व्यक्ति नहीं, बल्कि बेहूदा मजाक का विषय है। इजाडोरा डंकन (1878-1927 ई.) ने जैसा कि अपनी आत्मकथा में लिखा है—

“एक बार मैंने एक गर्भवती स्त्री को सड़क पर जाते देखा था। पर लोगों की आँखों में कहीं कोई श्रद्धा नहीं थी। वे एक-दूसरे को देखकर उपहास से मुस्करा रहे थे—जैसे कि उसके पेट में एक मानवीय जीवन होना कोई शानदार चुटकुला हो।” ('इजाडोरा की प्रेमकथा', पृष्ठ 153)

यह बेहूदा मजाक इतना आम है तथा भाषा में इतना क्रूर है कि प्रसविनी स्त्री के दर्द के प्रति अस्पतालों में कोई संवेदना नहीं दिखती और कई बार तो नर्सों तक की यह टिप्पणी सुनने में आती रही कि साली! उस समय तो बड़ा मजा आ रहा था, अब क्यों मरी जा रही हो? क्या 'उस समय' उन्हें सचमुच मजा आ रहा था अथवा अपने

मजे के लिए ही वे स्वेच्छा से काम-क्रिया में उतरी थीं? अपने रोज के अनुभव से भी तो वे नर्सें इतना समझ सकती थीं और मर्दवादी भाषा के इस भीषण प्रयोग से बच सकती थीं? बेचारी स्त्री को मजा क्या आया होगा, उसकी अनिच्छा में थोपे गए वासना-कर्म से? बल्कि कई बेचारियाँ (मुस्लिम स्त्रियाँ) तो 'सुन्नत' जैसी कसाई-क्रिया के कारण (काम संवेदी अंगों को गँवाकर) एक सजा की तरह भोगती हैं पुरुषों की मूढ़ कुत्तागिरी को। यह सब क्यों नहीं सोचा जाता? यौन-रोगों के संक्रमण-भय के बीच पीड़ा व जलन की नियति की शिकार बनी होती हैं वे। यह सब क्यों नहीं विचारा जाता? उनके लिए यौन क्रिया 'रति-क्रीड़ा' यानी परस्पर प्रेमबद्ध दो दिलों की देहों का मिलनोत्सव नहीं है, बल्कि बिस्तर पर का 'स्मर-युद्ध' है जिसमें औरत को बुरी तरह रौंद डालना ही सबसे बड़ा पौरुष है। परस्पर समझदारी, समर्पण व उदात्त भावनाओं के बीच एक-दूसरे की देहों को अपने व प्रेमी की अनिर्वचनीय सुखानुभूति का साधन बनाने की साधना यौन-टेंशन थूकने के उतावलेपन में भला सम्भव है?

जीवविज्ञान का सर्वज्ञात तथ्य है कि स्त्री के मासिक चक्र के मध्य में (आमतौर पर 14वें दिन) डिम्ब ग्रन्थि से परिपक्व डिम्ब छूटता है तथा डिम्बवाही नली के भीतर पहुँचता है। वह सिर्फ 24 घंटे जीवित रहता है। इस दौरान उससे कोई शुक्राणु मिले तभी 'जायगोट' बनता है, अन्यथा नहीं। पुरुष के शुक्राणु का जीवन-काल, छूटने के 2-3 दिन तक होता है। इस प्रकार स्त्री के डिम्बोत्सर्ग से पहले के तीन दिनों में या बाद के 24 घंटों के भीतर स्त्री-पुरुष का मेल न हो (यानी, पुरुष स्त्री को वासना-चक्र में इस बीच न पीसे) तो स्त्री के गर्भवती होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। अर्थात्, स्त्री के मासिक-चक्र चार (या कभी अनियमितता वश छह दिन यानी 11-17 वें दिन तक) दिन गर्भाधान के हैं। पर कितना बड़ा आश्चर्य है कि मात्र चार दिनों का नतीजा है कि विश्व की जनसंख्या 6 अरब दो पार कर गई है, 1999 ई. के 12 अक्टूबर को ही। इसका अर्थ है कि स्त्री-देह को भोगने में मर्द महीने में चार-पाँच दिन भी उसे बख्श न सके। यह जीव वैज्ञानिक तथ्य के प्रति उनके 'अज्ञान' से भी बड़ा उनकी हवस की दुर्दमनीयता का मामला है। इतिहास का यही विश्लेषण है। 'नारी नरक का द्वार है', तो उस नरक के द्वार में घुसने को इतने उतावले क्यों बने रहते हो कि चार दिन भी नहीं ठहर सकते? धिक्कार है तुम्हें सांस्कृतिक मर्दों!

प्रसव-पीड़ा का आरोपण और स्त्री-देह की कसाईगिरी

किसी स्त्री को जहाँ एक भी सन्तान की माँ बनने की सलाह देते समय पूरी 'सावधानी' बरतनी चाहिए और 'जिम्मेवारी' दिखलानी चाहिए [कहने में भी और स्त्री के प्रजनन-स्वास्थ्य की तैयारी में भी]; वहाँ उस पर अधिकाधिक बच्चे जनमाने का भार डालना कैसा? वह भी तब जब इस देश की [और दुनिया के बड़े हिस्से की] औरतों की बीमारी का सर्वाधिक हिस्सा प्रसव-सम्बन्धी रोगों यानी 'माँ' बनने की बाध्यता का है। प्रजनन-क्षम स्त्रियों में होनेवाली कुल मौतों का 15 प्रतिशत गर्भावस्था से जुड़ी मौतें

रही हैं। आँकड़े में कमीबेशी हो तो भी माँ बनने की प्रक्रिया में छिपे दर्द का ख्याल करनेवाला कोई संवेदनशील मनुष्य, स्त्री को अधिकाधिक बच्चे जनने की सलाह न दे सकेगा। काश! संस्कृति के सौदागर मर्द नेताओं को एक बार भी 'माँ' बनने के अनुभव से गुजरना पड़ा होता। तो भी वे स्त्री के लिए 'मातृत्व' को चरम मूल्य घोषित करते सहमते! स्त्री को वासना की लपेट में लेकर गर्भवती बनाने वाले मर्दों की पीठ ठोंकने की जगह तब वे 'प्रेमी-प्रेमिका संवाद' की नायिका की इस प्रतिक्रिया से निश्चय ही सहमत होते—

“काश, ऐसा हो पाता!!! कम-से-कम एक बार, किसी नारी के स्खलन में शुक्राणु की भी कुछ बूँदें होतीं और वह उन्हें किसी पुरुष के उदर में उड़ेल पाती... कम-से-कम एक बार, कोई स्त्री दुनिया के किसी पुरुष को, सिर्फ एक बार, गर्भवान बना पाती...वह गर्भ धीरे-धीरे उसके उदर में आकार ग्रहण करता...उसका पेट गुब्बारे की तरह फूलता जाता...दस महीने तक वह उस बोझ को ढोए फिरता...फिर, प्रसव की दर्दनाक पीड़ा भोगता, छटपटाता, तड़पता, हाथ-पैर पटकता...और अन्ततः, जब शिशु रोता-चीखता, गन्दगी में लिथड़ा, इस धरा पर नमूदार हो जाता, तो वह पुरुष, एक माँ की तरह उसका पालन-पोषण करता...सिर धुनता हुआ, अपने बाल नोंचता हुआ, उसकी गन्दगी साफ करता और बहुत धीरे-धीरे, दिन-ब-दिन, उसे बड़ा होता हुआ देखता...काश, एक बार, दुनिया के किसी मर्द को यह महसूस हो पाता कि उसकी वंश-वृद्धि करने में इस सृष्टि में आदमजात का बजूद कायम रखने में दुनिया की हर औरत को क्या-क्या कष्ट भोगने पड़ते हैं, क्या-क्या यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं...काश, एक बार, कम-से-कम एक बार ऐसा हो पाता।” (पृष्ठ 61)

फिल्म 'साजन की सहेली' में ऐसे ही अनुभव का चित्रण है—कल्पना में मर्द द्वारा बच्चा जनने की प्रक्रिया घटती है। पूरा प्रसंग किन्तु स्त्री की गर्भावस्था को मर्दाना मजाक बनाकर फूहड़ हास्य से दर्शकों को सराबोर करने के लिए गढ़ा गया लगता है। पर, 'प्रेमी-प्रेमिका संवाद' की नायिका का अनुभव यथार्थ तल पर औचित्यपूर्ण है। (मर्द) लोगों को यह औपन्यासिक कल्पना मात्र लग सकता है, परन्तु इज़ाबेला डंकन का यह गर्भानुभव व प्रसव-पीड़ानुभूति तो मिथ्या नहीं होगी न! उन्होंने आत्मकथा में अपना ऐसा अनुभव लिपिबद्ध किया है, जो इस तरह का विलक्षण लेखन है विश्व-साहित्य में। काश! उसके कुछ इन टुकड़ों को भी पढ़कर हमारे धर्मनेता, राष्ट्रवादी नेता महसूस करते—

“बच्चे ने अपनी उपस्थिति महसूस करवानी शुरू कर दी थी। बड़ा अजीब अनुभव था। अपने सुन्दर संगमरमरी शरीर को नरम पड़ते, टूटते, फैलते और बेडौल होते देखना। यह प्रकृति का एक निर्दयी प्रतिशोध है।” (पृष्ठ-153)

“रात की लम्बी निर्दयी घड़ियाँ। बाईं करवट लेटो तो दिल भारी होने लगता है। दाईं तरफ लेटो तो आराम नहीं। आखिर फिर सीधे ही लेटो। बच्चे की ऊर्जा किसी और करवट चैन लेने ही नहीं देती।...मातृत्व के गौरव के लिए हमें कितना मूल्य चुकाना पड़ता है।” (पृष्ठ-153)

अपनी प्रसव-पीड़ा को याद करती इज़ाडोरा लिखती हैं—

“एक दोपहर हम सब चाय की चुस्कियाँ ले रहे थे कि मैंने एक झटका-सा महसूस किया, जैसे किसी ने मेरी पीठ पर कुछ दे मारा हो। और फिर एक भयभीत कर देनेवाली पीड़ा, जैसे कोई मेरी अँतड़ियाँ निकाले दे रहा हो। उस क्षण से यातना शुरू हो गई जैसे मैं, एक असहाय मुजरिम, किसी बहुत बलवान और निर्दयी जल्लाद के हाथों में होऊँ। एक प्रहार से अभी उबरी ही होती कि दूसरा शुरू हो जाता...जैसे कोई मुझको मुझी से अलग कर रहा हो।

यह अनसुनी, असभ्य बर्बरता है कि कोई स्त्री इतनी विकराल यातना सहने को बाध्य हो।...यह बड़ी वाहियात बात है कि हमारे आधुनिक विज्ञान के बावजूद पीड़ा रहित प्रसव एक हकीकत नहीं बन सका है। यह उतना ही अक्षम्य है जितना बेहोशी की दवा दिए बिना पथरी निकालने का ऑपरेशन करना। स्त्रियों में कितना शैतानी धैर्य है, बुद्धि का कितना अभाव है, कि वे इस जंगली नरसंहार की मूक शिकार होती चली जा रही हैं।

दो दिन और रातों तक यह अकथनीय भयावहता जारी रही। तीसरी सुबह उस वाहियात डॉक्टर ने अपने भयानक औजार निकाले और बिना किसी किस्म की बेहोशी की दवा दिए कसाईगिरी करने लगा। मुझे लगता है कि एक रेलगाड़ी के नीचे कुचले जाने के अलावा इसकी किसी और चीज से तुलना नहीं की जा सकती। मेरे सामने किसी नारी आन्दोलन का नाम न लेना, जब तक कि स्त्रियाँ इसे खत्म करने में सफल नहीं होतीं।

...आज भी मैं उसी पीड़ा को याद करती हूँ या कई दूसरी स्त्रियों के भयानक अनुभवों की कल्पना करती हूँ, तो मुझे वैज्ञानिकों के अहंवाद और अन्धेपन पर कोफ्त होती है, जो चाहें तो जरूर स्त्री को इस दर्द से निजात दिला सकते हैं।” (पृष्ठ 156-157)

इज़ाडोरा का इतना बड़ा सन्दर्भ देने का एक और अर्थ है कि वैज्ञानिक या तकनीकी शोध भी लिंग-भेद का शिकार हो सकता है—इससे यह संकेत मिलता है। स्त्री की प्रसव-पीड़ा को पुरुष वैज्ञानिक जब महसूसते नहीं तो, पीड़ाहर उपाय खोजने का जतन क्यों करते? इज़ाडोरा ने इसी कारण उन्हें कोसा है। यद्यपि ये सौ साल पुराने अनुभव हैं उनके और तब से आज तक ढेरों प्रयोग व साधन प्रसव-पीड़ा में स्त्री को राहत देने के लिए आ चुके हैं—तथापि एक आम स्त्री तक इनकी पहुँच अब भी पर्याप्त नहीं हुई है और ढेर सारी स्त्रियाँ इज़ाडोरा की पाँत में ही आज भी हैं। एनाल्जेसिक दवाएँ, एनेस्थीसिया, नर्ब्स ब्लाक विधि, गर्म पानी के टब में स्त्री का बैठकर प्रसव करना, सीजेरियन ऑपरेशन आदि प्रसव-पीड़ा से स्त्री को मुक्त करने की दिशा में सामने आए हैं। परन्तु, यहाँ भी समस्याओं का अन्त नहीं है। सीजेरियन ऑपरेशन स्त्री को बेहोश कर या वह भाग सुन्न कर, फिर गर्भाशय चीरकर होता है। इसमें 1½ घंटा समय लगता है। सफल होने पर स्त्री सबसे अल्प कष्ट में इससे प्रसव कर लेती है। परन्तु ऑपरेशन

के बाद अत्यधिक रक्तस्राव, मासिक धर्म की अनियमितता, कमर दर्द, आँतों में रुकावट, हॉर्निया, घाव के पक जाने आदि से परेशान हो जाती है। लगातार कई बार इसे करवाना खतरनाक भी हो सकता है। कभी-कभी स्त्री बेहोशी के इन्जेक्शन, रक्तस्राव आदि से मर भी जाती है। बार-बार बच्चे पैदा करते स्त्री कितने खतरे उठाएंगी? दूसरी बात, भारत में कुल प्रसव का पाँचवाँ हिस्सा ही इसे पा सका है। 'नर्स ब्लाक' का अर्थ है दवा देकर स्नायुतन्त्र को ब्लाक (रुद्ध) कर देना। इससे स्त्री व बच्चे, दोनों किसी तरह से पीड़ित होने से बच जाते हैं। पर यह विधि भी आम प्रचलन में नहीं है। भारतीय आँकड़ा है कि 40.7 प्रतिशत प्रसव ही अस्पतालों में हो पाता है, जिनमें शहरी व ग्रामीण स्त्रियों का प्रतिशत क्रमशः 69.4 व 31.1 है। (NFHS-III 2005-06) यह केवल अस्पताल-सुविधाओं की कमी का मामला नहीं, बल्कि स्त्री के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण एवं उसके अशिक्षित होने का भी मामला है। अशिक्षित स्त्रियाँ तो सिर्फ 19.89 प्रतिशत ही अस्पताल में पहुँच पाती हैं। 8 से कम साल तक पढ़ीं स्त्रियाँ 45.7 प्रतिशत, 8-9 साल तक पढ़ीं स्त्रियाँ 57.8 प्रतिशत तथा 10 व उससे अधिक साल तक पढ़ीं स्त्रियों का 80.6 प्रतिशत प्रसव कराने अस्पताल में पहुँच पाता है। इसी तरह डॉक्टर, नर्स या किसी प्रशिक्षित व्यक्ति से प्रसव करानेवाली स्त्रियों का प्रतिशत 48.3 है, जो ग्रामीण स्तर पर सिर्फ 39.1 है। ये आँकड़े NFHS-III (2005-06 ई.) के हैं। इनसे पता चल जाता है कि आज भी एक बड़ी संख्या में गर्भवती स्त्रियाँ असुरक्षित प्रसव झेलने को मजबूर हैं। सबसे बड़ी बात कि लाख सीजेरियन आदि उपलब्ध हों या शत-प्रतिशत पीड़ाहर व सुरक्षित प्रसव का दावा किया जाए, पर है तो यह स्त्री-देह की अनावश्यक चीरफाड़ ही। टाँकों के निशान स्त्री को जीवन भर मातृत्व के जख्म की याद दिलाते रहते हैं। यदि गर्भवती न की जाती तो क्या आवश्यकता इसकी थी? इस चीरफाड़ का एक पक्ष तो यह है कि इससे डॉक्टरों को अच्छी कमाई का मौका मिल जाता है, इसलिए सामान्य प्रसव सम्भव होने पर भी वे स्त्री का ऑपरेशन कर डालते हैं। दूसरी बात, जिसकी चर्चा आगे भी होगी, यह है कि जन्मकुंडली के अन्धविश्वासी समाज में पंडित से अच्छा मुहूर्त तय कराके, स्त्री का सीजेरियन कराया जाता है और नवजात बच्चे की वांछित जन्मपत्री बनाई जाती है। एक तीसरा पक्ष भी सम्भावित है। स्त्री-देह को हवस की तृप्ति का सामान माननेवाले इस मर्दवादी समाज में, गर्भवती स्त्री का पति खुद डॉक्टर को सीजेरियन से कमा लेने का ऑफर दे सकता है। कारण, उसे यह 'भय' (?) हो सकता है कि योनि के रास्ते बार-बार प्रसव होने से स्त्री का वह अंग तंग न रह पाएगा। फिर, ढीली-ढाली योनि से काम क्रीड़ा के समय उसे पर्याप्त घर्षण-सुख न मिल सकेगा। यह 'डर' (?) भी मर्द द्वारा पत्नी की देह को अनावश्यक पीड़ा में डाल सकता है। शेष ऑपरेशन तो मनुष्य स्वास्थ्य पर आए किसी संकट से त्राण पाने के लिए कराता है, पर स्त्री पर थोपा गया यह ऑपरेशन विशेष मर्दवादी समाज द्वारा लादे गए उसके गर्भभार के कारण है। फिर जैसा कि ऊपर कहा गया, सीजेरियन के पीछे की मानसिकता भी स्त्री-पीड़ा निवारण की है; यह सन्देह के घेरे से बाहर नहीं है। फिर भी दिनोदिन

सीजेरियन की मात्रा बढ़ती जा रही है।

प्रसव-पीड़ा ही एकमात्र ऐसी पीड़ा है, जो बिना किसी शारीरिक व्याधि के स्त्री को झेलनी पड़ती है। पर, इस पीड़ा का भी अक्सर मजाक उड़ाया जाता है। फिर, यदि पीड़ा महसूसी भी जाती है तो उसे स्त्री की नियति समझा जाता है। इसके पीछे भी धार्मिक परम्परा कारण हो सकती है। जैसे—‘बाइबिल’ की ‘उत्पत्ति’ नामक अंश का यह प्रसंग। अमृत (ज्ञान) का फल खा लेने (और साथी नर को खिला देने) से क्षुब्ध परमेश्वर ने आदि नारी (ईव) को शाप दे दिया कि स्त्री सदा पुरुष की दासी रहेगी और प्रसव-पीड़ा झेलेगी। ऐसी वाहियात स्त्री-द्वेषी गढ़न्तों के कारण स्त्री की प्रसव-पीड़ा को परमेश्वर द्वारा दिया जा रहा दंड समझा जा सकता है और उसे राहत देने का कोई उपाय नहीं किया जाना कर्तव्य।

सामाजिक संरचना स्त्री-विरोधी होने के कारण स्त्री को शरीर चुस्त-दुरुस्त रखने और लचीला बनाए रखने के लिए आवश्यक व्यायाम और योग आदि करने नहीं दिया जाता, खासकर विवाहिता स्त्री को। कारण है—घरेलू कामकाज में फँसाए रखना और उसमें (कसरत, खेल, दौड़ आदि में) स्त्री के जाने को बेइज्जती मानना। फिर, गर्भवती स्त्री के लिए आवश्यक व्यायाम भी करने नहीं दिया जाता। स्त्री देह को प्रथाओं, विश्वासों, परिधानों आदि से इस प्रकार जकड़ दिया जाता है कि जंग सी लग जाती है उसमें। इस कारण माँ बनने पर उसकी प्रसव-पीड़ा और बढ़ जाती है। सामाजिक कारणों से स्त्री के अशिक्षित रहने का प्रभाव भी उसके स्वास्थ्य के लिए घातक होता है। देश-दुनिया की बात छोड़िए, वह अपने शरीर की प्रक्रियाओं व रोगों के बारे में भी नहीं जानती। जानने का समय भी नहीं दिया जाता और बहुत बार तो उसके अज्ञान (खासकर यौन विषयों में) को एक चारित्रिक मूल्य समझा जाता है। उदाहरणस्वरूप NFHS-III (2005-06 ई.) के अनुसार सिर्फ 57 प्रतिशत स्त्री एड्स/एच.आई.वी. के बारे में जानती हैं। जानने का अर्थ यहाँ ‘सुनना’ भर है। वहाँ भी ग्रामीण स्तर पर सिर्फ 46 प्रतिशत स्त्रियाँ ऐसी हैं। फिर, कंडोम से इससे बचाव हो सकता है, यह सिर्फ 34.7 प्रतिशत स्त्रियाँ जानती हैं। ग्रामीण स्तर पर यह आँकड़ा 25.1 है।

अशिक्षा जन्य इन स्थितियों में स्त्री मर्द की हवस झेलती और कुछ उपाय नहीं कर पाती। NFHS-II (1998-99 ई.) का आँकड़ा था कि पीड़ाकारी यौन-सम्बन्ध, सहवास बाद रक्तस्राव व यू.टी.ए. (यूरिनरी ट्रैक इन्फेक्शन) से ग्रस्त स्त्रियों का प्रतिशत भारत में 39.2 है। इनमें 66.9 प्रतिशत मेघालय, 44.2 प्रतिशत बिहार, 38 प्रतिशत उत्तर प्रदेश, 44 प्रतिशत मध्य प्रदेश, 43.2 प्रतिशत राजस्थान की स्त्रियाँ हैं, जबकि कर्नाटक की 18.8, जम्मू-कश्मीर की 6.5 प्रतिशत स्त्रियाँ इस स्थिति में हैं।

मातृत्व के मंच के पीछे देह-यन्त्रणा का गणितीय नेपथ्य

विश्व की अधिकतर स्त्रियों का ‘माँ’ बनना (यानी ‘उन्हें बनाना’) विवाह से सम्बद्ध है। वैसे विवाह पूर्व तथा विवाहेतर वासना चक्रों में भी पीसकर उन्हें गर्भवती बनाने का बड़ा

आँकड़ा है। परिणाम—स्त्री को गर्भपात या बच्चे को लावारिस छोड़ने हेतु बाध्य बनना होता है। NPPW 1998 के अनुसार [1981 की जनगणना के सन्दर्भ में] भारत की 7% लड़कियाँ 10-14 वर्ष की उम्र में तथा 43% लड़कियाँ 15-19 वर्ष की उम्र में ब्याह दी जाती हैं, यानी यौन-जीवन में (विवाह की वैध सीमा में) घसीटी जाती हैं (इसके बाहर कितनी बलात्कृता होती हैं, क्या पता!)। NFHS-III (2005-06 ई.) के अनुसार, 20-24 वर्षीया लड़कियों में से 44.5 प्रतिशत 18 वर्ष तक ब्याह डाली जाती हैं, जिनमें ग्रामीण स्तर पर 52.2 तथा शहरी स्तर पर 28.2 प्रतिशत हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड राज्यों में यह प्रतिशत क्रमशः 53% (ग्रामीण 61, शहरी 30), 60% (ग्रामीण 65.2, शहरी 37.3) एवं 61.2 (ग्रामीण 71, शहरी 33.6) है। यूनिसेफ के (1986-2003 ई. के दौरान किए) आकलन के अनुसार निगार की 77, चाड की 71, बंगलादेश की 65, नेपाल की 56, श्रीलंका की 14, पाकिस्तान की 32 व भारत की 46 प्रतिशत लड़कियाँ ऐसी हैं। कम उम्र में ही इतनी लड़कियों को ब्याह दिया जाना हर तरह से उनके लिए अन्धेरा लाता है। भारत की गर्भ जलवायु के कारण वे चूँकि जल्दी ही (प्रायः 12-13 वर्ष में) प्रजनन-क्षम हुई रहती हैं, अतः असमय गर्भ भार से लद जाती हैं। 15-19 वर्ष की 16 प्रतिशत स्त्रियाँ NFHS-III (2005-06) के दौरान गर्भवती या बच्चे वाली पाई गईं। ग्रामीण स्तर पर यह आँकड़ा 19% तथा अशिक्षित स्त्री वर्ग में 32.6 प्रतिशत तक पाया गया। उत्तर प्रदेश में यह आँकड़ा 14.3 (ग्रामीण 16.3), बिहार में यह आँकड़ा 25 (ग्रामीण 27.6) तथा झारखंड में यह आँकड़ा 27.5 (ग्रामीण 32.7) है। विश्व बैंक द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट के मुताबिक 15-19 वर्ष में माँ बनी लड़कियों का प्रतिशत (2003 ई. में) भारत में 21, बंगलादेश में 35, चाड में 39, माली में 40, नेपाल में 21, निगार में 43 पाया गया। अन्य अपुष्ट स्रोतों से भारत में झुग्गी-झोपड़ियों की 30 प्रतिशत लड़कियाँ 15-19 वर्ष में बच्चे पैदा करने को मजबूर हैं। सम्पूर्ण स्त्री संख्या का 54% बीस से कम उम्र में तथा 25% सत्रह से कम उम्र में माँ बनने को अभिशप्त हैं। अशिक्षाजनित अबोधता के साथ कुपोषण, अत्यधिक कार्यभार और ऊपर से वैवाहिक यौन शोषण व कम उम्र में गर्भाधान के कारण उनका गर्भकाल भी लम्बा खिंच जाता है। इन सबसे वे बहुत भयंकर खतरों में पड़ जाती हैं। NSS या राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण-52 [1995-96 ई.] के अनुसार प्रति हजार स्त्रियों में से 0-14 वर्ष की 26 स्त्री (ग्रामीण स्तर पर 26, शहरी 21) तथा 15-19 वर्ष की 258 (ग्रामीण 256, शहरी 270) सर्वेक्षण के साल भर के दौरान गर्भवती पाई गईं। यह आँकड़ा 20-29 आयुवर्ग के लिए 294 (ग्रामीण 303, शहरी 264), 30-39 आयुवर्ग के लिए 116 (ग्रामीण 130, शहरी 72) 40-49 आयुवर्ग के लिए 23 (ग्रामीण 26 शहरी 12) पाया गया। इस तरह किसी उम्र की प्रजनन-क्षम स्त्री गर्भ भार से बची नहीं थी। समग्र रूप से 50 साल से नीचे की 17 प्रतिशत (ग्रामीण 18.2, शहरी 13.2), स्त्रियाँ सर्वेक्षण के दौरान गर्भवती पाई गईं।

NPPW (1988) के अनुसार भारत में औसतन 8-9 बार गर्भवती होने से स्त्री

प्रजनन-क्षमता काल का 80 प्रतिशत हिस्सा थोपी गई मातृत्व-त्रासदी (जनन+स्तनपान+पालन) में बिताती है। आँकड़ों में धीरे-धीरे कुछ गिरावट आई है, पर अभी भी स्थिति नाजुक है। NFHS-I (1992-93) में प्रति स्त्री का प्रजनन दर 3.39 था; NFHS-II (1998-99) में 2.85 तथा NFHS-III (2005-06) में 2.68 शहरी 2.07, ग्रामीण 2.98) रहा है। ध्यान है कि यह जीवित प्रसव का आँकड़ा है, गर्भवती बनने की आवृत्ति का नहीं। कई स्त्रियाँ तो गर्भस्राव, गर्भपात का शिकार होंगी कई बार उनमें। N.S.S. 16 ने कहा कि स्त्री प्राथमिक शिक्षा प्राप्त या निरक्षर रही तो 6.6 बच्चे, मिडिल तक पढ़ी हो तो 5 बच्चे, मैट्रिक स्तर तक पढ़ी हो तो 4.6 बच्चे उसके औसतन रहे। उससे आगे पढ़ी स्त्री के 2 बच्चे औसतन हुए हैं। NFHS-III (2005-06) ने भी कहा कि अशिक्षित स्त्री की प्रजनन संख्या 3.55, 8 से कम साल तक शिक्षित हुई स्त्री की 2.49; 8-9 साल तक शिक्षित स्त्री की 2.23 तथा 10 या अधिक साल तक शिक्षित स्त्री की 1.91 है। उत्तर प्रदेश की स्त्री की प्रजनन दर 3.82 (शहरी 2.95, ग्रामीण 4.13), बिहार की 4.0 (शहरी 2.87, ग्रामीण 4.22), झारखंड की 3.31 (शहरी 2.32, ग्रामीण 3.69) तथा उत्तरांचल की स्त्री का 2.55 (शहरी 2.21, ग्रामीण 2.67) प्रतिशत है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की (2006 ई. की) मानव विकास रिपोर्ट के अनुसार (2000-05 के दौरान) स्त्री की प्रजनन दर भारत में 3.1, बंगलादेश में 3.2, पाकिस्तान में 4.3 नेपाल में 3.7, भूटान में 4.4, म्यानमार में 2.5, चीन में 1.7, यूक्रेन-बेलारूस आदि में 1.1, श्रीलंका में 2, अमेरिका में 2, रूस में 1.3, जापान में 1.3, सिंगपुर में 1.4, कजाकिस्तान में 2, इण्डोनेशिया में 2.4 है। वहीं निगार में 7.9, अंगोला में 6.8, चाड में 6.7, यमन में 6.2 है। UNO का 2003 का आँकड़ा है कि अफगानिस्तान में 6.8, सउदी अरब में 4.5, इराक में 4.7 तथा अंगोला-सोमालिया आदि अफ्रीकी देशों में 7.2 है। सब मिलाकर आकलन किया जा सकता है कि भारत की कम से कम 51 प्रतिशत स्त्रियाँ 3 बच्चों को जनमाने को मजबूर हैं।

NPPW (1988 ई.) के उल्लेखानुसार, निम्न आयु-समूह की गर्भवती स्त्रियाँ 1100 कैलोरी की कमी से ग्रस्त होती हैं तथा स्तनपान करानेवाली स्त्रियाँ 1000 कैलोरी की कमी से। बहुत से अन्य शोध इंगित करते हैं कि प्रतिदिन 1 स्त्री द्वारा ली जानेवाली कैलोरी उसके द्वारा खपत की गई कैलोरी से 100 कैलोरी कम है, जबकि पुरुषों में यह 800 कैलोरी अतिरिक्त है। भारतीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण द्वितीय (NFHS-II 1998-99 ई.) के अनुसार, 51.8% भारतीय विवाहिताएँ एनीमिया (रक्ताल्पता या खून की कमी) से ग्रस्त हैं। बिहार, असम, मध्यप्रदेश, जम्मू-कश्मीर व केरल में यह आँकड़ा क्रमशः 64.4, 69.7, 54.3, 58.7 व 22.7 है। NFHS-III में विवाहिताओं में एनीमिया ग्रस्तता 56.2 (ग्रामीण 58.2, शहरी 51.5) है। यानी, शहर व ग्राम की स्त्रियों के पोषण में बदहाली लगभग समान है। NFHS III का यह आँकड़ा बिहार, उत्तरांचल, झारखंड व उत्तर प्रदेश में क्रमशः 68.3, 47.6, 70.4 व 50.8 है। NFHS-II व NFHS-III में गर्भवती स्त्रियों में एनीमिया ग्रस्तता का प्रतिशत क्रमशः 49.7 व 57.9 है। NFHS-III

का यह आँकड़ा ग्रामीण व शहरी स्तर पर 59.0 व 54.6 है। बिहार, उत्तरांचल, झारखंड व उत्तर प्रदेश में यह आँकड़ा क्रमशः 68.3, 47.6, 70.4, 50.8 है। गर्भवती स्त्रियों में एनीमिया का प्रतिशत NFHS-III में, अशिक्षित स्त्री के लिए 63 व किसी हद तक पढ़ी स्त्री में 53-54 प्रतिशत है। इसी सर्वेक्षण के अनुसार, भारत की 33 प्रतिशत स्त्रियों का 'बॉडी मास इण्डेक्स' सामान्य से कम है, जो शहरी स्तर पर 19.8 तथा ग्रामीण स्तर पर 33.8 प्रतिशत स्त्रियों में है। उत्तरांचल, बिहार, झारखंड, उत्तर प्रदेश में यह प्रतिशत क्रमशः 25.7, 43.0, 42.6 व 34.1 है।

भारत में गर्भवती स्त्री की देखभाल सम्बन्धी आँकड़े भी बेहद असन्तोषजनक हैं। 'यूनिसेफ' की रिपोर्ट के अनुसार 1995-2003 ई. के दौरान गर्भावस्था में स्त्री की देखभाल का प्रतिशत भारत में 60 है। बाकी कुछ देशों की स्थिति इस प्रकार है—

इराक 77%, कम्बोडिया 38%, माली 42%, अफगानिस्तान 37%, बेलारूस 100%, आर्मेनिया 92%, संयुक्त अरब अमीरात 97%, श्रीलंका 98%, तुर्कमेनिस्तान 98%, अल्बानिया 95%, बोस्निया-हर्जेगोविना 99%, जार्जिया 95%, सउदी अरब 90%, पाकिस्तान 43%, नेपाल 28%, बांग्लादेश 40%, अजरबैजान 69%, ईरान 77%, म्यांमार 76%, चीन 90%, क्यूबा 100%।

NSS-52वाँ (राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण-52) के अनुसार प्रसव पूर्व देखभाल के लिए पंजीकृत स्त्रियों का प्रतिशत 41.1 (शहरी 65.5, ग्रामीण 45.5) रहा। NFHS-II के अनुसार प्रसव पूर्व चेकअप भारत में सिर्फ 65.4 प्रतिशत स्त्रियों का होता है। जिनमें बिहार का आँकड़ा 36.3 है, उत्तर प्रदेश का 34.6, मध्यप्रदेश का 61 और राजस्थान का 47.5 है। यही आँकड़ा कर्नाटक, पश्चिम बंगाल, मिजोरम, गोआ, तमिलनाडु व केरल का क्रमशः 86.3, 90, 91, 99, 98.5, 98.8 है।

प्रसवपूर्व 3 बार तक देखभाल चेकअप पानेवाली स्त्रियों का प्रतिशत NFHS प्रथम, द्वितीय व तृतीय में क्रमशः 43.9, 44.2, 50.7 है। N.S.S. 52 के अनुसार प्रसवपूर्ण टेटनस के टीके पाने से वंचित स्त्रियाँ 1000 पर 370 (ग्रामीण-408, शहरी-408) हैं। टेटनस टीका 1 बार पाने वाली स्त्रियाँ 193 (ग्रामीण 185, शहरी 232) तथा 2 बार पाने वाली स्त्रियाँ 381 (ग्रामीण 353, शहरी 506) हैं। NFHS-II के अनुसार टेटनस टीका प्राप्त माँएँ भारत में 66.8 प्रतिशत रहीं [बिहार में 57.8]। प्रसवोत्तर देखभाल हेतु पंजीकृत की गई माताएँ NSS-52 के अनुसार 32.1 प्रतिशत रहीं। प्रसवोत्तर देखभाल (2 दिन तक) डॉक्टर-नर्स आदि द्वारा NFHS-III के अनुसार सिर्फ 34.4 (शहरी 60.7, ग्रामीण 28.1) स्त्रियों की होती है। अशिक्षित स्त्रियों में यह प्रतिशत सिर्फ 17.6 है। NFHS-II के मत से आइरन व फोलिक एसिड के टैबलेट पानेवाली माताएँ 57.6 रही हैं, जिनमें उत्तर प्रदेश में 32.4 तथा बिहार में सिर्फ 24.1 रहीं। NFHS-III के अनुसार गर्भवती व प्रसव कर चुकीं स्त्रियों में से 22.3 प्रतिशत [ग्रामीण 18.1, शहरी 34.5] ही I.F.A पाती हैं। अशिक्षित स्त्रियों में यह प्रतिशत सिर्फ 9.5 है।

जैसा कि पीछे प्रस्तुत किया गया, आज भी बड़ी संख्या में स्त्रियाँ असुरक्षित ढंग

से प्रसव करने को बाध्य हैं। NFHS प्रथम, द्वितीय व तृतीय में अस्पताल में प्रसव कराने वाली स्त्रियाँ सिर्फ 26.1, 33.6 व 40.7 क्रमशः रही हैं। इसी तरह किसी प्रशिक्षित कर्मचारी, चिकित्सक, नर्स आदि द्वारा प्रसव करानेवाली स्त्रियों का नवीनतम आँकड़ा 48.3 प्रतिशत है। (NFHS-III 2005-06)। इनमें ग्रामीण स्तर पर सिर्फ 39.1 और अनपढ़ स्त्रियों में यह प्रतिशत 27.2 है।

एक आकलन के अनुसार गर्भावस्था में 1 लाख पर 4-5 सौ स्त्रियाँ भारत में मौत की भेंट चढ़ने को बाध्य हैं, जिनमें 15-20% सिर्फ खून की कमी से मरती हैं। NFHS II (1998-99) के अनुसार प्रतिवर्ष 1 से 1.20 लाख स्त्रियाँ भारत में गर्भावस्था सम्बन्धी कारणों से मरने को मजबूर हैं। 1998 ई. में यह आँकड़ा प्रति लाख गर्भवती स्त्रियों पर 407 था। 1998-99 के दो वर्षों के सर्वेक्षण काल में 540 (ग्रामीण स्तर पर 619, शहरी 267) था। यह आँकड़ा थोड़ा पहले का है तथापि विश्व के अधिकतर देशों से अधिक है। 2000 ई. [UNDP (संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम) द्वारा जारी] की 'मानव विकास रिपोर्ट' के अनुसार भारत में 407, वियतनाम में 160, श्रीलंका में 130, चीन में 65 व क्यूबा में 27 मातृत्व व प्रसव-मौतों का आँकड़ा है। 2006 ई. के 'संयुक्त राष्ट्र संघ' की 'मानव विकास रिपोर्ट' के अनुसार 1990-2004 के दौरान मातृत्व मृत्यु दर (प्रति लाख पर) इस प्रकार है—

भारत	540	तजाकिस्तान	100
बांग्लादेश	380	नांर्वे	16
भूटान	420	स्वीडन	2
म्यांमार	360	ग्रीस	9
नेपाल	540	जर्मनी	8
इथियोपिया	850	कुवैत	5
बुरुण्डी	1000	क्रोशिया	8
तंजानिया	1500	अमेरिका	17
अंगोला	1700	रूस	67
जिम्बावे	1100	श्रीलंका	92
केनिया	1000	लक्जमबर्ग	28
रुआंडा	1400	उजबेकिस्तान	24
युगांडा	880	सियारालियोन	2000
निगार	1600		

2000 ई. की मानव विकास रिपोर्ट के अनुसार अफगानिस्तान में मातृत्व मृत्यु दर सर्वाधिक 1900 रही है। गर्भाधान से प्रसव के 40 दिनों के भीतर, गर्भकारणों से हुई स्त्री की मौत 'मातृत्व-मौत' कहलाती है। भारत में सर्वाधिक उत्तर प्रदेश की स्थिति खराब है, जहाँ मातृत्व मृत्यु दर प्रति लाख 707 रही है। पूरे देश में प्रति दिन 300 स्त्रियाँ

मातृत्व-मृत्यु की शिकार होती हैं। एक अपुष्ट आँकड़े के मुताबिक संसार की कुल मातृत्व मौतों का 27% भारत में होता है। (स्रोत—‘इतिहासबोध’ 2007 फरवरी-मार्च में प्रकाशित कैरल एस. कार्नाड का लेख)। इस प्रकार सर्वाधिक संख्या में मातृत्व मौत भारतीय स्त्रियों को झेलनी पड़ती है। एक अन्य स्रोत से भारत में प्रतिवर्ष 1.4 लाख स्त्रियाँ रक्तस्राव से, 75000 प्रसव-पीड़ा की ऐंठन से मस्तिष्क व गुर्दे में विकार होने से, 4000 प्रसव-रुद्ध होने से, 1 लाख स्त्रियाँ अनुपचारित गर्भाशय या भ्रूण के लोथड़ों से पैदा हुए बुखार से मर जाती हैं। एक आकलन के अनुसार कुल मातृत्व मौतों का 29.6% रक्तस्राव के कारण, 16.1% पूरपरेल जटिलताओं के कारण, 9.5% प्रसव-अवरोध के कारण, 8.9% गर्भधारण की विषाक्तता के कारण, 19% रक्त की अल्पता (एनीमिया) के कारण तथा अन्य कारणों से 8.4% होता है (‘कुरुक्षेत्र’ मार्च 2007)। आँकड़ों में ऊँच-नीच हो सकती है, परन्तु इतना स्पष्ट है कि माँ बनने जा रही स्त्री का जीवन भीषण सन्देह के घेरे में आ जाता है। तभी तो बीमा कम्पनियाँ किसी महिला [खासकर गर्भवती] हेतु बीमा करने में कम रुचि लेती हैं। कारण, भारत में मातृ-मृत्युदर दुनिया के अधिकतर देशों से ऊँची है। ‘जनसत्ता’ (24-01-07) व ‘हिन्दुस्तान’ (17-02-07) की खबरों के अनुसार भैंस से भी बुरी हालत में एक आम स्त्री है, क्योंकि स्त्री की तुलना में भैंस का बीमा करवाना ज्यादा लाभदायक समझा जाता है। कम्पनियाँ भारत में स्त्री स्वास्थ्य के खस्ताहाल से भयभीत हैं, अतः बीमा करती भी हैं तो उनका प्रीमियम अधिक भरवाती हैं। इस प्रकार स्त्री को ‘माँ’ बनाने की राह पर ठेलकर, पुरुष सत्ता उसे सबके लिए अविश्वसनीय बना देती है।

स्त्री की मातृत्व-कामना नहीं, केवल मातृत्व-क्षमता है प्राकृतिक

इस प्रकार स्पष्ट है कि ‘माँ’ बनने की कितनी बड़ी कीमत एक स्त्री दैहिक स्तर पर चुका रही है। जहाँ इतने खतरे सम्भावित हैं, वहाँ कौन सी स्त्री स्वेच्छा से माँ बनना चाहेगी? शिक्षा, कैरियर के चौपट होने की चिन्ता छोड़कर यदि शारीरिक स्तर पर ही सोचा जाए तो स्त्री, जो मूर्ख से मूर्ख है, वह भी माँ बनने को तैयार न होगी। नौ-दस मास गर्भ ढोते हुए ही क्या कोई कम परेशानी होती है? गर्भावस्था के प्रारम्भिक दो महीनों तक मतली या उलटी आती रहना, बार-बार पेशाब लगना अथवा गर्भकाल के दौरान पहले से विद्यमान कब्ज-बवासीर आदि का बढ़ जाना—ये ही क्या कम कष्ट हैं? गर्भ के कारण मूत्रीय प्रणाली पर अतिरिक्त दबाव पड़ता है, जिससे बार-बार पेशाब लगती है। मूत्रवाही नलियाँ भी फूल जाती हैं, जिससे मूत्र निकास धीमा हो जाता है, फलतः UTI (यूरिनरी ट्रैक इन्फेक्शन) का खतरा बढ़ जाता है। प्रसव के वक्त जरा सी भी असावधानी से कुछ हानिकर जीवाणु मूत्राशय तक जाकर भी यह रोग पैदा कर देते हैं। यह तो तब होता है जब गर्भवती की देखभाल अच्छी की जाए। यदि हमारे जैसे कई देशों की स्थिति हो (यानी, गर्भवती को भगवान भरोसे छोड़ देने का शानदार आध्यात्मिक रिकार्ड हो) तो क्या कहना? एक तो गर्भ-जन्य बोज़, पीड़ा आदि, ऊपर से

खान-पान, दवा आदि की कमी, तीसरे गृहकार्य का भार, चौथे उस पर भी पतिव्रता (यानी पति की हर हवस के प्रति समर्पित) बनने का बोझ और पाँचवें प्रसव-पीड़ा व प्रसव-मौत का डर! इतना सब कुछ जहाँ निश्चित प्राय है; वहाँ कौन सी स्त्री 'माँ' बनना चाहेगी? व्यक्तित्व-विकास के सारे द्वार बन्द होने के जहाँ खतरे हैं; वहाँ कौन सी विचार वाली स्त्री गर्भाधान हेतु तैयार होगी? बेशक कोई भी नहीं। सही बात तो यह है कि प्रकृति ने स्त्री को माँ बनने की क्षमता भर दी है, माँ बनने की इच्छा नहीं। यदि किसी प्रकार की 'बाध्यता' की बात करें तो वह उतनी ही बाध्यता थी, जितनी किसी के रुग्ण हो जाने पर मरने की बाध्यता। प्रकृति ने रोग की सम्भावना रखकर उसके उपचारार्थ प्रयत्नशील होने का भी तो अवकाश रखा था। इसी प्रकार (यौन-क्रिया वश) गर्भाधान हो जाने की सम्भावना रखकर प्रकृति ने उसे टालने हेतु प्रयत्नशील होने का भी तो अवकाश रखा। गर्भ-निरोधक के विकास से स्त्री के लिए रही-सही इस बाध्यता का भी अवसान हो गया है। समग्रतः, स्त्री का माँ बनना पूरी तरह सांस्कृतिक घटना है। प्राकृतिक सिर्फ उसकी यौनेच्छा है। पर, क्या ही विडम्बना है कि उसके प्राकृतिक अधिकार का नाना कुतर्कों एवं सभ्य-बर्बर तरीकों से आज तक दलन होते आया है; जबकि उसे 'माँ' बनाने की सांस्कृतिक मर्दानगी व बर्बरता का नित विस्तार होते आया है। जनसंख्या-समस्या उसका प्रमाण है। रतिक्रिया स्त्री के लिए आनन्ददायी हो सकती है, इसका उसे आभास तक नहीं होने दिया गया और सृष्टि के आदि-युग से ही पुरुष स्त्री को इस सुख से वंचित रखता आया है। इसके बरक्स, वह स्त्री को अपने यौनानन्द व उत्तेजना-शान्ति का जरिया बनाकर उस पर गर्भ लादता रहा। यदि विशेष प्रकार की शिक्षा व मूल्य-बोध लड़की में प्रविष्ट न कराया जाए और उसे बिल्कुल पुरुष बराबर शिक्षा ज्ञान के हर अनुशासन में लेने की छूट बनी रहे तो लड़की एक सफल या सुयोग्य मनुष्य बनने का विकल्प वरेगी; न कि जनसंख्या-वृद्धि की घरेलू मशीन बनने एवं पुरुष-विशेष की दासी बनने की बाध्यता। 'शिक्षा' की बात छोड़िए, सामान्य से सामान्य स्त्री भी देह पीड़ा का ख्याल कर 'माँ' बनने को तैयार न होगी, यदि उसे 'प्रलोभन' (माँ बनना स्त्री की चरम सार्थकता है, आनन्ददायक कृत्य है, पुण्यमयी घटना है आदि कहना) से छला एवं 'भय' (बाँझ, कुलटा आदि गालियाँ पाने एवं पितृसत्तात्मक व्यवस्था में सुविधा वंचित कर दिए जाने का भय) से दला न जाए। आज जापान की युवतियों का एक बड़ा वर्ग न विवाह की सीमा में बँधना चाहता, न बच्चे पैदा करना—तो बात स्पष्ट हो जाती है। 26-02-05 के 'हिन्दुस्तान' अखबार की खबर के अनुसार 74% जापानी स्त्रियाँ अविवाहित रहकर जिन्दगी का भरपूर लुत्फ उठाना चाहती हैं। वहाँ पर माँ बनने की औसत उम्र 27 वर्ष हो गई है। ब्रिटेन व जर्मनी का यही किस्सा है। वहाँ इसकी औसत उम्र 26-27 वर्ष है।

बच्चा जनमा कर उसकी माँ या धात्री बनना स्त्री के ढेर सारे अनुभव-क्षेत्रों में से एक है, पर यही उसका एकमात्र अनुभव क्षेत्र नहीं है। जिस भी विद्वान (?) या दार्शनिक परम्परा ने 'स्त्री केवल माँ है, श्रद्धा है' आदि शब्दों में शोरगुल किया वह पुरुषवादी

फतवेबाज है। उसके लिए 'भोग' के सारे द्वार बन्द कर केवल 'त्याग' (यहाँ तक कि प्राण त्याग) की मजबूरी में डाल देने का यह दुष्कर्म है। स्त्री केवल 'माँ' यानी जनन-मशीन एवं पालन गृह बनकर पूरी नहीं हो सकती। उसमें भी अनन्त सम्भावनाएँ हैं मनुष्यता की -बुद्धि, भावना-कल्पना, देह, बल आदि सभी क्षेत्रों में। उसके ढेर सारे अनुभव क्षेत्र हैं, जैसे कि पुरुष के हैं। अब स्त्री चाहे तो इस विशेष अनुभव क्षेत्र—'माँ' बनने का क्षेत्र (जो पुरुषों की तुलना में एक अधिक व विशिष्ट क्षेत्र है)—को पा सकती है; न चाहे तो नहीं। न एक इसी में पूरी है वह, न इस एक के बिना अधूरी। मगर हाँ, वह शेष सारे अवसरों को छोड़ एक इसी में सिमट जाए तो जरूर वह अधूरी रह जाएगी। वह अधूरापन एक स्त्री के पूर्ण मनुष्य न बनने का अधूरापन होगा। स्त्री चाहे तो 'माँ' बनने के अनुभव में उतर सकती है और सन्तान-निर्माण का सर्जन सुख (जो अधिकतर सांस्कृतिक है) पा सकती है—जैसा कि इज़ाडोरा ने पाया था; जिसके आगे उन्हें कैरियर भी एकबारगी तुच्छ लगा था। परन्तु, इतना तय है कि माँ बनना तय करते ही स्त्री अपनी देह, मन व आत्मा के स्तर पर एक बड़ी कीमत चुकाने को तैयार हो जाती है। उसका यह त्याग महान् होता है। ऐसा त्याग करने या न करने को वह स्वतन्त्र है। परन्तु, स्वतन्त्रता शब्द का भी हम गलत अर्थ समझ बैठते/बैठती हैं। ऐसा क्यों नहीं सोचा जाता कि स्त्री की सन्तानेच्छा उसके स्वतन्त्र मन की स्वतन्त्र चाह की जगह उस मन पर सदियों से जमाए गए पितृसत्तात्मक मूल्यों, मान्यताओं का एक विकार है; जो बार-बार घटने से अब सहज प्रवृत्ति सा लग रहा है? स्त्रियाँ स्वेच्छा से सती होती थीं या हैं, तो क्या सचमुच स्वेच्छा से सती होती थीं या हैं? दुःख यही है कि अब तक स्त्री से जबरन कराए गए हर त्याग का महिमामंडन किया गया तथा इस प्रकार उसके शोषण को वैध बना दिया गया है। विवेकानन्द गांधी-विनोबा जैसे मनीषी और जैनेन्द्र जैसे साहित्यकार भी इस गलती से बच नहीं पाए। स्त्री यदि कन्या-गर्भपात कराकर पुत्रवती होना चाहती है तो क्या यह भी उसका स्वतन्त्र वरण है? व्यक्तिगत इच्छा है? व्यक्तिगत इच्छा तो तब होती जब स्त्री व्यक्ति होती। स्त्री तो साधन बनी हुई है। 'पुत्रेष्टि यज्ञ' की परम्परा में पुत्र-जनन करने का हिंसक दबाव उस पर है। पुत्र न होने पर अमानवीय स्थिति में डाल दिए जाने के भय और पुत्र जनमा लेने पर प्रतिष्ठित, सुविधायुक्त हो जाने का प्रलोभन उसे पुत्र के लिए पागल होने पर विवश करता है। अन्यथा, कौन स्त्री अपनी ही जात (कन्या) को उपेक्षित करने का असहज-अपकर्म करेगी? पितृसत्तात्मक संरचना में अपने अधिकार की लड़ाई लड़ने एवं अपने ऊपर हुए जुल्मों के प्रतिशोध हेतु भी एक साधन तैयार करने के लिए स्त्री बेटा चाह सकती है। 'मेरा पुत्र राजा बने' की चाह वाली कैकेयी या सत्यवती बनने की परम्परा के सन्दर्भ को ठीक-ठीक समझने की जरूरत है। हक या बदले की लड़ाई में कई बार स्त्री बेटी भी चाह सकती है; पर ऐसा करना दुस्साहसी कदम होगा क्योंकि उसे अपना योग्य साधन बनाने में उसे नाकों चने चबाने पड़ेंगे। इसलिए बेटी चाहना विरल स्थिति होगी उसके लिए। हाँ, बेटी हो गई है तो उसे अपने स्वप्न, हक या बदले की लड़ाई के लिए औजार बनाने में स्त्री

प्राणपण से लग सकती है—जैसे ‘दमन’ फिल्म की रवीना टंडन। इस समग्र विवेचन का कथ्य यही है कि प्रकृति ने स्त्री को प्रजनन-शक्ति देकर उसके उपयोग की स्वतन्त्रता प्रदान की है—परन्तु, सदियों से जमी, पितृसत्तात्मक धर्म व समाज की व्यवस्थाओं ने [मर्द को यौन-सुख और बेटा देने के लिए] उसकी इस स्वतन्त्रता को छीन लिया तथा उसे प्रजनन-यन्त्र बनाकर न सिर्फ व्यक्तित्व-नाश व प्राण-नाश के मार्ग पर ठेल दिया है; बल्कि आबादी-वृद्धि की समस्या भी पैदा कर दी है।

‘माँ’ को ‘बाह’ के पीछे ‘बेटे’ की चाह

‘माँ’ की महिमा बखानने में पागलपन एवं बेहोशी की हद तक गई संस्कृति का सच है बड़ा घिनौना। ‘माँ’ बनना यदि सचमुच इतना पवित्र कर्म है, अभिनन्दनीय है तो अनब्याही माँओं की अकल्पनीय-अमानवीय फजीहत समाज क्यों कर डालता है? या तो उन्हें कुन्ती बनकर संतति-त्याग की जघन्यता को विवश होना पड़ता है अथवा उन्हें खुद दुनिया से गुम होना पड़ता है या गुम कर दिया जाता है। ‘माँ बनना यदि इतना ही प्रशस्त कर्म है तो कन्या जनमानेवाली स्त्रियाँ क्यों लांछित होती हैं, क्यों पोषण विहीन कर दी जाती हैं अथवा क्यों कन्या-वध या मादा भ्रूणों के गर्भपात हेतु टॉचर की जाती हैं? यदि माँ बनना इतनी ही पुण्यमयी या चरमसार्थक घटना है तो वासनान्ध मर्दों के बलात्कारी हादसों से गर्भवती की गई स्त्री क्यों दुरदुराई जाती है, फिर उसकी सन्तान भी उसी स्थिति में डाल दी जाती है? याद करें ‘चानी’ और ‘पिंजर’ फिल्में। क्या ‘बलात्कार’ के कारण यह दुत्कार है? तब तो दुत्कार मर्द (बलात्कारी) का होना चाहिए था। यदि ऐसा ही है तो विवाह-संस्था में, उसी प्रकार के [पर ‘वैध’] बलात्कार से गर्भवती बनी स्त्री के मातृत्व को क्यों स्वीकार लिया जाता है? और यदि उसने बेटे को जन्म दे दिया, तो क्यों जयकार होती है उसकी? इन सब बातों से एक ही अर्थ निकलता है—स्त्री के ‘माँ’ बनने की यह जयकार नहीं है, बल्कि समाज द्वारा चयनित या मान्यता प्राप्त किसी पुरुष विशेष की वैवाहिक मुहर (सिन्दूर) स्त्री द्वारा लगवाकर, उसका वंश (?) चलाने हेतु, उसे बेटा देने की जयकार है। बाध्य और खंडित मातृत्व का यह गौरव भला कौन सा गौरव है? स्वयं वरण किया हुआ यह मातृत्व नहीं कि किसी हद तक आत्मगरिमा का उदय भी हो स्त्री में।

अक्सर स्त्री का माँ बनना ‘पुरुष (पति) द्वारा थोपी गई अन्धी हवस+स्त्री (पत्नी) की (गलत सामाजिक संरचना की मजबूरी एवं कुशिक्षा से बनी) लतखोरी प्रवृत्ति’ का नतीजा है और सन्तान इस प्रकार एक बाइप्रोडक्ट है। परन्तु, कितनी विडम्बना है कि इस नाजायज सम्बन्ध से पैदा सन्तान को ‘जायज’ कहा जाता है। लेकिन, प्रेमी-प्रेमिका के ‘दो जुड़वा आत्माओं के प्रेम-मिलन रूप’ सम्बन्ध से सुफलित सन्तान ‘नाजायज’ के कूड़ेदान में फेंक दी जाती है। सबसे बड़ा सच तो वही है जो फिल्म ‘धूल का फूल’ में बूढ़ा (मनमोहन कृष्ण) कहता है—“बच्चे नाजायज नहीं होते, नाजायज होते हैं माँ-बाप”। यदि माँ-बाप का मिलना प्रेम का है, तो वे भी क्यों नाजायज होंगे? यदि

वे अपनी सन्तान के प्रति जिम्मेवार बने रहते हैं तो क्यों नाजायज होंगे वे भी? पर यदि ऐसा नहीं है तो इस सामाजिक संरचना में अक्सर नाजायज है बाप (मर्द), क्योंकि वही माँ (स्त्री) पर व्यभिचार थोपकर चलते बनता है और स्त्री को कुन्ती बनना पड़ता है।

धर्मशास्त्र है कि स्त्री के 'माँ' यानी 'पुत्रवती' बनने के गुण गाए जाता है। पवित्रतम भाषा में पुरुष को उपदेश करता है तो कहता है—'पुत्रार्थे क्रियते भार्या'—यानी पुत्र के लिए पत्नी की जाती है। यानी, विवाह करता है मर्द; उसका साधन है स्त्री। विवाह का उद्देश्य है बेटा पैदा करना; ताकि पुरुष का वंश चले। स्त्री और कुछ नहीं, पुत्र परम्परा जारी रखने की मशीन है, जिसका ऑपरेटर है पुरुष या आदिकाल से तना चला आ रहा पुरुष का शिश्न। तभी तो 'मनुस्मृति', 'कुरान' आदि ढेर प्राचीन परम्पराएँ पुरुष को यौन-क्षुधा हेतु बहुविवाह की निर्लज्ज छूट दिए हुई हैं। राजपूती वीरता की परम्परा में स्त्रियों का काम वीर पुत्रों को जनमाना भर बना दिया गया था—वीर प्रसविनी माँ बनने की सीख दी जाती थी। वीर पुत्र, वे जो युद्ध-भूमि में दुश्मन को चीं बुलवा दें अथवा खेत आ सकें। युद्ध क्या होते थे? अक्सर क्षुद्र अहंभावना (यानी मर्द होने के अहसास) के उबलने पर अथवा (अपने से पर्याप्त छोटी) किसी नाजुकबदन लड़की को हथियाने के लिए विवेकहीन टकराहट। स्त्री-विशेष की देह-सामान्य की छीना-झपटी की इस बेमतलब की, शर्मनाक लड़ाई में राज्य झोंक दिए जाते थे और इसमें काम आने लायक बहादुर बेटों का रेला खड़ा करने हेतु स्त्रियों को फैक्टरी बना दिया जाता था। मर्दानगी के इस विस्फोटक रूप [दुश्मन को युद्धभूमि में और स्त्री को बिस्तर के काम-युद्ध में परास्त करने की क्षमता] की उचित आलोचना किए बिना क्या जनसंख्या-समस्या का विमर्श किसी न किसी अंश में अधूरा नहीं रहेगा?

देह-मुक्ति की राह में स्त्री को गर्भपात अधिकार

वासनार्थ स्त्री की देह और पुत्रार्थ उसकी कोख पर कब्जा करने की मर्दानगी ने औरत को गर्भ का यातनामय पर्याय बना दिया। फिर, उसके द्वारा गर्भ-निरोध के किसी उपाय के अपनाने पर भी धार्मिक-सांस्कृतिक रोक लगाए रखी; जबकि अपनी जरूरत पर पुरुष सत्ता जन्म-निरोध के साधन भी भीतर-भीतर खोजते रही। इन्द्रिय निरोध न कर सकने की उसकी असमर्थता ने गर्भ-निरोध की जरूरत तक उसे पहुँचाया। पर, स्त्री की जरूरत उसकी प्रेरणा न थी; बल्कि मर्द की आर्थिक बाध्यता कारण थी—जो कि इस पुस्तक का प्रस्थान बिन्दु है। इसी परिप्रेक्ष्य में स्त्री के गर्भपात की मीमांसा करनी चाहिए।

हमारे देश में गर्भपात 1972 ई. में वैध बन गया था, पर आज तक स्त्रियों का एक विशाल वर्ग सस्ते व बर्बर ढंग से कसाइयों के हाथ गर्भपात कराने को मजबूर है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार हर साल 15-19 वर्ष की 50 लाख लड़कियाँ असुरक्षित गर्भपात के लिए मजबूर हैं। कारण—'माँ' बनने के महिमामंडन एवं गर्भ-निरोध, गर्भपात पर निषेध की परम्परा। इसकी गिरफ्त में स्त्रियों का बड़ा वर्ग है। वह चाहे कि थोपे जा रहे या थोपे गए गर्भ की पीड़ा से मुक्त हो जाए, तो

उसे अनुमति नहीं। पर, वही पुरुषवादी पाखंड देखिए कि प्राचीन समय से ही अपने हित के लिए गर्भ गिराने की विधियों की भी खोज होती रही है। अरस्तू ने जनसंख्या-नियन्त्रण हेतु गर्भपात तक का समर्थन किया। उसी तरह ग्रीक कवि हेसियड, प्लिनी सबका मत था। पर स्त्री की स्वतन्त्रता की दिशा में गर्भपात के उसके अधिकार की स्वीकृति न थी वह। इसी तरह आज कन्या-भ्रूण-हत्या में गर्भपात की स्वीकृति है। स्त्री के हित में यह स्वीकृति नहीं है। सवाल है—गर्भपात की नौबत ही क्यों आए? अवश्य अच्छा होता यदि ऐसा होता। पर, औरत की देह को भोगने की खुली लाइसेंस धर्म-परम्परा व समाज ने जब मर्द को दे रखी है तो गर्भ-दुर्घटना से त्राण पाने हेतु स्त्री गर्भपात क्यों न कराए? सर्वप्रथम हवसी संस्कृति पर लगाम कसो, तब औरत को कुछ सलाह देना। समाज का एक बड़ा हिस्सा धार्मिक जकड़बन्दी में पड़ा होने से स्त्री को गर्भ-निरोधक अपनाने के प्रति भी हतोत्साह करता है, तो उसे गर्भपात का अधिकार कैसे दे सकता है?

गर्भपात का इस तर्क पर विरोध करना कि 'भ्रूण चाहे एक दिन का भी हो, उसमें जीवन है और जीव हत्या पाप है'—एक अजीब प्रकार का पाखंड है। गर्भपात विरोधी सारे धर्मनेता वस्तुतः स्त्री-कोख पर पुरुष की दादागिरी के समर्थक हैं। इनके द्वारा छेड़े गए 'कन्या भ्रूण हत्या' विरोधी आन्दोलनों से खुश होने की जगह, थोड़ा ठंडे मन से हमें यह सोचना चाहिए कि अपनी प्रजनन-शक्ति के उपयोग की स्वतन्त्रता [बच्चे पैदा करें या कितने पैदा करें या न करें—की स्वतन्त्रता] अथवा यौन स्वतन्त्रता का स्त्री द्वारा उपयोग करते देखकर ये इतने हिंसक (वचन से ही नहीं, कर्म से भी) क्यों हो उठते हैं? एक दिन के भ्रूण में भी उन्हें जीवन दिखता है, परन्तु एक जिन्दा स्त्री में उन्हें जीवन का कोई अंश नहीं दिखता। उसे वे धर्मनायक पुरुष की यौन-दादागिरी के तहत गर्भ ढोते, बच्चा-दर-बच्चा जनते, पालते चौपट होते व मरते देखकर भी नहीं पसीजते; पर 'भ्रूण में जीवन' के दर्शन पर घड़ियाली आँसू बहाते हैं। वे यह भी नहीं देखते कि उनके ऐसे प्रतिबन्ध से हर साल 7000 से 200000 तक औरतें गैर कानूनी गर्भपात को मजबूर होकर मर जाती हैं। 'स्टेम सेल शोध' का भी विरोध वे इसी तर्क पर करते हैं कि एक दिन के भ्रूण में भी जीवन है, उसे नष्ट करके स्टेम सेल पाना जीव हत्या हुई! वाह रे! यह तो जीव हत्या है, पर लाखों-करोड़ों जनों को असाध्य रोगों से मरने देना जीव हत्या नहीं है? मांस-लोलुपता या धार्मिक रूढ़ियों के तहत पशु-पक्षियों की हत्या या कुर्बानी (बलि) जीव हत्या नहीं है? कितना बड़ा ढोंग है। यह तो आज तक निश्चित न हो पाया कि भ्रूण में जीवन का प्रारम्भ कब से माना जाए? एक दिन के भी भ्रूण को जीवित मानने वाले यह क्यों नहीं सोचते कि उस प्रकार का जीवन शुक्राणु, अंडाणु या जीवाणु (बैक्टीरिया) सबमें है। तो, इन्द्रिय-संयम के तहत (शुक्राणु, अंडाणु) या स्वास्थ्य-सुधार के अन्तर्गत (बैक्टीरिया) उनके नाश में भी जीव हत्या है। यदि एक जीवित स्त्री की जान या कैरियर बचाने के लिए, उस पर जबरन लादे गए, कुछ समय के गर्भ को गिराया जाता है तो बुरा क्या है? ठीक है कि Sex-selective-abortion [यानी लिंग-परीक्षणोपरान्त

मादा गर्भ सिद्ध होने पर उसका गर्भपात] का समर्थन नहीं किया जा सकता (यह गैर कानूनी है तो बिलकुल सही है)। पर, आमतौर पर गर्भपात के विपक्ष में होना स्त्री की कोख और योनि को अपनी बपौती मान लेनेवाली मर्दवादी धर्म-संस्कृति व सामाजिकता के साथ नापाक गठजोड़ कर लेना है। स्त्री के गर्भपात-अधिकार के पीछे यदि यह तर्क दिया जाता है कि समाज में विवाहेतर/बलात्कार कृत गर्भाधान की शिकार बनी स्त्री के बच्चे अवैध मान लिए जाते हैं। उससे स्त्री व बच्चे, दोनों कष्ट भोगते हैं। तो यह तर्क नहीं शातिराना बेहूदगी है। यह भी मर्दवादी संस्कृति से गठजोड़ कर लेना है।

भारतीय सरकार ने, 1971 के बिल के आधार पर 1972 ई. में 'मेडिकल टर्मिनेशन आफ प्रेगनेन्सी एक्ट' बनाया, जिसे 2002 ई. में संशोधित किया। स्त्री की पीड़ामुक्ति की दिशा में यह एक स्तुत्य कदम था। यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि अमेरिका व इंग्लैंड जैसे देश भी इस मामले में भारत से पीछे ही रहे, जिन्होंने क्रमशः 1973 ई. एवं 1974 ई. में ऐसा कानून बनाया। 1970 ई. से अधिकतर यूरोपीय राष्ट्र (फ्रांस, जर्मनी, डेनमार्क, आस्ट्रिया, फिनलैंड, आइसलैंड, ग्रीस, इटली, नीदरलैंड, स्विट्जरलैंड आदि) गर्भपात के नियमों को सरल करते रहे हैं। इसका कारण भले जनवृद्धि पर लगाम लगाना हो (और हम इस अर्थ, गर्भपात को उपयोगी नहीं मान सकते), पर स्त्री की पीड़ा दूर करने में उसने जरूर मदद की।

भारतीय MTP एक्ट (1972 ई.) के अनुसार, कोई बालिग स्त्री 12 से 20 हफ्ते तक का अपना गर्भ, अपना नाम गुप्त रखते हुए, चिकित्सकीय विधि से समाप्त करा सकती है, यदि

- (i) गर्भ 'स्त्री पर बलात्कार' के कारण ठहरा हो (सवाल है, कौन सा गर्भ स्त्री पर बलात्कार के कारण नहीं ठहरता? विवाह तो 'वैध बलात्कार की संस्था' है ही)।
 - (ii) यदि गर्भावस्था जारी रहने से स्त्री का जीवन या स्वास्थ्य खतरे में पड़ रहा हो।
 - (iii) यदि गर्भस्थ शिशु लाइलाज रूप से रुग्ण या विकारग्रस्त हो।
 - (iv) यदि बच्चे के जन्म के बाद सामाजिक-आर्थिक कारणों से स्त्री के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।
 - (v) यदि गर्भ-निरोधकों के प्रयोग विफल होने के कारण गर्भ ठहरा हो।
- पाँचवीं शर्त का निहितार्थ निकल आता है कि कोई भी स्त्री 12-20 सप्ताह का कोई भी गर्भ गिरवा सकती है, क्योंकि यह पकड़ना तो लगभग असम्भव है कि कौन सा गर्भ स्वैच्छिक या वांछित था और कौन सा गर्भ निरोधोपायों की विफलता के कारण ठहर गया है? इससे स्त्री के हक में बने इस कानून का भी धड़ल्ले से दुरुपयोग हो रहा है—लिंग परीक्षण कराके कन्या भ्रूणों के गर्भपात में। इसी से सरकार को भ्रूण-लिंग परीक्षण-निषेध कानून (1994 ई., संशोधित 2000 ई.) बनाना पड़ा। फिर भी चोरी-छिपे हो रहा है सब

कुछ और दुनिया में लड़कियों को आने से ही रोका जा रहा है। पर, किया क्या जाए? सरकार गर्भपात कानून को तो निरस्त नहीं कर सकती न! अन्यथा, 'लदा गर्भ' बनी स्त्री की पीड़ा या लांछना तो बढ़ती ही जाएगी। गर्भपात स्त्री-हित में एक आकस्मिक उपाय के रूप में ग्राह्य है; जनवृद्धि रोकने के नित्य उपाय के रूप में नहीं। फिर, कन्या भ्रूण हत्या के लिए इसका इस्तेमाल तो मूढ़ता की पराकाष्ठा है; उसकी तो जितनी निन्दा की जाए कम ही है।

गर्भपात को स्त्री की देह मुक्ति के अन्तर्गत ही स्वीकार किया जा सकता है, अन्य अर्थ में नहीं। सदियों से उस पर मातृत्व थोपने की कुत्सित परम्परा के खिलाफ एक तमाचा भी है इस कानून की स्वीकृति। इस अर्थ में यह बरकरार रहना चाहिए।

अध्याय 4

संस्कृति का बेटावादी ज़हर—स्त्री की कोख व जान पर कहर

यूनिसेफ ने 'राष्ट्रों की प्रगति' नामक रिपोर्ट (1997 ई.) जारी करते हुए, घोषणा की कि अतीत में, 7 करोड़ बच्चियाँ सिर्फ इस कारण मार डाली गईं, क्योंकि उन्होंने पुरुष लिंग को छोड़कर स्त्री लिंग में जन्म लेने का अपराध किया था। भारत में महिला एवं बाल विकास मन्त्री रेणुका चौधरी ने बड़े दुख के साथ यह स्वीकार किया कि इस देश में पिछले दो दशकों में 1 करोड़ के लगभग मादाएँ भ्रूण हत्या द्वारा मार डाली गईं। नोबेल पुरस्कार से सम्मानित अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन ने 1990 ई. के जनसंख्या अनुमान की अपेक्षा 10 करोड़ कम स्त्रियों के मौजूद रहने की बात कही। उनके मत से भारत की 1 अरब आबादी के साथ 2.5 करोड़ स्त्री आबादी लापता है। यह जगजीत सिंह की पुस्तक 'दिवंगत बेटियाँ' के उल्लेखानुसार है। डॉ. सेन की पुस्तक 'भारत : विकास की दिशाएँ' में प्रतिपादित है कि 1986 के आँकड़ों के आधार पर अनुमान लगाने पर 3.7 करोड़ स्त्रियाँ विलुप्त हुई हैं। साथ ही, चीन में 4 करोड़ स्त्रियों के गायब हो जाने की बात डॉ. सेन ने कही है। इसी तरह, 'यूनिसेफ' ने 1995 ई. की 'भारतीय राज्यों की प्रगति' रिपोर्ट में 4-5 करोड़ स्त्री आबादी के गायब होने की बात कही।

कन्या-हत्यारी प्रवृत्ति और उसकी नवाकृति

यह सब दिल दहला देनेवाली नग्न सच्चाई है, जो दुनिया में सदियों से चल रही स्त्री-विनाश की योजनाओं का नतीजा है। जनसंख्या का बोझ उठाने के डर से नवजात शिशुओं की हत्या की जाने की परम्परा कई हजार साल पुरानी है, परन्तु बेटी को हेय मानने की कूढ़मगजी के चलते वहाँ भी विशेषकर कन्या शिशुओं की हत्या आम प्रचलन में रही है। कभी-कभी विसंगति की हद तो तब हुई जब देवता या देवी को प्रसन्न करने के लिए बलि देकर या जल में डुबाकर कन्या शिशुओं को दुनिया से उठाने का रिवाज दिखा। यूनान, चीन, अरब, दक्षिण एशिया के देश, भारत—सबमें यह कुकर्मी प्रथा प्राचीन काल से जारी रही है। पितृसत्तात्मक समाज-रचना, सांस्कृतिक मूल्य, पितृस्थानीय विवाह-व्यवस्था व मर्द-केन्द्रित अर्थव्यवस्था ने बेटियों का अवमूल्यन करते-करते उन्हें 'पराया धन' मात्र बना दिया। फिर बेटों के सामने उनके अस्तित्व

को नकारना शुरू हुआ, जिसने कन्या बध की परम्परा पैदा की। नए समय में, इस प्राचीन बीमारी में सिर्फ यह परिवर्तन आया कि पहले हत्या के लिए उनके जन्म का इन्तजार करना पड़ता था; अब चूँकि कोख में ही लिंग का पता चल जाता है, इसलिए जन्म तक उन्हें पहुँचने देने की बाध्यता अब नहीं रह गई है। आज एक क्रान्तिकारी गंडासा, विज्ञान से छीनकर अपनी अजन्मी कन्याओं की गरदन पर चलाने की बेशर्मी मर्द सत्ता ने पहन ली है।

नवजात कन्या को मौत की गोद में सुलाने के ढेर सारे तरीके अतीत के धुँधलके से वर्तमान के रोशन इलाकों तक में प्रचलित रहे हैं। 'विश्वगुरु' का दम्भी भारत और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' या 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' (सभी पदार्थों में अपनी ही छवि देखने की दृष्टि) का अभिमानी हिन्दू भी इसमें पीछे नहीं रहा है और बड़े आश्चर्य व हर्ष की बात है कि इस्लामी समाज में ऐसी कुप्रथा की किसी प्राचीन परम्परा का अब तक पता न चल सका है। नवजात कन्या की हत्या कहीं दाई, कहीं बाप, कहीं पुरोहित-पत्नी तो कहीं स्वयं माँ से करवाने की प्रक्रिया सदियों से पितृसत्ता व पितृसत्तावादी विचारों ने चला रखी है। जिन विधियों द्वारा नवजात कन्याएँ पुत्र मोह की बलिवेदी पर चढ़ाई जाती रही हैं, उनमें कुछ निम्नलिखित हैं—

- (i) जन्म बाद गला या टेंटुवा दबाकर।
- (ii) खाट के तले सिर फोड़कर।
- (iii) गीले तौलिये से लपेटकर, दम घोंटकर।
- (iv) दूध में कीटनाशक मिलाकर पिला के।
- (v) मुँह में रेत, गोबर, मोटा अनाज या खड़े धान ठूस कर।
- (vi) नमक, धतूरा, भाँग या तम्बाकू का रस पिलाकर। ज़हरीले पौधे या मदार का रस सीधे या दूध में मिलाकर पिला के।
- (vii) ज़हरीला उर्वरक खिलाकर।
- (viii) स्तनों में अफ्रीम या विष लगाकर, शिशु को पिलाकर। (पूतना-वृत्ति)
- (ix) गाय के दूध से भरे नाँद में डुबाकर।
- (x) दूध की जगह कुछ दिनों तक सिर्फ पानी पिलाकर।
- (xi) लावारिस कहीं छोड़कर या सर्द मौसम में ठंडे फर्श पर नंगा लिटाकर। (प्राचीन यूनान रोम में मादा शिशु को बिना ढँके रखने की सलाह दी जाती थी ताकि प्रकृति से ही वे मर जाएँ।)
- (xii) मिट्टी के बरतन में लिटाकर, उसका मुँह बन्द करते हुए, उसे जमीन में गाड़कर।
- (xiii) गले में नमक की डली ठूस कर या तम्बाकू ठूस कर।
- (xiv) ज़हरीली झाड़ी का रस एरंड (रिंड़ी) तेल में मिलाकर पिला के। इससे बच्ची की नाक से खून की धार बहने लगती है तथा कुछ ही समय में वह मर जाती है।
- (xv) बच्ची की देह सीधे चीरकर।

(xvi) बच्ची को कपड़े की तरह पछीट-पछीट कर।

(xvii) बच्ची के पेटवाले हिस्से को मजबूती से पकड़कर, पूरी ताकत के साथ आगे-पीछे दबाने से उसकी गरदन की हड्डी टूट जाती है। उससे घंटे भर में उसकी मौत हो जाती है।

कुछ प्रसंगों में तो औरत के गर्भवती होते ही आँगन में जहरीला पौधा लगा दिया जाता रहा ताकि बेटी के पैदा होने पर उसकी हत्या की जा सके।

किसी तरीके से कन्या की हत्या करते समय जो उद्गार या लोकोक्ति मन्त्रवत् बोली जाती रही है, उसका भाव रहा है—“जा लली ललये पठाये” “जा बच्ची! लली! लला (पुत्र) को भेज देना।” जहाँ मृतक की अस्थि तक को देखकर श्रद्धावनत होने, उसके सम्मान में चैत्य, समाधि या ताजमहल बनाने की परम्परा है—वहीं एक जिन्दा-स्पन्दशील प्राणी (अपनी ही सन्तान) का प्रत्यक्ष वध! हाय री क्रूर विडम्बना! यदि इतने प्रकार की कसाईगिरी से बच्ची बच गई, तो जन्म बाद भेदभाव का साजिशी सिलसिला जो चल पड़ता है, वह तब तक नहीं रुकता जब वह बेटी-पत्नी-माँ होते एक दिन मौत के मुँह में नहीं समा जाती। बच्ची बचेगी कैसे? जन्म पूर्व ही भ्रूण हत्या [सेक्स-सेलेक्शन एबोर्शन] का कई दशकों से रिवाज चल पड़ा है जो। एक तरफ जनता का विज्ञान पर प्रचंड आत्मविश्वास जमा दिखता है कि डॉक्टर द्वारा कुछ जाँचों के बाद यह कह देने पर कि ‘लड़की है’ तो गर्भस्थ शिशु को मरवा डालने में उसे कोई हिचक नहीं होती। पर वही विज्ञान जाने कब से कह रहा है ‘लड़का व लड़की में भेदभाव करना मूढ़ता है’ या ‘कर्मकाण्ड के नाम पर टनों खाद्य सामग्री, पेड़ पौधे आदि बरबाद करना, तन्त्र-मन्त्र से झाड़-फूँक, सब फिजूल की बातें हैं’; तो लोग एक कान से सुनते हैं, दूसरे से निकाल देते हैं।

इससे अधिक घिनौना व मूढ़ चेहरा पितृसत्तावाद का क्या हो सकता है कि एमिनियोसैंटेसिस, सोनोग्राफी, अल्ट्रासाउंड, ट्रांस वेजिनल अल्ट्रासाउंड, कोरियोनिक विल्लस सैम्पलिंग जैसी आश्चर्यकारी तकनीकों; जो गर्भ में ही हमारी सन्तानों के रोगों को पकड़कर जन्म पूर्व ही इलाज करने के शुभ उद्देश्य से विकसित हुई हैं; को दुनिया से स्त्रीलिंग को मिटाने हेतु प्रयुक्त किया जा रहा है? वर्षों पुराना, सदियों से व्याप्त मन में बैठा ‘पुत्रवाद’ का सड़ा संस्कार हम मिटा नहीं सकते, लेकिन विज्ञान की इतनी उच्च प्रौद्योगिकी को इस बजबजाती जगह इस्तेमाल करने में हम शरमाते नहीं। अब तो सुन रहे हैं कि माइक्रोसाट नामक सेक्स सेलेक्शन तकनीक भी विकसित हो गई है, जिससे भावी शिशु के शर्तिया बेटा होने का दावा किया जा सकेगा। पुरुष के शुक्राणु से ‘x’ गुणसूत्र को अलग कर दो, बस हो गई बेटी की छुट्टी। अभी इसमें 2-3 लाख खर्च आते हैं, बेटावादी माँग इसे सस्ता बनाकर छोड़ेगी। काश! यह सब खुराफात करनेवाले इतना तो सोचते कि यदि स्त्री ने अंडाणु या कोख देने से इनकार कर दिया और सिर्फ क्लोनिंग द्वारा मादा सन्तानों का प्रसव लक्ष्य बना लिया—तब तो दुनिया से मर्दों की ही छुट्टी हो जाएगी। बेटामय विश्व का उनका स्वप्न भी तो स्त्री के अंडाणु या कोख का

ही मोहताज है। पर, यह सोचने की फुरसत 'पुत्रमोह में अन्धे' सांस्कृतिक मन को कहाँ? वह बेहयों का भी बेहया है। उसकी इस बेहयाई को दृढ़ आधार प्रदान करने में धर्मशास्त्रों एवं सांस्कृतिक व राष्ट्रवादी ठेकेदारों ने अहम भूमिका निभाई है।

स्त्री-कोख हथियाने की बेहयाई : बेटावादी धर्मशास्त्र ने सिखाई

स्त्री का बिना विवाह किए रहना मर्दवादी धर्मशास्त्र को अखरता रहा है। विवाहित करके उसने उसके दो लक्ष्य निर्धारित किए—

- (i) सौभाग्यवती (यानी पति की छत्रछाया या बरगद-छाया आजीवन पाती) बनी रहना।
- (ii) पुत्रवती होना।

'महाभारत' के आदिपर्व (74/96-97) में कहा गया है कि वंश-संचालन, कुल पालन आदि एकमात्र पुत्र के माध्यम से होता है, अतः पुत्र जन्म से बढ़कर पुनीत कार्य संसार में नहीं। 'अत्रि संहिता' (53) में कहा गया कि पुत्र के जनमने पर जीवित पुत्र का मुख देखते ही पिता पितरों के ऋण से मुक्त हो जाता है और मरने पर स्वर्ग जाता है। यही बात वसिष्ठ स्मृति (17/1), बृहत्पाराशर (6/185), विष्णु स्मृति (15/42) आदि में भी प्रतिपादित है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' का स्पष्ट स्टेटमेण्ट है कि "कृपणं हि दुहिता ज्योतिर्हि पुत्रः"—यानी, पुत्री दुख की खान है और पुत्र प्रकाश (आह्लाद) का रूप है। इसी तरह 'ऐतरेय ब्राह्मण' के 'हरिश्चन्द्रोपाख्यान' में कहा गया है कि पत्नी एक साथी है, पुत्री एक विपदा है तथा पुत्र सर्वोच्च स्वर्ग का प्रकाश है। (3-3-1)। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि सभी धर्मशास्त्र पुरुष की महत्ता स्त्री के ऊपर बतलाते रहे हैं, जिनसे 'पुत्र' की अनिवार्यता स्थापित हुई। 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' (बिना पुत्र के मुक्ति नहीं होती किसी पुरुष की), 'पुत्रार्थे क्रियते भार्या' (बेटे की प्राप्ति हो, इसके लिए पत्नी बनाई जाती है), 'मनुष्य की आत्मा पुत्र है' ('महाभारत' के यक्ष को युधिष्ठिर का उत्तर) आदि कथित सूक्तियों, 'पुंसवन संस्कार' (गर्भस्थ सन्तान के पुत्र होने की कामना से किया जानेवाला संस्कार), 'पुत्रेष्टि यज्ञ' (पुत्र पैदा करने हेतु किया जा रहा यज्ञ) आदि के साथ हर धार्मिक-सामाजिक कर्मकाण्ड (चाहे जीवन का हो या मरण का) में पुत्र को अधिकार देने एवं पुत्रवाली स्त्री व पुरुष की धार्मिक महत्ता बनाए रखने का कार्य शास्त्रीय परम्परा ने किया है। उपनिषद् का उच्चतर चिन्तन (?) भी मनुष्य जीवन की तीन एषणाओं (इच्छाओं) में से एक 'पुत्रैषणा' (बेटे की चाह) को रखने हेतु बाध्य हुआ है। माफ कीजिए! इस व्याख्या से अब आप हमें बरगला नहीं सकते कि 'पुत्र' शब्द 'पुत्री' को भी समेटता है। शास्त्रों ने न केवल बेटे के जन्म की निर्लज्ज तरफदारी की है, बल्कि बेटी के जन्म को निन्दित करने के साथ उसका दंड स्त्री को देने के विधान के द्वारा बेटी पैदा होने की सम्भावना के द्वार पर ही लौह कपाट लगा दिया है। ईसाइयत तो खैर मातृत्व (प्रसव) को ही पाप ठहराती है, पर वहाँ भी बच्ची के जन्म को विशेष गन्दा कहती है। 'बाइबिल' की 'लैव्यवस्था' (12/1-5) के अनुसार स्त्री लड़का होने पर 7 दिन,

लड़की होने पर 14 दिन अशुद्ध रहती है। ईसाइयत का घोर पितृसत्तावाद उसके मूल दर्शन 'पिता-पुत्र पवित्र आत्मा' के त्रैत और 'पुरुष के शरीर से स्त्री के जन्म की बात' ('बाइबिल', 'उत्पत्ति' खंड) से ही टपक पड़ती है। ज्यादा खोजने की जरूरत ही क्या है? 'कात्यायन स्मृति' (3/13) का कहना है कि पत्नी को मार डालने वाला मर्द दंड स्वरूप तीन जन्मों तक पुरुष से स्त्री बनने का डिमोशन (पदावनति) पाता है, वहीं स्त्री हजने के रूप में तीन जन्मों तक स्त्री से पुरुष बनने का प्रोमोशन (पदोन्नति) पाती है। इस तरह धर्मशास्त्रों ने बेटे की महिमा में वीभत्स नाच ही नहीं किया, बल्कि बेटी के जन्म को पाप-फल के रूप में बखान कर डराया भी है। कई ने इसके लिए कन्या-प्रसविनी माँ को दंडित भी करने की व्यवस्था की है। जैसे—चाणक्य या कौटिल्य का कहना था कि यदि कोई स्त्री पुत्री पर पुत्री पैदा करते जाए तो 12 वर्ष प्रतीक्षा करके पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है। 'मनुस्मृति' (9-81) भी कहती है कि स्त्री के केवल पुत्री जनने पर पुरुष दूसरा ब्याह कर सकता है। 'बौधायन धर्मसूत्र' ने कहा कि निस्सन्तान पत्नी को दस वर्ष बाद, कन्या प्रसव करनेवाली को बारह वर्ष बाद तथा जिसके बच्चे नहीं टिकते उसे 15 वर्ष बाद त्यागा जा सकता है। चीन में इसी तरह कनफ्यूशियन सोच मौजूद रही कि स्त्री पुरुष से हेय है। इस तरह प्रलोभन व भय के दो छोरों के बीच निर्मित धर्मशास्त्र की पुत्रवादी परम्परा है, जो पुरुष ही नहीं, स्त्री तक का मन पुत्रांध बनाए हुए है।

पुरुषवादी अध्यात्मवाद जो स्त्री की सहज दैहिकता (मासिक धर्म, यौनिकता) आदि को न समझकर 'गन्दा' ठहराता है तथा स्त्री को 'नरक का द्वार' कहता है। परन्तु, स्त्री के बिना उसका काम भी नहीं चलता। चाहे भोगवाद हो या मोक्षवाद, पुरुष के लिए स्त्री देह को साधन बनाया गया है। मोक्षवाद की भ्रान्ति या 'वंश' चलने की मूढ़ता में पड़े हर मर्द को एक 'बेटे' की जरूरत तो है ही (ज्यादा हो तो और अच्छा)। उसका यही विश्वास है। फिर, 'मनुष्य की आत्मा पुत्र' होने से बिना बेटे के वंश कैसे चलेगा? वंश न चलेगा तो मोक्ष कैसे मिलेगा? इस 'बेटे' के लिए किसी औरत की कोख चाहिए और उस कोख से उत्पन्न बेटा ['मेरे ही शुक्राणु से है' की जगह] 'मेरा ही है'—यह कैसे तय हो पाएगा? इसकी निश्चितता के लिए उस स्त्री को 'विवाह' की कोठरी में बन्दिनी बनाकर उसकी चाबी उस मर्द को दे दी जाती है। विवाह-संस्था के पीछे का एक तर्क यह भी है। 'मेरा वंश चले। मेरे खून का अंश चले'—मर्दवादी यह दुराग्रह रहा है और 'बेटे के जरिए ही वंश चलता है' यह मूढ़ता उस पर 'करैले के नीम पर चढ़ने' की मसल बनाता है। जनसंख्या वृद्धि और स्त्री को इसके तहत कारखाना व कसाईघर बना देने के पीछे का मूलभूत विचार यही रहा है। बेटावादी धर्मशास्त्रों ने ही स्त्री की कोख पर पुरुष के कब्जे की व्यवस्था कर रखी है—उस पर जब चाहा कुछ लाद दिया, जब चाहा उसकी सफाई करा डाली। बेशुमार जनसंख्या के रहते भी अपना वंश चलाने की यह सनक! वाह रे आत्मवादी देश! वाह रे धर्मगुरु! शारीरिक वंशवाद की इतनी चिन्ता! काश! दैहिक वंशवाद की इतनी फिक्र न कर के आत्मिक या वैचारिक वंशवाद पर ध्यान

दिया जाता, तो स्त्री बेचारी त्रस्त होने से—बच्चे जनते-जनते पस्त होने से—तो बची रहती। साथ ही, दुनिया भर की सड़कों पर लाखों-करोड़ों की तादाद में भूख से बिलबिलाते, अनाथ बच्चों को कहीं न कहीं पनाह तो मिल जाती; अपराध के अन्धलोक में जीने की जगह वे उचित विकास-अवसर तो पा जाते। वे बच्चे, जो प्राकृतिक आपदा से भी ज्यादा मर्दों की गैर-जिम्मेदार हवस के कारण अनाथ बने फिरते हैं—उनको कोई न कोई थाम तो लेता। यह कितना बड़ा पाखंड है कि बेटे के बिना किसी मर्द का वंश ही नहीं चलता, पर ‘नेहरू जी का वंश आज भी चल रहा है’—ऐसा मानना और फूले न समाना! बेटा से वंश चलने की बात प्रकृति की वैज्ञानिक दृष्टि से कितनी अस्तित्वहीन है—यह हम आगे स्पष्ट करेंगे। यहाँ इस ढकोसले पर ध्यान दे लीजिए कि औरत के वंश चलने की कोई धारणा ही पितृसत्ता में कहीं नहीं है। औरत तो वंश-वृद्धि की मशीन भर है; उसका क्या वंश चलेगा?

बेटावाद की जय-जयकार हर नीति ग्रन्थ में सुनाई दे जाएगी। ‘सुपुत्रः कुलदीपकः’ (अच्छा बेटा ही कुल का दीपक है।), ‘वरमेको गुणी पुत्रो’ (सौ मूर्ख पुत्रों की अपेक्षा एक भी गुणी पुत्र श्रेष्ठ है।), ‘एकेनापि सुपुत्रेण...आह्लादितं तथा सर्व’ (एक भी अच्छे पुत्र से सब कुछ उसी तरह प्रकाशित-आनन्दित होता है, जैसे चन्द्रमा से रात) आदि सैंकड़ों पंक्तियाँ मिल जाएँगी। कुछ विचारक ऐसी पंक्तियों को प्राचीन-युगीन जनसंख्या-विमर्श एवं परिवार-नियोजन की भावना के उदाहरण रूप में पेश करते हैं। लेकिन, उनके मन में यह प्रत्यक्ष प्रश्न जरा सा भी नहीं जगता कि वह विमर्श इतने मूढ़-अधूरेपन का शिकार क्यों है कि 50% जनसंख्या (यानी बेटी) पूरी तरह से गायब है उससे। जनगणना के लिए प्रयुक्त फारसी शब्द है—‘मर्दुम शुमारी’ (मर्दों की गणना)। लगता है, स्त्री को मनुष्य में गिना तक न गया (क्योंकि ‘मनुष्य की आत्मा’ पुत्र होने से स्त्री आत्माहीन मांस खंड मात्र है; जिसकी रचना परमेश्वर ने पुरुष की देह से एक पसली निकालकर की, बाइबिल के अनुसार।)। इसीलिए स्त्री को गिनने की क्या जरूरत है जन-गणना में? भाषा एवं व्याकरण में भी ढेर सारे ऐसे शब्द व नियम हैं, जो स्त्रीलिंग पर पुलिंग की सत्ता को सिद्ध ही नहीं करते, बल्कि स्त्रीलिंग को पुलिंग में समाहित भी कर देते हैं। खुद ‘लिंग’ शब्द इसका प्रमाण है। पुंसत्व व स्त्रीत्व की भेदकता को शब्दों में खोजने-दिखलाने के लिए (यदि ऐसा करना जरूरी ही था तो) व्यापकतर शब्द ‘योनि’ को न रखकर संकुचित शब्द ‘लिंग’ को क्यों रखा गया? पुरुष को महत्त्व देना ही कारण रूप में है।

धर्मशास्त्र में बेटावाद का चरम रूप ‘नियोग प्रथा’ में मिलता है। एक तरफ स्त्री को सतीत्व (यानी, पुरुष विशेष के प्रति यौन-प्रतिबद्धता) के फन्दे में कस देना; फिर ऊपर से अपना स्वार्थ देखकर, उस बन्धन की अभ्यस्त हो चुकी स्त्री पर नियोग की तलवार लटकाना—अमुक ‘पर-पुरुष’ को अपनी देह पर चढ़ाने हेतु तैयार हो जा। स्त्री के हिचकने पर धर्मशास्त्र का एटमी भय दिखलाना कि ‘पत्या नियुक्ता या चैव पत्नी पुत्रार्थ मेव च। न करिष्यति तस्याश्च भविता पातकं भुवि।’ (महाभारत, आदि पर्व)—

यानी, पति के कहने पर भी जो स्त्री पुत्र-प्राप्त्यर्थ परपुरुष के साथ समागम नहीं करती, वह पाप-भागिनी होती है। 'मेरा वंश चले, इसलिए बेटा चाहिए।' इस सोच के तहत पत्नी को मजबूर करना किस तर्क पर था? यदि मर्दवादी तर्क से ही चलें तो पुरुष-बीज का महत्त्व बखाना गया है। जिसका बीज, उसकी सन्तान। पर स्वार्थ आड़े आए तो इस परिभाषा में भी ढील देकर नई परिभाषा गढ़ डाली कि क्षेत्र (स्त्री) जिसके कब्जे में है, फसल (सन्तान) उसी की मानी जाती है (मनुस्मृति 8/43)। प्राचीन आख्यानो में आए नियोग-प्रसंग भी इतनी मर्दवादी गढ़न के शिकार हैं कि हर बार 'पुत्र' ही पैदा हुआ लिखा जाता है। यहाँ तक तो लिखना ठीक था कि पुत्र कामना में स्त्री नियुक्त की गई (मानो स्त्री जड़ वस्तु है, जिसका धर्म है, चाहे कहीं से बेटा ला के दे पति को—चाहे जिससे अपना यौन-दलन करवाए उसके लिए—पर, एक बेटा दिए बिना उसे न छोड़ना)—परन्तु, यह कौन सी बात हुई कि बेटा या बेटी होने की 50-50 प्रतिशत सम्भावना जहाँ है, वहाँ पलड़ा हर बार प्रथम 50 प्रतिशत (यानी, बेटा) की ओर ही झुके। क्या 'सेक्स-सेलेक्शन प्रेगनेन्सी' की इतनी विराट् जैव प्रौद्योगिकी उस काल में खोज ली गई थी? लगता है, कुछ ऐसी ही खोज हमारे फ़िल्मकारों ने कर ली है। तभी तो इक्का-दुक्का फ़िल्मों को छोड़कर हर बार वे किसी जोड़े को बेटे का ही सपना 'नन्हा राजदुलारा होगा' आदि दिखलाते हैं। दिखलाते ही नहीं, बल्कि उसे साकार भी करवाते हैं—'मेरा नाम करेगा रौशन जग में मेरा राजदुलारा' गवाते हुए।

पुत्र-कामना नियोग-प्रथा का मूल है। यह तो स्पष्ट है। पर, पुत्र-कामना के पीछे केवल 'वंश' चलाने की चिन्ता या ('पुत्र से पिता को सद्गति मिलती है' जैसी बातों के अलावा 'मेरे बाद यह धन कौन भोगेगा?') की शुद्ध भौतिक चिन्ता भी थी। इस मर्दवादी चिन्ता का भी आधार पितृस्थानीय विवाह-व्यवस्था है, जो लड़की को पराई बनाकर उससे सारे नाते तोड़ लेता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में कालिदास की नैतिकता देखिए—'अर्थो हि कन्या परकीय एव, तामद्रय सम्प्रेष्य परीग्रहीतुः जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पित-न्यास इवान्तरात्मा' (चतुर्थोऽङ्कः)—यानी बेटी पराया धन है। उसे आज परीग्रहीता (पति) के पास भेजकर, मेरी अन्तरात्मा उसी प्रकार कृतार्थ हो गई, जैसे किसी की धरोहर को उसे लौटा देने पर मन में चैन आता है। वाह रे कालिदास के कण्व ऋषि! तभी तो 'शाकुन्तलम्' पितृसत्तात्मक व्यवस्था के मुरीद पंडितों में सर्वश्रेष्ठ संस्कृत-नाट्य बनकर प्रतिष्ठित है। अस्तु! 'कौन भोगेगा?'—यह मर्दानी चिन्ता हुई, पर बेटी को उत्तराधिकार देने की सोच भूलकर भी न जगी। क्यों? वह इसीलिए न कि यहाँ रहेगी नहीं, ब्याह बाद पराए घर चली जाएगी। लेकिन यह व्यवस्था भी बनाई किसने? किसके लिए? मर्द के सुखार्थ मर्द ने ही। इन सब धार्मिक-सामाजिक वास्तविकताओं ने आर्थिक स्तर पर इस मिथ को जन्म दिया कि 'बेटी माइनस है—कुर्की करानेवाली, बेटा प्लस है—दहेज लानेवाला'। याद कीजिए, फिल्म 'शुभकामना' में उत्पल दत्त का गुणा गणित। पुत्र महिमा के धार्मिक विश्वास और इस आर्थिक-सामाजिक मिथ में से किसने किसको पैदा किया—इस बहस को लम्बा खींचने की जगह, आज हमें यह देखना होगा कि दोनों

‘चोर-चोर मौसरे भाई’ एक-दूसरे को टिकाए रखने में मददगार हैं तथा दोनों ही कम्बख्त मिलकर सदियों से स्त्री के अस्तित्व के कट्टर विरोधी बने हुए हैं।

बात आगे बढ़ाने के पहले, ‘नियोग’ पर एक-दो विचार दृष्टियों से सोचते चलें। पीछे हमने देखा कि जिसकी पत्नी पर ‘पुत्र जनन में अक्षमता’ का सन्देह हो जाता था, उस मर्द को इस सन्देह का लाभ उठाकर, धर्म के खोल में दूसरा-तीसरा व चौथा विवाह करने यानी विवाह द्वारा तथाकथित व्यभिचार करने की खुली छूट दे दी जाती थी। परन्तु, जब पुरुष में अक्षमता साफ दिखती थी या पति मर जाता था—तब नियोग प्रथा का पाखंड रचकर स्त्री को इस बलात्कार के लिए मजबूर किया जाता था। धर्मशास्त्रीय आदेश था कि केवल पुत्रोत्पत्ति नियोग का उद्देश्य हो; न कि रति सुख लेना। तभी लिंग-सहित पूरे शरीर पर घी घिसकर पुरुष के काम-क्रिया में उतरने का विधान था। पर, ‘महाभारत’ आदिपर्व के ‘सम्भव’ उपपर्व में दीर्घतमा की आई कथा के अनुसार, अन्धे दीर्घतमा मुनि काशीराज की पत्नी से नियोग करते समय उसके अंग छूकर आह्लादित होते दिखे। क्या यह कामुकता नहीं? व्यास ने वंश चलाने के नाम पर तीन बार यौन-क्रिया की। माना कि, अम्बिका व अम्बालिका तक ठीक था—एक हद तक वंश चलता। पर, दासी के साथ यौन-क्रिया का क्या तुक था? दासी से वंश चलता?

नियोग का विधान था कि स्त्री के पति का भाई (देवर), उसके अभाव में सपिण्ड (यानी वंश परम्परा का कोई भी), उसके अभाव में स्वजाति का और उसके भी अभाव में कोई द्विज पुरुष नियुक्त हो। यहाँ ‘द्विज’ का अर्थ ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य में से ब्राह्मण ही ग्रहणीय है, क्योंकि अपनी जाति के अभाव में क्षत्रिया किसे द्विज मानकर नियोग करती? वैश्य को। तब तो, ‘प्रतिलोम’ संयोग से सन्तानोत्पत्ति होती, जो धर्मशास्त्र-निन्दित है। दूसरी बात, ध्यातव्य है कि उक्त विधान के बाद भी नियोग में अक्सर ब्राह्मण पुरुष ही नियुक्त हुआ, जो कि ‘अभाव में’ था। क्या ऐसा भी हो सकता है कि किसी स्त्री को सपिण्ड या जाति में भी कोई पुरुष न मिले? ‘अभाव में’ की आड़ ही ब्राह्मण को मौका देने के लिए बनाई गई लगती है। तो क्या ‘नियोग’ ब्राह्मण पुरुष को यौनानन्द देने हेतु दक्षिणा के साथ पर-स्त्रियाँ उपलब्ध कराने हेतु भी रचा गया था? इसी गन्दी प्रथा का विकास साधुओं, पादरियों, मुल्लाओं, ओझाओं द्वारा स्त्रियों को पुत्रार्थ आशीर्वाद (?) का इन्जेक्शन देने के रूप में हुआ लगता है। पुराण-प्रसिद्ध कथा है कि परशुराम के द्वारा क्षत्रिय पुरुषों के संहार के बाद उनकी स्त्रियों को ब्राह्मण पुरुषों से नियोग हेतु विवश होना पड़ा था। इस पुत्रवादी नियोग प्रथा से बेहतर है, आज की वैज्ञानिक रीति—टेस्टट्यूब बेबी, क्लोनिंग व सेरोगेट मदर बनने की रीति।

कारण कि—

- (i) यह पुत्रार्थ ही कल्पित नहीं है। पुत्री-अर्थ भी उतना ही कल्पित है।
- (ii) स्त्री की स्वेच्छा है इसमें; न कि पहले की तरह पुरुष को बलात्कार की लाइसेन्स मिली है। ‘वीर्य बैंक’ से शुक्राणु लेने में तो स्त्री को पुरुष संयोग

की बाध्यता भी नहीं है।

- (iii) इसमें जातिवादी भेदभाव नहीं है कि ब्राह्मण पुरुष का वीर्य लिया जाए, शूद्र का नहीं। 'वीर्य बैंक' में जाति की जाँच करने की वैज्ञानिक पद्धति है कहाँ? [वैसे यह भी खबर है कि कुछ कूढ़मगज शुक्राणु की भी जाति पूछते हैं।]

बेटावादी अर्थ में सिकुड़ चुके सामाजिक मन को परिवार-नियोजन का अर्थ भी यही लग सकता है कि बेटियों की हत्या करके, दो बेटे रखकर परिवार नियोजित कर लें। विनोबा भावे ने परिवार-नियोजन की महत्ता बतलाते हुए राम का उदाहरण दिया है कि उनके लव-कुश, दो ही सन्तानें थीं। स्पष्ट है कि उदाहरण देते समय उन्हें सावधान रहना चाहिए था। लव-कुश दोनों पुत्र हैं। इससे बेटावाद से घायल हुए भारतीय मन में बेटा-विरोधी परिवार-नियोजन पुष्ट धार्मिक आधार लेकर बैठ जाएगा। पंचायती राज संस्थाओं के सदस्य 2 सन्तानों से ज्यादा वाले न होंगे—यह नियम मध्यप्रदेश, राजस्थान, उड़ीसा, आंध्रप्रदेश एवं हरियाणा में एक अजीब रूप में प्रतिफलित हुआ है—सरपंची बचाने हेतु गर्भपात, पति द्वारा पत्नी का त्याग, अपना बच्चा अन्य को गोद दे देना आदि होने लगा।

धर्मशास्त्र के एक निकट सम्बन्धी 'मुहूर्त विद्या' बेटा पाने हेतु खास तिथि-नक्षत्रों में सहवास का भी विधान करती है। भले ऐसा होना सम्भव नहीं, पर इसके बनानेवाले खुराफतियों की सोच कितनी घृणित थी।

बेटे का भूखा मन, बेटी से सूखा मन

धर्मशास्त्रीय परम्परा और पितृसत्तात्मक विवाह व्यवस्था, अर्थव्यवस्था ने समाज को बेटा व बेटी में भेद करने का जो सामूहिक अवचेतन सौंपा है, उसकी प्रतिच्छवि उसके हर भाषिक और कार्मिक व्यवहार में दिखलाई पड़ती है। 'बेटे के जन्म पर धरती पाँच अंगुलि उठती है और बेटी के जन्म पर धँसती है', 'दूध और पूत से कभी मन नहीं भरता,' 'जानवर को बेटी देना मानुस को बेटा' जैसी लोकोक्तियाँ तो हैं ही। बेटे को 'पुत्ररत्न', 'घर का चिराग', 'कुलदीपक' आदि विशेषण दिए जाते हैं। चीन में बेटी को 'चावल में लारवा', दक्षिण अफ्रीका (जुलू समुदाय) में 'खर-पतवार' जैसे कुशब्द दिए जाते रहे। 'दिवंगत बेटियाँ' पुस्तक में जगजीत सिंह ने लिखा है कि बॉक्सिंग के सरताज मोहम्मद अली (अमेरिका) से किसी ने पूछा कि आपने कितने बच्चे पैदा किए? तो निर्लज्जता से उसने कहा कि 1 लड़का और 7 गलतियाँ (लड़कियाँ)। पहली बात कि मर्द पैदा क्या करेगा? पत्नी पर हवस थोपा। यदि बेटी पैदा हो गई तो 'गलती' है? बेटा पैदा हुआ, तो उपलब्धि? हाय री बेहूदगी!

बेटे और बेटी के जन्मोत्सव ही नहीं, शोक-प्रणाली में भी भेद किया जाता है। आज की तकनीक से किसी ने पा लिया कि गर्भस्थ शिशु बेटा है तो माँ के खान-पान, तीमारदारी सबमें खूब उत्कर्ष दिखने लगता है। पर, जैसे ही पता चला कि बेटी है, तो

अमूमन भ्रूण हत्या करा दी गई, अन्यथा माँ पर ध्यान देना छोड़ दिया गया। समाज का एक आम चलन है कि लड़की के पैदा होने पर पीतल या स्टील की थाली बजाई जाती है, परन्तु लड़के के जन्म पर फूल या सोने-चाँदी की थाली बजाई जाती है। लड़की के जन्म पर (पतिवाली) स्त्रियाँ साधारण सी माँग भरती हैं, पर लड़का पैदा होने पर वे ऊपर से नाक के शिखाग्र तक सिन्दूरी रेखा को लाने की बेहूदी हरकतें करती हैं। ब्रिटेन के राजघराने में लड़की के पैदा होने पर दस तोपें दागी जाती थीं और लड़के के पैदा होने पर इक्कीस तोपें। इसी तरह, बेटे और बेटी की मौत पर शोक प्रकट करने की मात्रा व प्रणाली में भी अन्तर होता है। बेटा चाहे स्वेच्छा से सात समुन्दर पार हो, पर उसके मरने पर माँ-बाप की कमर टूट जाती है। परन्तु, बेटी चाहे (थोपी गई विवाह व्यवस्था के कारण) बगल के गाँव तक ही दूर गई हो; वह मर जाती है तो भी माँ-बाप का कुछ खास नहीं जाता। पखवाड़े महीने बीतते-बीतते उन्हें खाना अच्छी तरह से हजम होने लगता है तथा स्वाद भी आने लगता है। बेटा व बेटी का यह भेदभाव उनकी सन्तानों तक चलते रहता है। बेटे की सन्तानों का मुँह देखने के लिए माँ-बाप तरसते रहते हैं, भले बेटी की सन्तानों द्वारा कितनी बार नाना-नानी बन चुके हों। स्पष्टतः, बेटी को ही नहीं, उसकी सन्तानों को भी बेटे की सन्तानों से कमतर या पराया मानने की सोच हमारे समाज की रग-रग में भरी हुई है।

बेटी से खौफ, बेटे की चाह : बाप-माँ दोनों को, पर अलग-अलग राह

लड़की के पैदा होने पर माँ से माँग की जाती है कि वह जल्दी से पुनः गर्भ धारण करे ताकि बेटे की सम्भावना बने। भले स्तनपान बिना बच्ची और खुद माँ की जान खतरे में हो। खुद से भी माँ की यही चाह हो सकती है। इसके विपरीत, लड़का पैदा होने पर गर्भ को निरोधकों द्वारा 2-3 साल तक टाला जाता है ताकि लड़के को खूब स्तनपान, पालन-पोषण का मौका मिले। NFHS III के अनुसार भारत में 62.1 प्रतिशत स्त्रियाँ (ग्रामीण 74.7, शहरी 54.4) ऐसी हैं जो दो सन्तानों के रूप में बेटियाँ रहने पर, पुनः कोई बच्चा नहीं चाहतीं। यानी 37.9 प्रतिशत स्त्रियाँ उस पर भी चाहती हैं कि गर्भधारण करें—शायद इस बार बेटे का मुँह देख लें। इसी तरह, जिनके 1 पुत्री के साथ 1 पुत्र हो गया; उनकी मानो मन की साध पूरी हो गई। तभी तो ऐसी स्त्रियों में 88.1 प्रतिशत (ग्रामीण-85.3, शहरी-92.1) फिर गर्भधारण करना नहीं चाहतीं। फिर, तो यदि 2 पुत्र हो गए, तब मानो पूर्ण कृतार्थ हो गई स्त्री। ऐसी स्त्रियों में 89.9 प्रतिशत (ग्रामीण 88.6, शहरी 92.1) पुनः गर्भ धारणा नहीं चाहतीं। 2 पुत्री वाली स्त्रियों में अशिक्षिताओं में से सिर्फ 48.0 प्रतिशत गर्भधारण नहीं करना चाहतीं और जैसे-जैसे स्त्री की शिक्षा बढ़ती जाती है; यह प्रतिशत बढ़ते जाता है। 10 से ऊपर तक पढ़ी स्त्रियों में से 2 पुत्री वाली 77.5 प्रतिशत पुनः गर्भधारण करना नहीं चाहतीं। इस आँकड़े के साथ, बिहार के आँकड़े देखें, क्योंकि शिक्षा की स्थिति सबसे खराब है वहाँ। वहाँ दो पुत्री वाली सिर्फ 20 प्रतिशत स्त्रियाँ (शहरी 41.9, ग्रामीण 15.6) पुनः गर्भधारण नहीं करना चाहतीं।

पर, 1 बेटी के साथ 1 बेटा हो गया, तो वैसी 77.4 प्रतिशत स्त्रियाँ (शहरी 85.7, ग्रामीण 75.6) फिर बच्चे नहीं चाहतीं। उत्तर प्रदेश की स्थिति भी कुछ ठीक नहीं। 2 पुत्री वाली 21.3 प्रतिशत (शहरी 51.9, ग्रामीण 30.8) स्त्रियाँ फिर से गर्भधारण नहीं चाहतीं। 'जनसत्ता' (4-1-07) की खबर के अनुसार बिहार की पुत्रवती महिलाओं की कुल संख्या का 61% दूसरी सन्तान के रूप में भी बेटा चाहती हैं। सिर्फ 9 प्रतिशत दूसरी सन्तान के रूप में बेटी चाहती हैं। सरकारी सर्वेक्षण के मुताबिक 51% बिहारी स्त्रियों की पहली पसन्द बेटा है, 33% भगवान की मर्जी पर आश्रित हैं। सिर्फ 15% स्त्रियाँ हैं, जो पहली सन्तान के रूप में भी बेटी-बेटा में कोई फर्क नहीं मानतीं। (जनसत्ता 4-01-07)

इस अध्ययन के साथ, समृद्ध राज्यों (पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, गुजरात, महाराष्ट्र आदि) जहाँ मादा भ्रूण हत्या उग्र रूप में है, का अध्ययन रखने पर कुछ रोचक पहलू उजागर होते हैं। इनमें देखा गया कि कहीं-कहीं साक्षरता या शिक्षा बढ़ी तो समस्या ने और उग्रता दिखलाई। फिर भी यह देखा गया कि जहाँ ज्यादा मादा-भ्रूण-घात है, वहाँ स्त्री शिक्षा का प्रतिशत कम है। इन सबसे क्या यह निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ पैसा बढ़ता है, वहाँ कन्याओं की हत्यारी तकनीक की आमद भी बढ़ती है? मर्दों की शिक्षा बढ़ने से हत्या-प्रविधि की उनकी जानकारी में इजाफा हुआ और स्त्री-शिक्षा बढ़ने से पुत्र-मोह व पुत्री-द्रोह की प्रवृत्ति भी कमती गई? यह निष्कर्ष भी इतनी आसानी से खारिज नहीं किया जा सकता। डॉ. अमर्त्य सेन ने 'भारत विकास की दिशाएँ' पुस्तक में अपना अध्ययन प्रस्तुत किया है कि सम्पन्न की तुलना में गरीब परिवारों में स्त्री-पुरुष में समानता एवं परस्पर सहयोग की स्थिति ज्यादा होती है। उन्होंने पाया कि लिंगानुपात की उच्चता वाले जनपदों में गरीबी का स्तर भी ऊँचा था। इसका तर्क उन्होंने यह खोजा कि जिन परिवारों में जीवन निर्वाह ही सबसे बड़ी चुनौती हो, वहाँ स्त्री-पुरुष सहयोग जीवन की एक अनिवार्यता बन जाता है। उन्होंने स्त्री के सशक्तीकरण को मादा सन्तानों की जीवन-सम्भाव्यता के लिए सर्वोपरि उपाय माना तथा यह भी कहा कि जहाँ स्त्री के बिना सशक्तीकरण के समृद्धि व आधुनिकता आई है, वहाँ नारी का जीवन और अधिक संतुष्ट हुआ है। यानी, मादा भ्रूण हत्या को रोकने का सशक्त उपाय है—स्त्री शिक्षा व जागरूकता एवं स्त्री की आर्थिक सक्रियता।

वैसे तो प्रकट सत्य यही है कि “मुझे जायदाद का वारिस चाहिए” या “कुलदीपक चाहिए” के नादिरशाही हुक्म के तहत पति पत्नी को गर्भपात हेतु विवश करते रहे हैं। पर कभी-कभी स्त्री की विवशता इतनी गहरी हो जाती है कि गर्भपात की सहज इच्छा सी बन जाती है उसी में। ग्रासरूट, फरवरी 2003 ई. की एक खबर के अनुसार पंजाब के भटिंडा जिले के एक ग्रामीण किसान ने बेटे की खातिर पत्नी को 14 बार मादा भ्रूण के गर्भपात की यातना से गुजारा था। वहाँ यदि कोई करुणार्द्र मर्द होता तो इस पुत्र मोहान्धता में यही कहता—‘काश! मेरी पत्नी के हो जाता एक बेटा, बार-बार तब बेचारी गर्भपात की पीड़ा से तो बचती।’

बार-बार गर्भपात से स्त्री को रक्तस्राव की स्थायी बीमारी तथा बाँझपन का भी

खतरा हो जाता है। यह भी सोचकर ये मूढ़ मर्द तो पत्नी-रूपी बकरी को कसाईघर से नहीं गुजारते। स्वयं उस पर गर्भ लादकर फिर यातना देना गर्भपात की।

मर्द, जो पत्नी के साथ इस प्रकार का बरताव करता रहा है, उसके धार्मिक व सामाजार्थिक कारण बहुत परम्परागत रहे हैं। इन कारणों के दो रूप रहे हैं—सकारात्मक व नकारात्मक (यद्यपि दोनों अनन्तः नकारात्मक ही हैं, क्योंकि मर्दवादी दृष्टि से ये कारण पैदा हुए हैं)। कृषि-आधारित अर्थव्यवस्था में और उस पर विवाह की पितृ स्थानीय-व्यवस्था (जिसमें लड़की को विदा करनी पड़ती है) के रहते, पुत्र-रूप में वारिस की चाह आम हो जाती है। इसके साथ, 'वृद्धावस्था में माँ-बाप की देखभाल कौन करेगा?' की चिन्ता भी सताती है तथा 'मरने के बाद अन्तिम संस्कार आदि के लिए भी तो बेटा चाहिए' की मूढ़ धार्मिकता भी बेटे की चाहत और कन्या जन्म से आहत करवाती है। राजनैतिक उथल-पुथल के युग में, बाह्य आक्रमणों के हमलावरों के हाथों अपनी कन्या के बलात्कृत होने के डर से भी बेटी न चाहने की सोच रही है। पर, ध्यान रखना चाहिए कि यहाँ भी कन्या के प्रति सकारात्मक सोच उतनी नहीं है [कि 'बेचारी को कुत्ते नोंच डालेंगे'], जितनी अपनी झूठी शान या मर्दानगी को बचाने की फिक्र। अन्यथा, वे ही बाप-माँ या भाई कन्या की देह को विवाह-व्यवस्था द्वारा बहुमुखी देह शोषण [श्रम, यौन, प्रजनन शक्ति का शोषण] की वेदी पर बलिदान करने का उत्सव न मनाते। कन्या का बाप या भाई आज भी यदि उसके अपहरण या उठाईगिरी से चिन्तित है, तो बड़ा कारण अपनी 'इज्जत' जाने का डर है। हाल में प्रकाश में आए 'निठारी काण्ड' की बलि चढ़ीं बच्चियों के बाप-भाइयों की यही सोच प्रमुखतः दिखी है। वे गुम हुई बच्चियों की भली-भाँति खोज इस डर से नहीं कर पा रहे थे कि समाज में हमारी इज्जत न डाउन हो जाए। लोग तरह-तरह की बातें उड़ाएँगे, कि हमने कन्या को कहीं कोठे पर बेच दिया, कि कन्या खुद ही किसी ऐरे-गैरे के साथ भाग या कोठे पर चली गई आदि। मर्दों की मूँछ नीची होने की यह चिन्ता इतनी ऐतिहासिक है कि कन्या का ब्याह कर दूसरे के घर डोली भेजने में अपनी हेठी समझती रही, जिसके कारण इस कदर नवजात कन्याएँ मार डाली गई कि कई गाँवों में सैकड़ों सालों तक कोई बारात न आई। जैसे—सितम्बर 1999 ई. में राजस्थान के देवरा गाँव (बाड़मेर) में 110 सालों में पहली बार कोई बारात आई—इन्दर सिंह की बेटी की। वह भी इसलिए बची थी, क्योंकि ननिहाल में जन्मी व पली थी। इसी प्रकार, ऐतिहासिक उल्लेख है कि 1586-87 ई. में लाहौर से कश्मीर जाते बादशाह अकबर ने एक ऐसा गाँव पाया था, जिसमें किसी परिवार में कोई बेटी न थी। उसने कन्या-हत्यारी परिपाटी को बन्द करने का तब कड़ा हुक्म जारी किया था। मूँछें ऊँची बनाए रखने की यही मर्दानगी भारत की 'वीर जारा' जैसी प्रेमकथा फिल्मों के निर्माण एवं हिट होने के पीछे है; जबकि वही फिल्म पाकिस्तान में फ्लॉप होती है। कारण—लड़का (शाहरुख खान) भारतीय है और लड़की (प्रीति जिंटा) पाकिस्तानी है उसमें। दूसरे के यहाँ से लड़की उठा लाना क्या ही कमाल की मर्दानगी है—'उठा ले जाएँगे तुझे हम डोली में' की भाषा बोलती। पर, अपने यहाँ से लड़की को

भेजना या उसका प्रेमवश स्वतः कहीं चला जाना, ओह! नाक कटानेवाली बात है। प्लास्टिक सर्जरी के इस युग में भी मर्दों को नाक की इतनी चिन्ता।

लड़की को जनमते मार डालने के पीछे, उसकी भावी शादी से जुड़े और भी कारण हैं। खर्चीली शादियों में इज्जत देखने की बीमारी पुरानी है। यदि वैसा करने का सामर्थ्य या इच्छा न हो तो? सादगी से करने में फिर मूँछों के बालों पर अटैक होगा। इसी तरह दहेज प्रथा के कारण भी मजबूर माँ-बाप गर्भ में या जनमते ही लड़की का गला घोंटना उचित समझते हैं। दहेज प्रथा का भौतिक चकाचौंध से आज राक्षसी विस्तार हुआ है, जिससे कन्या के पिता-माता की समस्याएँ बढ़ गई हैं। इस घटना के भी कई पहलू हैं। यदि धनी माँ-बाप हैं तो भी धन बचाना चाहते हैं, इसलिए कन्या से छुट्टी ले लेना चाहते हैं। बिना दहेज की शादी करने में वे अपनी हेठी भी समझ सकते हैं। मूँछ का मामला फिर। मर्दों की मूँछ न हुई, बन्दर की पूँछ हो गई! सवाल है, दहेज के नाम पर खर्च करने से समर्थ माँ-बाप भी क्यों घबराते हैं? यद्यपि इस प्रकार का निर्लज्ज धूम-धड़ाका कतई उचित नहीं, परन्तु इस समस्या का एक पहलू यह भी है कि लड़की के नाम पर वे कुछ भी खर्च करने को तैयार नहीं हैं। तभी तो नए युग में 'संशोधित उत्तराधिकार कानून 2005' आ जाने के कारण डर गए हैं, कहीं बेटी बेटे के बराबर हिस्सा न माँग ले। बेटी-रूपी गोइठा (उपले) में घी (=धन) सुखाने से बचाने हेतु कन्या-वध या भ्रूण हत्या तब उन्हें अनिवार्य लगती है। इस प्रकार कन्या-हत्या के पीछे का मूल तर्क लिंगभेदी मानसिकता है, जिसके बाह्य चोले (बाहरी कारण) समय-समय पर अनेक तर्कों के रूप में बदलते रहे हैं।

इसके साथ, पराये घर में लड़की को भेजने और इस प्रकार उसका भविष्य व जान जोखिम में डालने—ससुराल वालों की प्रताड़ना व दहेज-हत्या से बचाने हेतु भी शुरुआत में ही कन्या हत्या कर डालने का तर्क दिया जाता है। पर, इसमें भी लड़की को पढ़ा-लिखाकर आत्मनिर्भर बनाने एवं सम्पदा में उसे भागीदार बनाने की सोच न रख के, उसे आगे किसी मर्द के खूँटे में बाँधने की बँधी-बँधाई पितृसत्तात्मक विचारधारा से ही यह तर्क जनमा है।

कोई स्त्री खुद अपने गर्भस्थ मादा शिशु या लड़की को जनमते ही मार डालने के लिए तैयार रहती है तो कारण उसके मन में बैठाया गया ऐतिहासिक पितृसत्तावादी धार्मिक-सामाजिक विचार है, जो स्त्री को हेय व पुरुष को हर तरह से श्रेष्ठ बतलाता है। इतना ही नहीं, वह कन्या के जन्म पर स्त्री को दंडित भी करता है। पुत्र जनमाने पर प्रलोभन एवं कन्या जनमाने का दंड-भय स्त्री को परेशान किए रखता है। राजेश जोशी की कविता है—

“स्त्री को जन्म देकर उदास है एक स्त्री
लड़की को जन्म देकर काँप रही है एक स्त्री
लड़की को जन्म देकर जच्चा-घर में सिसक रही है एक स्त्री
इतनी जटिल बना दी गई है उसकी दासता
कि स्त्री है सबसे क्रूर स्त्री के बारे में।”

सोपानीकृत परिवार व्यवस्था में स्त्री अपना दर्जा तब बढ़ा पाती है जब वह बेटा पैदा कर दे। नववधू इसी सोच में डालकर ससुराल भेजी जाती है। स्त्री की जटिल बना दी गई यह दासता स्त्री को, बेटी के जन्म टालने हेतु बीमारी या मौत की हद तक जाकर कन्या-गर्भपात कराने को तैयार करती है—उत्तरांचल में कई मील पैदल चलवाकर उसे लिंग-परीक्षण हेतु बरेली या देहरादून तक खींच लाती है यही दासता। घर के अन्दर या बाहर व्याप्त असम्मान या असुरक्षा का भय स्त्री को सताता रहता है, जो बेटे न पैदा करके बेटी पैदा करने पर उसे ग्रसेगा। बेटी को जनमा कर, उसे अपनी ही तरह पग-पग पर, लांछना, उपेक्षा, समाज के चील-गिद्धों की मांसलोलुप-देह नोंची प्रक्रिया-विवाह-व्यवस्था-गत शोषण आदि त्रासदियों में डालने और इस प्रकार उसे धीमी मौत में धकेलने को महिलाएँ तैयार नहीं हैं। इस कारण वे अपनी अजन्मी या अभी जन्मी बेटियों की हत्या हेतु तैयार हो जाती हैं। यह राय 'विविध भारती' रेडियो चैनल द्वारा कन्या-भ्रूण हत्या पर करवाए 'श्रोताओं की राय' वाले कार्यक्रम 'मन्थन' जैसे प्रसारण में कई महिलाओं ने व्यक्त की थी। 'भय' का स्वरूप यहाँ तक है कि बेटा न जनमा पाने या कन्या वध को तैयार न होने वाली स्त्री निर्वासित ही नहीं होती, मार भी डाली जा सकती है। सब मिलाकर, भय व प्रलोभन की चक्की के पाटों के बीच पिसती औरत कई सोचों की शिकार होकर बेटा ही चाहती है। कदाचित् यही कारण प्राचीनकालीन विधवाओं को नियोग से पुत्र प्राप्ति हेतु तैयार करता था। धर्मशास्त्रीय विधान था कि पुत्रवती विधवा को ही सम्पदा में कोई भाग मिलेगा। फिर समाज द्वारा पीड़ित स्त्री को, ऐसे घटिया परिवेश में अपना वजूद कायम रखने और नीच मर्दानी हरकतों से स्वयं को बचाने अथवा उस समाज से बदला लेने हेतु भी सहारा रूप में एक बेटा चाहिए था।

कानून का कैसा डर? क्लिनिक बने कसाईघर

कुल मिलाकर, (भारतीय) समाज के धार्मिक-सांस्कृतिक-सामाजिक या आर्थिक ढाँचे के कारण पुत्री के प्रति द्रोह और पुत्र के प्रति अन्धमोह बना हुआ है। मर्दवादी डर व लालच से ग्रस्त हैं स्त्री-पुरुष। उनके इस डर का फायदा उठाया कुकुरमुत्तों की तरह उगे लिंग-परीक्षण व गर्भपात क्लिनिकों ने। न सिर्फ फायदा उठाया, वरन् बेशर्म प्रचार कर-करके उन्होंने समाज में यह सोच मजबूत करने में सफलता पाई है कि 'लड़की पराई है', उसके लालन-पालन या विवाह में खर्च करने अथवा पराए हाथ में सौंपकर रिस्क लेने से बेहतर है अभी ही उन्हें मसल दो। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। 'आज खर्च कीजिए, कल बचाइए', 'दहेज का सस्ता विकल्प', 'पाँच सौ दीजिए, पाँच लाख बचाइए,' 'लड़की न चाहनेवाली महिलाओं के लिए उदार सेवा उपलब्ध' जैसे कर्कश स्वरों में ये गधे रेंक-रेंककर पहले से ही सबके मन में बैठे 'बेटी के प्रति सांस्कृतिक ज़हर' को और विस्फोटक बना रहे हैं। बूचड़खाना खोले बैठे डॉक्टरों (जिनमें लेडी डॉक्टर भी हैं) की चिकित्सा-विद्या पैसा के लिए हत्या-विद्या बन गई है। देश में ऐसी हत्यारी

प्रौद्योगिकी का प्रथम उदाहरण वीर भूमि पंजाब ने पेश किया—पहला अल्ट्रासोनोग्राफी सेंटर खोलकर। 2000 ई. में एक रपट के अनुसार देश में कुल 22000 ऐसे क्लिनिक (? हत्यागृह) चल रहे थे, जिसका 15% अकेले पंजाब में था। उनमें से सिर्फ एक प्रतिशत पंजीकृत थे। वहाँ 100 गाँव ऐसे थे, जहाँ स्कूल या अस्पताल तो नहीं थे, पर ऐसी वधशालाएँ जरूर खुल गई थीं। इसी सन्दर्भ में, यह भी जान लेना जरूरी है कि चूँकि स्त्री-हक में 1972 में ही गर्भपात वैध हो चुका है, इसलिए उसका नाजायज फायदा उठाकर कन्या-भ्रूणों की पहचान के बाद हत्या करके उठाया जा रहा है। अब तो यह साबित करना मुश्किल ही नहीं असम्भव कोटि का मामला है कि फलाँ गर्भपात स्त्री हितैषी कानून के उपबन्धों के तहत है और फलाँ प्रतिबन्धित लिंग-परीक्षण का दुष्परिणाम यानी 'सेक्स-सेलेक्शन-एबॉर्शन'। कारण स्पष्ट है—लिंग परीक्षण कहीं और कराया जाता है, गर्भपात कहीं और। फिर, लिंग-परीक्षक यमराजी डॉक्टर का क्लिनिक पंजीकृत भी नहीं होता और वह परीक्षण की लिखित रिपोर्ट भी नहीं देता, जिससे बेदाग बचा रहता है। यही कारण है कि लिंग-परीक्षण का कानूनी हथियार बेअसर सा होकर रह जाता है।

1 जनवरी 1988 को सर्वप्रथम महाराष्ट्र में 'प्रसवपूर्व नैदानिक तकनीकों' को विनियमित करने का कानून लागू हुआ। भारत सरकार ने 'प्रसव पूर्व निदान तकनीक विनियमन और दुरुपयोग निवारण अधिनियम 1994' को पारित कर 1996 ई. में लागू कर दिया। फिर, इसमें 2002 ई. में संशोधन कर नया कानून भी लागू किया गया। पंजाब ने भी अपने यहाँ 1996 में ऐसा कानून बनाया। पर, से सब कानून कितने बेअसर रहे हैं इस का प्रमाण इसी बात से मिलता है कि लगभग एक दशक में सिर्फ एक बार उसका अहसास हुआ है, वह भी सीधे दस साल पर पहली बार। 28 मार्च, 2006 ई. को हरियाणा में पलवल की एक अदालत ने कन्या भ्रूण-हत्या के लिए दोषी पाए जाने पर डॉ. अनिल सभानी और उसके सहायक करतार सिंह को दो वर्ष कैद और 5000 रु. जुर्माने की सजा सुनाई। देश भर में ऐसे हजारों मुकदमे चल भी रहे हैं तथा 200 का निपटारा भी हो चुका है, पर अब तक सिर्फ यही एक सजा मिल पाई है।

विधि की ढील, गर्भ में ही गई कन्या को लील

इन सबका दुष्परिणाम हो रहा है कन्या भ्रूणों की हत्या में बेतहाशा बढ़ोतरी। UNDP (संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम) की 2000 ई. में जारी एक रिपोर्ट के अनुसार, 1984 ई. में भ्रूण हत्या के 4000 मामले अकेले मुम्बई शहर में हुए थे और 16000 गर्भपात केवल एक क्लिनिक (? हत्याघर) में हुए थे। एक खास अस्पताल में हुए 8000 गर्भपातों में से केवल 1 को छोड़कर बाकी सब मादा भ्रूणों के थे। शहर के 84% स्त्री रोग विशेषज्ञों ने भ्रूण-लिंग परीक्षण करने की बात स्वीकार की थी (स्रोत—NPPW 1988)। 2000 ई. की सरकारी सूची में भी, भ्रूण हत्या में महाराष्ट्र सर्वोपरि था। मादा भ्रूण हत्या

पर पाबन्दी के पूर्व हरियाणा का सिरसा जिला उत्तर भारत की सबसे बड़ी मादा भ्रूण वधशाला बन चुका था (स्रोत—दैनिक 'ट्रिब्यून', चंडीगढ़, 23/6/93)। पंजाब में पिछले एक दशक में सवा छह लाख से ज्यादा लड़कियों के गर्भ में ही मार डालने की खबर है। 'दिवंगत बेटियाँ' (जगजीत सिंह) के उल्लेखानुसार, सालाना 62200, मासिक 5200 एवं दैनिक 173 ऐसी हत्याएँ हुई हैं। पुस्तक यह भी कहती है कि राज्य के कई खंड (ब्लॉक) ऐसे हैं, जिनमें प्रति एक हजार पैदाइश पर दो-ढाई सौ ऐसी भ्रूण हत्याएँ की जाती हैं। उसके उल्लेख से पता चलता है कि चण्डीगढ़ में 1997 का आकलन है कि 6 लाख की आबादी रहे शहर में 8000 हत्याएँ हर साल होती थीं। UNDP (2000) रिपोर्ट के अनुसार तमिलनाडु के 6 जिलों में से 3178 भ्रूण हत्याएँ 1995 ई. में पाई गईं। यूनिसेफ ने 2000 ई. की वार्षिक रिपोर्ट में भारत के, तब के 32 राज्यों व संघशासित प्रदेशों में से 27 में मादा भ्रूण हत्याएँ होती पाई गईं।

'संयुक्त राष्ट्र संघ' ने चीन, भारत, हांगकांग, दक्षिण कोरिया आदि में भ्रूण हत्या की व्यापकता को पाया तथा चीन को इस मामले में अव्वल पाया। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' की (सितम्बर 1997) एक रिपोर्ट के अनुसार, 1979 ई. में 'प्रति दम्पति एक सन्तान' की नीति लागू होने का फलितार्थ यह हुआ कि संस्थागत हत्या और उपेक्षा के कारण 50 लाख से भी ज्यादा महिलाएँ गायब थीं। खासकर कृषि-प्रधान क्षेत्रों में बेटों की चाहत ज्यादा है। अल्ट्रासाउंड क्लिनिक कुकुरमुत्तों की तरह उगे हुए हैं और मेंढकों की तरह टर्न रहे हैं—4 डॉलर में लिंग जाँच तथा 15-20 डॉलर में गर्भपात। इस व्यवस्था ने मादा भ्रूणों की हत्या आम कर दी है।

चीनी क्रान्ति (1949 ई.) के पूर्व, बड़े पैमाने पर बेटियों की हत्या या उन्हें लावारिस छोड़ देने का क्रूर रिवाज था। 50-70 के दशक में सरकार ने सख्ती की तो वह प्रवृत्ति खत्म हुई। पर 1979 ई. के बाद पुनः चली, जैसा कि उपरिलिखित है।

प्रसव-पूर्व निदान तकनीकें, जिनका इस्तेमाल इस समय कन्या भ्रूण हत्या के लिए लिंग परीक्षण हेतु हो रहा है, उनमें अल्ट्रासाउंड ज्यादा लोकप्रिय है। एम्नियोसैंटेसिस से 16-18 सप्ताह के गर्भ का लिंग पता चल सकता है और ऐम्बोमिनल अल्ट्रासाउंड से 14 सप्ताह के तथा ट्रांसवेजिनल अल्ट्रासाउंड से 12 सप्ताह के गर्भ का। इसके सिवा सोनोग्राफी व कोरियोनिक विल्लस सैम्पलिंग भी ऐसी ही तकनीकें हैं। पूर्व उल्लिखित 'माइक्रोसाट' जैसी सेक्स सेलेक्शन तकनीकों वाले केन्द्र भी पंजाब में कई जगह खुल चुके हैं। अतः अब और कम झंझट है बेटियों का पता साफ करने में। यह ठीक है कि खर्चीली होने के कारण इन आधुनिक विधियों से बेटियों का हनन अमीर लोग ही करा सकते हैं, पर परम्परागत तरीके से जन्म बाद हत्या करने से गरीबों को भी किसने रोका है?

मादा का मरण, केवल लिंग-भेद के कारण

1998 ई. में भारत सरकार के प्रकाशन 'एम्पावर्ड गर्ल एम्पावर्ड सोसाइटी' के अनुसार हर छठी मादा-मृत्यु जेंडर-आधारित भेदभाव के कारण होती है। पर, बाकी 5 जो मरती

हैं, उनका भी विचार करें तो पाएँगे/पाएँगी कि जिन बीमारियों या दुर्घटनाओं को कारण रूप में उपस्थित किया जा रहा है—उनके पीछे भी कहीं न कहीं स्त्री विरोधी परम्पराओं, थोपे गए मूल्यों-परिधानों, कार्यभारों, कुपोषण आदि का हाथ है, जो स्त्री को पुरुष की तुलना में उन तक जल्दी या पहले पहुँचा देते हैं। इस तरह स्त्री की मौत के दो तरह के कारण होते हैं—

(क) प्रत्यक्ष हत्या—भ्रूण-हत्या, शिशु-हत्या, पालन में ढिलाई या इलाज न कराते हुए मार डालना, दहेज हत्या, इज्जत के नाम पर हत्या, डायन-हत्या, प्रेम/विवाह स्वेच्छा से कर लेने पर हत्या आदि।

(ख) अप्रत्यक्ष कारण—स्त्री को गलत/पिछड़ी मान्यताओं, परदा, भारी-भरकम और हवा-रोधी पोशाक-आभूषण आदि, घरेलू कामों में कमरतोड़ व्यस्तता आदि में उलझा कर उसे बीमारी या दुर्घटना तक जल्दी पहुँचा देना। साथ ही गर्भ-भार ग्रस्त कर प्रसव-मौत का तोहफा (?) भेंट करना। कुछ नहीं तो अमर्यादित यौन-क्रिया (बलात्कार) थोपकर उसे जीवन भर यौन रोगों में डाले रखना।

कुड़ीमार समुदायों के हाथ खून से लाल

सामन्तीवाद मान्यताएँ प्राचीन काल से ही अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर कन्या शिशुओं की हत्याएँ कराती रही हैं। विविध जातियों में समाज का बँटना यदि एक त्रासदीपूर्ण सच्चाई है, तो उससे भी त्रासद है उनमें से कुछ की 'कुड़ीमार' (कन्या शिशु की हत्या करनेवाला) के रूप में कुख्याति। इतिहास के पिछले हजारों हजार साल से भारत की कई जातियाँ कन्या-हनन के लिए बदनाम रही हैं। वैसे कन्या की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष हत्या का दोषी हर जाति-समुदाय—यानी पूरा भारतवर्ष है; पर कुछ जातियों में इसकी विधिवत् परम्परा विकसित हो गई थी और अभी भी है। ऐसी जातियाँ सवर्ण-अवर्ण दोनों वर्ग की रही हैं और पूरे भारत में क्या पंजाब, क्या तमिलनाडु, क्या गुजरात, क्या उत्तरप्रदेश, क्या बिहार, क्या मध्य प्रदेश, क्या महाराष्ट्र, क्या राजस्थान—सर्वत्र व्याप्त रही हैं ऐसी कुड़ीमार जातियाँ। पंजाब तो सदियों से 'कुड़ीमारन दा देस' (बच्चियों के हत्यारों का देश) का कलंक ढो ही रहा है। ऐसी जातियाँ वहाँ के सिख समुदाय में भी रही हैं, हिन्दू समुदाय में भी—पूरे देश का यह हाल रहा है। सुखद आश्चर्य है कि प्रत्यक्ष हत्या की ऐसी कोई परम्परा मुस्लिम समुदाय में अब तक नहीं पाई गई है। इंडिया टुडे (1986 ई.) की रपट के अनुसार तमिलनाडु की एक जाति विशेष कन्या हत्या में बड़ी बदनाम रही है। वहाँ पिछले 10 साल में उस जाति का शायद ही कोई परिवार हो जिसने यह पाप न किया हो। कन्या प्रसविनी 95% माँएँ प्रसव के बाद अस्पताल से फरार होती पाई गईं। जरूर वे कन्या-हत्या के लिए भागती होंगी। कन्या-मारन प्रथा सदियों से कहीं गाँव, कहीं जाति तो कहीं पारिवारिक स्तर पर जारी रहने की खबर मिलती रही है। जगजीत सिंह ने 'दिवंगत बेटियाँ' पुस्तक में जो तथ्य दिए हैं, उन के अनुसार 1808

ई. में बम्बई के गवर्नर डंकन ने दस्तावेज प्रस्तुत कर कई राजपूत, वणिक, शूद्र जातियों को-कन्या हत्यारी रूप में पाया था। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश के कई जिलों आजमगढ़, वाराणसी, जौनपुर आदि में कन्या-हत्या की कुप्रथा कई सदियों से जारी रखनेवाली कुछ जातियों को अंगरेज अधिकारियों ने चिह्नित किया था। उन अधिकारियों तथा रियासतों ने ऐसी कुरीतियों के विध्वंस हेतु बड़े पैमाने पर पहल भी की थी। उनमें उन्हें सफलता भी मिली थी। पर कितने समय तक टिकी?

इसके मूल (जड़) यानी पितृसत्ता को उखाड़े बिना, कोई भी 'असर' कब तक असरदार बना रहेगा? सो, समय पाकर फिर वह जड़ लहलहा गई है। कन्या भ्रूण हत्या के नए रूप में वह खर-पतवार बनकर पूरे देश में छा रही है। साथ ही पुरानी हिंसक विधियाँ भी बाकायदा जारी हैं। इंडिया टुडे (1986) की रपट थी कि तमिलनाडु के उसिलमपट्टी के एक सरकारी अस्पताल में हर साल 600 बच्चियों का जन्म दर्ज किया जाता था, जिनमें में 570 जनमते ही गायब कर दी जाती थीं। कितनी दुःखद सच्चाई रही है।

बेटी-द्रोही कूड़ा, लिंगानुपात को ले बूड़ा

इन सब क्रूर वास्तविकताओं से लिंगानुपात (यानी पुरुष संख्या के सापेक्ष स्त्री संख्या) को तो गिरना ही था। एक आकलन के अनुसार औद्योगिक देशों में 100 पुरुषों पर 106 स्त्रियाँ, उपसहारा अफ्रीका में 102, द. पू. एशिया में 101 तथा भारत-चीन जैसे बड़े देशों में 100 से काफी नीचे हैं। 2001 में प्रति हजार पुरुषों पर स्त्री संख्या यानी लिंगानुपात विश्व का 986 रहा है। दस प्रमुख देशों की स्थिति इस प्रकार रही है—रूस—1140, जापान—1041, अमेरिका 1029, ब्राजील 1025, नाइजीरिया 1016, इंडोनेशिया—1004, बांगलादेश—953, चीन 944, पाकिस्तान—938 और भारत 933। यानी इस सूची में सबसे दयनीय भारत है। एक अन्य स्रोत (Human Development in South Asia 2000) के अनुसार, भूटान (981), मालदीव (945), नेपाल (973), श्रीलंका (1021) की स्थिति है जिनमें श्रीलंका सर्वोपरि है।

1901 ई. में भारत का लिंगानुपात 972 था जो लगातार घटते हुए (अपवाद—1951 में केवल 1 की वृद्धि) 1991 में 927 आ पहुँचा। प्रचुर ध्यान देने के बाद 10 सालों में सिर्फ 6 का इजाफा 2001 ई. में दर्ज किया गया। पर, 0-6 वर्ष की बच्चियों की संख्या में सर्वाधिक गिरावट इसी वर्ष-अन्तराल में दर्ज की गई, जब बालिका-उत्थान के ढेर सारे नारों का शोर और कार्यक्रमों का दौर चल रहा था। आँकड़े देखें—

1941	—	1010
1971	—	964
1981	—	962
1991	—	945
2001	—	927

60 वर्षों में 83 अंकों की गिरावट।
यानी, 1.38 वार्षिक गिरावट। पर,
1991-2001 में 18 की गिरावट।
यानी, 1.8 वार्षिक गिरावट।

1901 ई. में देश के 7 राज्यों में लिंगानुपात 1000 से ऊपर था—

बिहार	1054	उड़ीसा	1037	मणिपुर	1037	मेघालय	1036
तमिलनाडु	1044	केरल	1004	मिजोरम	1113		

पर, सौ साल पर (2001 ई. में) देखा गया कि केरल को छोड़कर सभी 1000 से नीचे गिर गए। केरल ने बल्कि 54 अंकों का इजाफा कर लिया और 2001 ई. में 1058 हो गया। इस समय राज्यों में यही प्रथम स्थान पर है। ~~केन्द्रशासित प्रदेशों को~~ केन्द्रशासित प्रदेशों को मिलाकर पांडिचेरी (1001) उच्चतम तथा दमन-दीव (710) निम्नतम स्थिति में है। राज्यों में निम्नतम स्थिति हरियाणा (861) की है। 1991 के मुकाबले 2001 में जम्मू-कश्मीर (896 से 892), हिमाचल प्रदेश (976 से 968), पंजाब (882 से 876), चण्डीगढ़ (790 से 777), हरियाणा (865 से 861), दिल्ली (827 से 821) सिक्किम (878 से 875), गुजरात (934 से 920), दमन-दीव (969 से 710) दादरा नगर हवेली (952 से 812), गोवा (967 से 961) एवं महाराष्ट्र (934 से 922) का लिंगानुपात गिरा है। समग्र रूप से राज्यों में हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, सिक्किम, अरुणाचल, जम्मू कश्मीर में स्थिति ज्यादा विस्फोटक है, जिनमें 2001 ई. में लिंगानुपात क्रमश 861, ~~839~~ 876 921, 898, 875 893 एवं 892 है। फिर, केन्द्रशासित प्रदेशों में दमन-दीव (710), चण्डीगढ़ (777), दिल्ली (821), दादरा नगर हवेली (812) अंडमान निकोबार (846) की स्थिति बुरी है। पर इन्हें प्रभावित करनेवाले कई कारक हैं। राज्यों में गुजरात (920) व महाराष्ट्र (922) की स्थिति भी खराब है। बिहार (919) का स्तर भी बहुत नीचा है। दक्षिणी राज्यों की समस्या उत्तर की तरह उग्र नहीं है।

देश के न्यूनतम लिंगानुपात वाले 34 जिलों में पंजाब के सभी 17 जिले आते हैं। 0-6 वर्षीय बच्चों का लिंगानुपात 1991 के मुकाबले 2001 में पंजाब ने काफी गिरा दिया है—875 से 798।

2001 ई. में 0-6 वर्षीय बच्चों का लिंगानुपात सर्वाधिक छत्तीसगढ़ (975) का है। सबसे कम पंजाब (798) का है। हरियाणा (819), गुजरात (883) चण्डीगढ़ (845), दिल्ली (868), हिमाचल प्रदेश (896), उत्तरांचल (908), राजस्थान (909), उत्तर प्रदेश (916), महाराष्ट्र (913) तथा दमन-दीव (926) की स्थिति भी बड़े नाजुक दौर से गुजर रही है। मध्यप्रदेश (932), गोआ (938), कर्नाटक (944) जम्मू-कश्मीर (941), तमिलनाडु (942), बिहार (942), उड़ीसा (953), अंडमान निकोबार (957), मणिपुर (957), आंध्रप्रदेश (961) लक्षद्वीप (959), प. बंगाल (960) केरल, (960), झारखंड (965), असम (965), मिजोरम (964), नागालैंड (964), अरुणाचल प्रदेश (964), सिक्किम (963), त्रिपुरा (966), पांडिचेरी (967) मेघालय (973) तथा दादरा नगर हवेली (979) के लिंगानुपात कुछ कम बुरे हैं।

यहाँ ध्यातव्य है कि 0-6 वर्षीय लिंगानुपात ही वर्तमान में एक तरह से समाज में स्त्री के प्रति रवैये का मूलभूत दिग्दर्शक कहा जा सकता है। बड़ी उम्रवालों का

लिंगानुपात तो नगरीकरण-प्रव्रजन (माइग्रेशन) से भी प्रभावित हो सकता है, पर छोटी (0-6) का नहीं। यह हाल-फिलहाल के वर्षों में हुई बच्चियों (पैदा होने दी गई बच्चियों) की संख्या और तत्पश्चात् उनके रख-रखाव की तस्वीर पेश करता है (यानी, उनमें से कितनी को बचने दिया गया)।

इस दृष्टि से देखने पर केरल, जो समग्र लिंगानुपात (1058) में भारत में अव्वल है, भी बहुत अच्छी स्थिति में नहीं ठहरता। यानी, वहाँ भी कन्या हत्या (जन्म पूर्व या पश्चात्) हो ही रही है। 'हाँ' कहने के पूर्व हमें जीव विज्ञान का यह तथ्य ध्यान में रखना होगा कि 100 लड़कों पर लगभग 95 लड़कियाँ जनमती हैं। यह तथ्य कन्याघात से रहित यूरोपीय-अमेरिकी देशों के अध्ययन से निकला है। बाद में, चूँकि लड़कों में जीवन धारण की स्वाभाविक क्षमता लड़कियों से कम होती है, अतः हिसाब लगभग बराबर हो जाता है। एक आकलन कहता है कि सिंगापुर या ताइवान में 100 लड़कों पर 92, चीन में 82 तथा भारत में 92.7 लड़कियाँ अभी जनम रही हैं। भारत में 1991 में यह आँकड़ा 94.5 (यानी, लगभग ठीक) था, सो 2001 में गिरकर 92.7 आ गया। स्पष्टतः, यह कन्या-भ्रूण हत्या में उछाल से हुआ है। केरल, बंगाल, अरुणाचल आदि जीव वैज्ञानिक औसत के आसपास हैं, यानी कन्या भ्रूण-हत्या से प्रायः रहित हैं (आगे सावधान रहने की जरूरत है, क्योंकि वहाँ भी इसकी शुरुआत के संकेत हैं)। परन्तु पंजाब (798) और हरियाणा (819) तो अव्वल दर्जे पर हैं ही इस पाप में। 'जनसंख्या-आयोग' के नए विश्लेषण के अनुसार आसनसोल, कोच्चि, मदुरै को छोड़कर सभी महानगरों में 0-6 वर्षीय लिंगानुपात गिरा है।

भारत के धार्मिक समुदायों में लिंगानुपात की दृष्टि से सर्वाधिक अच्छी स्थिति ईसाई (1009) की, तब बौद्ध (953), जैन (940), मुस्लिम (936) एवं हिन्दू (931) की है। न्यूनतम लिंगानुपात सिख (893) का है। परन्तु किसी समुदाय में 0-6 वर्षीय लिंगानुपात 1000 तक नहीं पहुँचा है। सर्वाधिक ईसाई में (964) तथा न्यूनतम सिख में (786) पर लिंगानुपात है। वहाँ भी हरियाणा के सिख समुदाय में न्यूनतम (742) है। हिमाचल प्रदेश में तो जैनों का और बुरा हाल है—सिर्फ 644। वैसे समग्र भारत में जैन समुदाय का 0-6 वर्षीय लिंगानुपात 870 है। बौद्ध का 942, मुस्लिम का 950 तथा हिन्दू का 925 है।

इसी कड़ी में, अनुसूचीगत जाति (S.C.) व जनजाति (S.T.) की स्थिति पर एक दृष्टि डाल लेना उपयोगी होगा। भारत में S.C. व S.T. का लिंगानुपात 2001 ई. में क्रमशः 936 व 978 हैं। इनमें 0-6 वर्षीय लिंगानुपात क्रमशः 938 व 973 है।

पितृसत्ता से लाचार क्या करेगी सरकार?

सरकार बहुत करे, तो भ्रूण-हत्या रोक सकती है; कन्या-शिशु हत्या पर लगाम कस सकती है (यद्यपि यही होना बड़ी टेढ़ी खीर है; पर जन्म बाद कन्या के साथ हो रही ज्यादाती को कैसे रोक सकती है? वह भी तब जब ज्यादाती के कतिपय रूपों

को गृहिणी, माँ, पतिव्रता, सुशीला जैसे शब्दों के सम्मोहन से ढँककर, संस्कृति की घटना के रूप में परोसा गया है। उनमें से कुछ रूप हैं—स्त्री से समस्त गृहकार्य करवाना, खाना बनवाना, उसके द्वारा बच्चे-बूढ़ों का भार उठाना, सबको सुपोषण देकर कुपोषित रहना, व्रतोपवास करना, विवाहिता होने का सबूत देने के लिए खास वस्त्रालंकार सिन्दूरादि को ढोती रहना, पर्दा-धूँघट में रहना और सबके साथ पति की एकनिष्ठ यौनदासी बनी रहकर स्वयं यौन-रोग से ग्रस्त एवं काम-कुंठित होती रहना आदि। सरकार कानून बना सकती है, परन्तु समाज व धर्म की—भौतिक-सांस्कृतिक स्थितियों को, विवाह की पुरुषवर्चस्वी व्यवस्था (दहेज प्रथा, कन्या का मूल आवास छोड़कर जाना) और लड़की को अशिक्षित, सम्पदाहीन रखने की पद्धति को क्या बदल सकती है जो लड़की की कमर तोड़कर उसे अनचाही प्रजाति बना डालती है? अनचाही प्रजाति बनाते हैं—अपने घर बेटी जनमाने के सन्दर्भ में दूसरों के घर से विवाह की मुहर लगाकर लाने के सन्दर्भ नहीं। सरकार 'कन्यादान-योजनाओं' का आरंभ कर (जैसे मध्यप्रदेश, बिहार की सरकारें) कन्या-हितैषी होने का ढिंढोरा पीट सकती है, पर यह नहीं सोच सकती कि पितृसत्तात्मक विवाह की इस संरचना के रहते लड़की को वैवाहिक गुलामी में डालना स्त्री-कल्याण का रास्ता है या उसे पढ़ा-लिखाकर आत्मनिर्भर बनाना? एक स्वतंत्र-संभावनाशील (भले ही गरीब) कन्या को दान की वस्तु बना कर उस की चाहों, सपनों, साँसों या समस्त शारीरिकता पर किसी मर्दविशेष का कब्जा दिलवाने हेतु सरकार क्यों बेताब हो रही है? उपेक्षा द्वारा चुपचाप बच्ची/स्त्री के जीवन को असम्भव बना देनेवाले पितृसत्तात्मक जड़ीभूत अन्यायी समाज को सरकार क्या बदल देगी? इतना तो स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष वध की तुलना में स्त्री की उपेक्षा-मौत ज्यादा होती है। सरकार क्या करेगी?

रोको यह दुष्कृत्य वरना दिल-दहलाऊ दृश्य

यह विडम्बना ही है कि स्त्री-नाश के निर्लज्ज नग्न नाच को भी मौन समर्थन जनसंख्या-नियन्त्रण के नाम पर बुद्धिजीवियों तक से मिल जाता है। इसका विरोध लिंगानुपात की दृष्टि पर मूलतः आधारित होकर भी, इस कारण अवश्य करना चाहिए कि 'लिंग चयन' का यह मसला प्रजनन-सम्बन्धी स्त्री के मानवाधिकार पर बुलडोजर चलाना है। स्त्री को उसकी कोख पर अधिकार सुनिश्चित करने के लिए गर्भपात सम्बन्धी उसके अधिकार का समर्थन करना होगा, परन्तु 'सेक्स सेलेक्टिव एबॉर्शन' (यानी लिंग-जाँच के बाद मादा-भ्रूण-हत्या) का बिलकुल तीव्र प्रतिरोध करना होगा। ऐसा करना पाप या अपराध है, इस कारण नहीं कि जीव-हत्या हो रही है; बल्कि इस कारण कि दुनिया से एक लिंग को मिटा डालने अथवा उसे दुर्लभ प्रजाति के रूप में बदल देने के हिटलरी दमन चक्र का यह हिस्सा है। यह आगे, 'मातृभूमि' फिल्म की तरह ऐसे समाज में हमें पहुँचा देने की मूढ़ क्रूरता का हिस्सा है; जहाँ घोर असन्तुलन में बचा-खुचा सामाजिक व मानवीय ढाँचा भी खुलेआम नष्ट हो जाएगा—जहाँ गिनी-चुनी स्त्रियों के रह जाने से, हवस के

अँधेरे में मर्दों द्वारा नारी देह की नोंच-खसोट सीमातीत हो जाएगी और स्त्री अपनी देह के साथ सदियों से जारी रहे मर्दाना दंगों को और वीभत्स रूप में देखने एवं पुनर्नवा बलात्कार-पीड़ा को झेलते घुट-घुटकर जीने को बाध्य रहेगी (किसी हद तक आज भी यह स्थिति नहीं है? प्रत्यक्ष वेश्यावृत्ति के साथ वैवाहिक वेश्यावृत्ति में प्रौढ़ाएँ ही नहीं बच्चियाँ तक संतुष्ट हैं)। लड़कियाँ तब और असुरक्षित हो जाएँगी। लड़की की बिक्री तो जाने कब से होती आई है। कन्या-हत्यारी प्रथा के बाद हुई कमी से उसका अपहरण करके विवाह या प्रत्यक्ष वेश्यावृत्ति हेतु नीलाम करने की कुप्रथा बहुत पुरानी है। जयशंकर 'प्रसाद' के यथार्थवादी उपन्यास 'कंकाल' में वर्णन है कि तब (70-80 साल पूर्व) पंजाब में स्त्रियों की कमी थी, अतः स्त्री देह के सौदागरों, दलालों के गिरोह उनके अपहरण व विक्रय में लगे हुए थे। आज भी यह धन्धा खूब चल रहा है। जैसे-जैसे लड़कियाँ कम होती जाएँगी, उनकी देह ऊँची कीमत पर नीलाम होगी। तब खरीदनेवाला मर्द कीमत वसूलने हेतु और अधिक क्रूरता से उसे भोगेगा। 'लड़की की कमी होने से उसका महत्त्व बढ़ेगा'—यह सोचना महामूर्खता है। लड़की का महत्त्व तब तक कैसे बढ़ सकता है, जब तक पितृसत्ता मौजूद है? 'तब लड़के की जगह लड़की को दहेज मिलने लगेगा'—यह भी कहना हास्यास्पद है। पितृसत्ता के रहते लड़की का क्या अधिकार? गाय ऊँची कीमत पर बिकती है, तो गाय को वह मिलती है या मालिक को? इसी तरह लड़की का बाप-भाई उससे खूब कमाने लगेगा। अब तक, कहीं-कहीं प्रथावश उसके विवाह-समय कमाते भी रहा है। इस सोच का अगला विकास यह हो सकता है कि गरीब परिवार कमाई के लिए अधिकाधिक लड़कियाँ पैदा करें (लड़कों की ही गर्भहत्या या शिशु हत्या करके) और ठाट से महलों में रहें। वहाँ भी स्त्री बच्चियाँ पैदा करने की मशीन बनी रहेगी। माँ-बाप अपनी बच्चियों को वासना विक्षिप्त मर्दों की मंडी में (जैसी मंडियाँ अतीत में खुलेआम होती थीं) मुर्गियों की तरह बेच देंगे ताकि खरीदने वालों के लिए वे रोज मजेदार अंडे बनाकर परोसती रहें; अन्यथा एक ही दिन में वे मांसलोलुपों द्वारा मार डाली जाएँगी। बलात्कारार्थ बेची गई लड़कियाँ हवसी-वहशी समुदाय के द्वारा गर्भभार से लादी और फिर गर्भपात को भी मजबूर की जा सकती हैं। ओह! इतना भयानक दृश्य हो सकता है। इसलिए रोकिए कन्या वध की वर्तमान मूढ़ क्रूरता को।

कन्या-वध का विरोध इस तरह तो मत कीजिए

सबसे बड़ी बात है कि कन्या-हत्या के वर्तमान काल तक चले आए इस सिलसिले को रोकिए, क्योंकि लड़की को भी प्रकृति ने उतना ही जीने का हक दिया है, जितना लड़के को। आप होते कौन हो, उससे यह हक छीननेवाले? पर कन्या-हत्या इसलिए मत रोकिए कि भविष्य में लड़कों को दुल्हनें नहीं मिलेंगी और एक ही पत्नी में भाई लोगों को 'शेयर' (?) करना पड़ेगा। समाज वैज्ञानिक एवं सरकारें इसी भ्रान्त भाषा में कन्या भ्रूण हत्या या कन्या-वध रोकने चली हैं। 13/1/07 के 'जनसत्ता' की चिन्ता थी कि चीन में बढ़ती लैंगिक असमानता की वजह से सम्भवतया 2020 तक तीन करोड़ पुरुष कुँवारे रह

जाएँगे। वहीं 'चायनीज एकेडमी ऑफ सोशल साइंसेज' का दावा है कि आज चीन में 11 करोड़ 10 लाख पुरुष ऐसे हैं, जिन्हें पत्नी नहीं मिल पाएगी। यह संख्या (पत्नी वंचित मर्दों की संख्या) कनाडा की आबादी की तिगुनी है। वाह रे दावा! वाह रे तर्क! भारत सरकार भी तो कुछ इसी भाषा में सोच व बोल रही है। नारे व विज्ञापन देख लें, तो बात खुल जाएगी। 'एक ही पत्नी में भाई लोगों को शेयर करना पड़ेगा' की भाषा में डराते हुए सरकारी नारा दिल्ली में जगह-जगह लिखा मिला—

“दुल्हन एक तो दूल्हे चार। ढूँढ़ते रहोगे पत्नी का प्यार।”

एक गैर सरकारी संस्था (मारवाड़ी समाज) का नारा था—‘बेटी को मरवाओगे, तो दुल्हन कहाँ से लाओगे?’

इस महाभाव (?) को अन्य दिशाओं में भी विस्तार देते नारे थे—

“लड़की एक और लड़के चार। ढूँढ़ते रहोगे बहन का प्यार।”

अथवा, इस भाव के नारे मिले कि कन्या-भ्रूण हत्या करवा रहे हो तो कैसे पाओगे माँ-बहन-बेटी-प्रेमिका या पत्नी का प्यार?

सभी नारों की जात एक ही है—मर्द जात। क्या मादा भ्रूण-हत्या इसलिए रोकना जरूरी है कि मर्दों को 'प्यार' या रोमांस' नहीं मिलेगा? स्वयं भूखे रहकर खिलाने वाली 'माँ' नहीं मिलेगी? अपनी जन्मजात उपलब्धि (सम्पत्ति-अधिकार) को भाई पर कुर्बान करने और स्वयं राखी बाँधकर उससे दया की भीख माँगती दयनीय बहन नहीं मिलेगी? कन्यादान का पुण्य उपलब्ध करानेवाली बेटी न मिलेगी? भावना व देह के रोमांस से तुम्हें सँकनेवाली प्रेमिका न मिलेगी? अथवा, पति के लिए 'कार्येषु दासी...शयनेषु रम्भा...' के रूप में आदर्शकृत बड़े काम की मजेदार चीज, पुत्र-जनन की मशीन बनी पत्नी न मिल पाएगी? क्या इसी के लिए स्त्री को बचना चाहिए? क्या इसीलिए उसे बचना चाहिए कि इन सारे स्त्री-रूपों को शासित करने का सुख मर्द पाते हैं? क्या इसके लिए स्त्री को नहीं बचना चाहिए कि भारतीय संविधान के 21वें अनुच्छेद ने बिना भेदभाव किए सबको जीवन का हक दिया है, जिसमें लड़की भी उतनी ही भागीदार है? जबह या हलाल करने के लिए बकरी को बचा रहे हो तो वह और भी क्रूर कदम है। इस तरह से ये सारे नारे यही धिनौनी बात कहते प्रतीत नहीं होते कि बेटी को मरवाओगे तो रसोईघर या बिस्तर पर क्या खाओगे? इसी तरह, 'भारतीय रेडियो' पर मादा भ्रूण-हत्या के विरुद्ध प्रचारित यह विज्ञापन भी अक्सर सुनने में आता है—(भावतः इस प्रकार प्रस्तुत है—)

“माँ-बेटा, कल ही बहू की सोनोग्राफी करवाई। लड़की निकली। तू आज ही इसका गर्भपात करा दे।

बेटा-माँ! शर्म करो। इतना बड़ा पाप! भगवान से डरो।

माँ-लेकिन, एक बेटा तो होना ही चाहिए।

बेटा-नहीं, कोई जरूरी नहीं। आजकल लड़कियाँ भी हर क्षेत्र में लड़कों के बराबर हो रही हैं।”

ध्यान से देखिए तो पता चलेगा कि इस विज्ञापन की बुनावट कितनी महीन मर्दवादी है। यह एक बहुत बड़े सामाजिक सच (बेटावादी मर्दाना प्रवृत्ति) को धो-पोंछकर स्त्री को ही बहुत क्रूरता से बेटावादी बनाकर पेश करता है। इस रूप में 'औरत ही औरत की दुश्मन होती है'—इस मर्दवादी मिथ को सुदृढ़ करता है। विज्ञापन जो कहता है कि 'आजकल लड़कियाँ भी लड़कों के बराबर हो रही हैं, इसलिए बेटी को न मारो'—तो इसका क्या अर्थ निकला? लड़कियाँ लड़कों के बराबर न रह पाएँ, तो उन्हें जीने का कोई हक नहीं? पिछले समय में ऐसा न था, तब कन्या-वध जायज था? क्या तब लड़कियाँ स्वेच्छा से लड़कों के बराबर न रह पाती थीं? यदि दबाकर उन्हें न रखा जाता, काश! यह विज्ञापन तो उसी प्रकार का है कि किसी लड़की की यौन-हिंसा/दहेज-हत्या को यह कहकर रोका जाता है—'भाई! तुम्हारे घर में भी तो बहन-बेटी-माँ है!' अथवा, किसी लड़की को यौन-हिंसा से बचा रहे मर्द से अपराधी कहता है—'क्या यह तेरी माँ-बहन लगती है?' इससे क्या संकेत लें? जिसके घर में माँ, बहन, बेटी नहीं है, उसे दहेज माँगने अथवा उसके लिए ब्याहता पत्नी को जिन्दा जला देने का सरकारी परमिट मिला हुआ है? अथवा, जो स्त्री किसी पुरुष की सम्बन्ध-छतरी में न आए (यानी किसी की माँ, बहन, बेटी न लगे) तो उसे अपने ऊपर हुए यौनिक अत्याचार (बलात्कार) से बचने का कोई अधिकार नहीं? इसी तरह, जनसंख्या क्या केवल इसलिए समस्या है कि मर्द की अर्थव्यवस्था उसका बोझ उठाने में अक्षम है? काश! यह सोचकर भी तो मर्द स्त्री को जनवृद्धि-यन्त्र बनाने से बाज आते? 'दिल्ली मेट्रो रेल' में दिल्ली सरकार के 'कल्याण विभाग' का जो विज्ञापन दिखा—वह अब तक के सभी नारों-विज्ञापनों का 'बाप' निकला—

'जब मिले माँ-बहन-बेटी और बीवी का प्यार/फिर भ्रूण-हत्या का क्यों विचार?' इसका तो यही सन्देश निकल रहा है न कि जिस दिन स्त्रियाँ मर्दों को माँ, बहन, बेटी और बीवी के रूप में अपने प्यार या कुर्बानी से नवाजना बन्द कर देंगी और स्वतन्त्र व्यक्ति बन जाएँगी—आत्मनिर्भर हो जाएँगी, उस दिन उन्हें गर्भ में ही मार डालना वैध हो जाएगा। यदि वैधता की परिभाषा यही है, तो मर्दों पर यह क्यों नहीं लागू होती? उक्त तमाम अभिप्रायों की भाषा से उनकी नीयत में खोट होना सिद्ध होता है। यदि नीयत सही है, तो भाषा ऐसी क्यों रखी गई? यह ध्यान रखना चाहिए कि भाषा सही न रखने पर उद्देश्य भी भटक जाता है।

बेटावादी संस्कृति के विविध पक्षों पर इतने विस्तार से चर्चा करने का बड़ा मकसद जनसंख्या-विमर्श के उस अनछुए पहलू को भी छूना है—जिसमें पुत्र-कामना में मर्द-सत्ता ने स्त्री की कोख व देह पर कब्जा कर उसे यौन-व्यवहार के विविध रूपों में घसीटा अथवा एक अदद बेटे की चाह में पत्नी पर कई बार प्रजनन या गर्भपात के यातना-शिविर से गुजरने का दबाव डाला।

जनाधिक्य-संकट में स्त्री-समस्या के समग्र पाठ की सम्भावना

जनसंख्या-समस्या का अब तक एक सम्पूर्णता में विवेचन न हो पाया है—पीछे हमने कहा है। मेरा मानना है कि इसका एक पूरा ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय-सांस्कृतिक आर्थिक-मनोवैज्ञानिक व जीववैज्ञानिक विमर्श हो जाए तो स्त्री-समस्याओं का एक तरह से मुकम्मल पाठ तैयार हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि विमर्श इस रास्ते से करना होगा कि जननी बनकर नारी ने ही पुरुष को जन्म दिया और उसी की रचना (पुरुष) ने अपने वर्चस्व की सामाजिक-आर्थिक व सांस्कृतिक संरचना बनाकर, फिर वैचारिक ढाँचा बनाकर उस विषम संरचना को स्थायित्व प्रदान कर अपनी जन्मदात्री (माँ) स्त्री को हर प्रकार की पीड़ा में डाल दिया है, जैसा कि साहिर लुधियानवी ने महसूस किया है—

“औरत ने जनम दिया मर्दों को,
मर्दों ने उसे बाजार दिया।
जब जी चाहा मसला-कुचला,
जब जी चाहा दुत्कार दिया।”

पर, नहीं। हमें इस दार्शनिक से लगने वाले रास्ते से विचार करने की जरूरत नहीं। यद्यपि यह रास्ता दार्शनिक है भी नहीं, ठोस यथार्थ पर आधारित है। फिर भी, इस सूत्रवत् पंक्ति में बिना उलझे हम सीधे-सीधे भी पा सकते/सकती हैं कि जनसंख्या समस्या का सम्पूर्ण विश्लेषण करना, दरअसल औरत की तमाम समस्याग्रस्त दुनिया में प्रवेश करना है। फिर बिना इस समस्या को हल किए स्त्री की समस्याओं का न यथार्थ हल हो सकेगा, न वह सम्पूर्ण मनुष्य ही बन सकेगी। अब तक के विश्लेषणों में इस अभिप्राय की तस्वीर हम सबने देखी भी है।

पितृसत्ता के उदय के पीछे प्रजनन का हाथ

हम एकदम आदि युग में जाकर देखें तो पाएँगे/पाएँगी कि स्त्री की कार्यक्षमता व चुस्ती-फुर्ती पुरुष से कुछ भी कम नहीं थी। वह जंगली जीवन का युग था—दोनों के

लिए जीवन की चुनौतियाँ एवं उस पर खतरे भी समान थे और उनसे निबटने में वे समान रूप से भागीदार भी थे। खाद्य-संग्रह या शिकार में दोनों समान हिस्सेदार थे, अतः समान रूप से उनको प्रतिष्ठा प्राप्त थी। परन्तु, स्त्री की हीनता या गुलामी का बीजारोपण ही उस क्षण हुआ, जब पहली बार स्त्री गर्भवती हुई। उस युग में सम्भोग व गर्भाधान का रिश्ता अटूट था। प्राकृतिक प्रेरणा या देह की पुकार से नर-नारी मिलते थे और यौन-सम्बन्ध की गली में घुस जाते थे। किन्तु, इस क्रिया में उतरना था कि स्त्री कुछ बँध सी गई—गर्भभार युक्त होकर। इससे बचने का कोई उपाय भी तो न था। गर्भकालीन बोझ (शरीर का बना बेडौलपन) और गर्भ-निर्माण की प्रक्रिया से हो रही पोषक तत्वों की कमी ने स्त्री को अपनी सामान्य स्थिति के सापेक्ष (न कि आम पुरुष के सापेक्ष) अबला या अल्पबला बना दिया। इस अल्पकालिक अल्पबलता और जनित सन्तान के प्रति हुई सहज ममता (एवं उसके कारण किए गए लालन-पालन) में पड़ने से स्त्री की दैहिक सम्भावना कुछ सीमित हो गई और इसके कारण पुरुष के साथ कन्धे से कन्धा, कदम से कदम मिलाकर चलने में वह कुछ पिछड़ गई। इस प्रक्रिया से स्त्री को प्रायः हर वर्ष गुजरना पड़ता था—क्योंकि देह-सम्बन्ध प्राकृतिक प्रेरणा से चालित था और गर्भाधान से बचे रहने का कोई विज्ञान तब न था। दूसरी बात, शेष पशुओं की तरह सम्भोग/गर्भाधान का मौसम विशेष भी मनुष्य में न था—सालोंभर फ्री लाइसेन्स थी। सबका परिणाम यही होना था कि आर्थिक-सामाजिक प्रक्रियाओं में स्त्री बिल्कुल पुरुष के बराबर अपनी देह-शक्ति फिर मन-शक्ति से जुड़ने से पिछड़ती रही। ऊपर से गर्भकाल/स्तनपान काल में वह पुरुष साथी के द्वारा दी गई सुरक्षा की भी मोहताज थी। इन सबसे, स्त्री के अबलापन एवं उसके पुरुष-निर्भर, पुरुष-शासित होने की विचारधारा उदित हुई—जो पुरुष व स्त्री की बुद्धि में जड़ जमाती गई। इस आइडियोलॉजी के परिणामस्वरूप स्त्री की प्रत्यक्ष स्थितियाँ और भी बदतर होती गई (यानी, जो क्षमता बची रही, उसे भी यह 'विचार' नियन्त्रित करता गया)। फिर, इस बदतर स्थिति के संगत स्त्री हीनता या स्त्री के दोयम दर्जे की प्राणी (सेकेंड सेक्स) की आइडियोलॉजी और भी बढ़ी। सब मिलाकर, 'पुरुषत्व' व 'स्त्रीत्व' नामक दो मिथ या सांस्कृतिक कोटियाँ—यानी दो जेंडर स्थापित होते गए। यह 'जेंडर-' भेद धीरे-धीरे सभ्यता के विकास के साथ विकसित गया और सामाजिक संरचना, अर्थव्यवस्था, कला-सांस्कृतिक व धार्मिक क्षेत्र ही नहीं, जीवन के लिए भौतिक सुविधाओं का अन्वेषण करनेवाली विज्ञान-तकनीकों तक में छा गया। इस भेद ने ज्ञान के तमाम शास्त्रों व अनुशासनों में अपनी उपस्थिति दर्ज की, क्योंकि पिछड़ी चुकी स्त्री शास्त्र-रचना में तनिक भी भागीदार न थी—जब जीवन के हर आयाम में पुरुष से हीनतर ठहर चुकी थी। स्त्री-देह को अपनी जागीर मानने और उसकी श्रमशक्ति, प्रजनन-शक्ति व यौनिकता का अपने मनमाफिक उपयोग करनेवाली 'पितृसत्ता' विवाह-संस्था (व वेश्या तन्त्र) के रूप में उदित हो चुकी थी (मेरा स्पष्ट रूप से मानना है कि स्त्री की देह पर पुरुष के व्यक्तिगत अधिकार की इच्छा का फल है विवाह-संस्था तथा उस पर पुरुषों के सामूहिक अधिकार की इच्छा का फल है

वेश्या तन्त्र। अन्तर सिर्फ यही है कि दूसरा सिर्फ उससे रिक्रिएशन यानी आनन्द चाहता है; पहली उससे रिप्रोडक्शन यानी पुनरुत्पादन/सन्तान-जनन आदि भी चाहती है)। स्त्री की सारी गुलामियों पीड़ाओं का स्रोत ये ही संस्थाएँ हैं—‘पितृसत्ता’ के मुख्य स्तम्भ ये ही हैं। इसी ने स्त्री की देह को कब्जे में लेकर उसकी समस्त वैयक्तिक सम्भावनाओं (चाहे देह के क्षेत्र में बलिष्ठ, खिलाड़ी, सैनिक आदि बनने की हो या मन के क्षेत्र में प्रतिभा के अनन्त रूपों में फैलने की) को कुचल दिया है; साथ ही साथ उसे जनसंख्या बढ़ाने के साधन के रूप में धर्मशास्त्रों द्वारा आदर्शिकृत (‘माँ’, ‘पुत्रवती’, ‘सन्तान यानी पुत्र उद्देश्य है ब्याह का’ या ‘माँ बनना ही स्त्री का ऋण त्रय-शोधन/मोक्ष’ आदि नाम-रूपों में) करके व्यवहार में उसे वैसा बनाया भी। इस प्रकार हमने पाया कि पुरुष सत्तात्मक विचारधारा व संरचना के उदय के पीछे का पहलू जनसंख्या समस्या है और इसके उदय का ही परिणाम है जनसंख्या वृद्धि।

स्त्री-पुरुष वैषम्य यानी पितृसत्तात्मकता केवल एक सामाजिक समस्या नहीं है, बल्कि ढेर सारी सामाजिक समस्याओं की जननी भी है। फिर इतना ही नहीं है। नारी की दुर्बलता या सामाजिक हीनता से विकास-कार्यक्रम असन्तुलित ही नहीं होते, बल्कि विकास की गाड़ी भी धीमी हो जाती है। डॉ. अमर्त्य सेन ने बाखूबी इसे समझाया है। जनसंख्या समस्या का सबसे घातक परिणाम उन्होंने स्त्री की स्वतन्त्रता का छिन जाना बतलाया, जिससे कई कार्यों के सम्पादन से वह वंचित रह जाती है। स्त्रियों को लगातार गर्भधारण व शिशुपालन में पड़ी रहकर स्वतन्त्र कार्यक्षमता तो खोना ही पड़ता है, बल्कि कई बार तो प्रसव चक्र से उनकी जिन्दगी भी गम्भीर खतरे में पड़ जाती है। यह डॉ. सेन का सटीक विश्लेषण है।

बाल-विवाह, यानी नरक में ठेली गई अबोध बच्चियों की आह

भारत में बाल-विवाह को जनवृद्धि का एक जिम्मेदार कारण माना जाता है, पर इसका भी समुचित विवेचन नहीं किया जाता। बाल-विवाह वैसे तो लड़के-लड़की दोनों को फाँसनेवाली घटना का नाम है, पर सामाजिक सच्चाई यह है कि लड़की इसकी चपेट में अधिक है। उसे बोझ, परायाधन, दूसरे की धरोहर आदि समझा जाता है और जल्दी-से-जल्दी उसे ब्याह की लौह-शृंखला पहनाकर सिर का बोझ हल्का करना उचित समझा जाता है। आखिर कन्यादान का भी तो महत्त्व है। राष्ट्रीय प्रतिवर्षी सर्वेक्षण 52वें (N.S.S. 52) का आँकड़ा है कि प्रति हजार में 0-14 उम्र सीमा की ब्याही गई लड़कियाँ 4 हैं और लड़के भी चार हैं। पर, 15-19 वर्ष की वय-सीमा में पुरुष के ब्याहों की संख्या जहाँ 50 (शहरी 19, ग्रामीण 61) है, वहीं स्त्री के ब्याहों की संख्या 264 (शहरी 126, ग्रामीण 316) है। अर्थात् 1000 में से 50 लड़के ही, पर लड़कियाँ 264, यानी प्रति हजार 214 लड़कियाँ लड़कों की तुलना में अधिक ब्याही जाती हैं। यानी, जैसे ही थोड़ी बड़ी हुई लड़की, समाज की आँखों में खटकने लगती है उसकी बढ़ोतरी। उसे बिना किसी पुरुष की दासी बनाए, चैन नहीं पाता वह। फिर, यह आँकड़ा सिर्फ बाल-विवाह का

नहीं लगता। 50 लड़कियाँ तो 50 लड़कों के साथ विवाह में गूँथ दी गईं तो भले दिलमेल विवाह नहीं, पर उम्र की दृष्टि से अनमेल प्रायः नहीं है। दोनों 15-19 वय-अन्तराल में हैं। परन्तु, बाकी 214 लड़कियाँ कहाँ जाती हैं। स्पष्ट है कि वे अपने से पर्याप्त बड़े या प्रौढ़ मर्द के साथ कर दी जाती हैं। ग्रामीण क्षेत्र में तो यह संख्या और ज्यादा है—316 लड़कियाँ, पर 61 लड़के। यानी, 255 लड़कियाँ उम्र-दृष्टि से अनमेल ब्याह में धकेली जाती हैं।

यह तय है कि लड़की जितने ही पहले यौन-जीवन में घसीटी जाती है, उतने ही बच्चों को पैदा करने के लिए अभिशप्त होती है। पर बात केवल इतनी नहीं है सीधी-सपाट। खेलने-खाने या स्कूल जाने के जो दिन होते हैं (और कौन से दिन ऐसे नहीं होने चाहिए लड़की के लिए? लड़के के लिए तो जीवन भर ऐसे दिन होते रहते हैं।), उनमें लड़की बच्चा जनने को बाध्य हो जाती है। कम उम्र में गर्भवती बनाई जाती है तो उसका गर्भकाल भी लम्बा खिंच जाता है—पीड़ादायी ज्यादा होता है तथा प्रसव-मौत अधिक सम्भावी हो जाती है। बच्चे भी कमजोर या मृत पैदा होते हैं। कम उम्र की बच्ची अबोध होती है, साथ ही शिक्षा का मौका भी छीन लिया जाता है; इस कारण अपनी पीड़ाओं को भी न समझ पाती है और ज्यादा घुटती रहती है। उसकी देह को कब्जे में ले लेना उसके पति (जो प्रायः बड़ा और कभी अधेड़ होता है) के लिए ज्यादा आसान होता है और आसान होता है उसे अपनी अन्धी वासना के गड्ढे में गिराना (याद कीजिए, फ़िल्म 'बैंडिट क्वीन') उसे यौन रोग दे देना तथा उसके अनजानेपन में ही उसके पेट को भारी बना देना।

लड़की के बाल-विवाह की प्रथा भी तो एक दीर्घकालीन धार्मिक-सांस्कृतिक आधार रखती है। 'संस्कार मयूख' में बौधायन का वचन है कि भले ही अयोग्य वर हो, पर कन्या को रजस्वला होने के पूर्व ब्याह दें। 'गौतम धर्मसूत्र' (1/2/22) वस्त्र पहनने की समझ विकसित होते ही कन्या को ब्याहने की सीख देता है, तो 'व्यास स्मृति' (23) भी कहती है कि अधोवस्त्र पहनने की उम्र होने पर ब्याहना चाहिए। फिर 'संवर्त स्मृति' ने तो विवाह योग्य उम्र की दृष्टि से कन्याओं को 4 आयुवर्गों में बाँटा है—गौरी (8 वर्ष), रोहिणी (9 वर्ष), कन्या (10 वर्ष), रजस्वला (10 वर्ष से अधिक)।

कन्या को इतनी छोटी उम्र में ब्याहने यानी किसी मर्द के बिस्तर पर भेजने के पीछे की सोच वैदिक काल से चली आ रही एक भय-धारणा की भ्रान्ति थी, जो स्त्री को भोग्या मानने वाली पुरुष-कामान्धता से उपजी थी। ऋग्वेद के एक मन्त्र का भाव था कि कन्या के देह-विकास में सहायक माने जानेवाले सोम, गन्धर्व और अग्नि उसके प्रथम, द्वितीय व तृतीय पति (उपभोक्ता) बन सकते हैं; तब मनुष्य (पुरुष) को उसका चौथा पति बनना पड़ेगा। 'अत्रि संहिता' ने ऋग्वेदोक्त मन्त्र (10/85/40) का भावानुवाद करते कुछ जोड़कर कहा :

“पूर्व स्त्रियः सुरैर्भुक्ता सोमगन्धर्वव ह्निभिः ।
भुंजते मानवाः पश्चात् नताः दुष्यन्ति कर्हिचित् ॥”

यानी, सोम-गन्धर्व-अग्नि—इन तीनों देवों द्वारा चखी जाकर भी स्त्री को फिर मनुष्य (मर्द) चखते हैं—तब भी स्त्री दूषित नहीं होती। वाह रे! क्या भाषा है! स्त्री-देह की पवित्रता इस उद्देश्य से घोषित की जा रही है कि पुरुष उसे चखने से इनकार न कर दें। फिर भी, यह खटका तो लगा ही रहता था कि कहीं उक्त देव कन्या को पहले चखकर जूठी न कर दें (कामुकों की देव-कल्पना भी तो कामुक रूप में ही होगी, वह भी वृद्ध देवों द्वारा नव कन्या को यौन-क्षुधार्थ देखने वाली अनमेल कामुकता)। फिर जूठी हुई (नथ उतारी गई) कन्या का दान (बिक्री?) कैसे किया जाएगा? अक्षतयोनि कन्या के दान में ही पुण्य मिलेगा। यानी, कन्या रजस्वला हुई नहीं कि उस पर लार टपकाते औरतखोर मर्दों के हक में स्मृतिकारों ने व्यवस्था करनी शुरू कर दी। वहाँ भी करेले को नीम पर चढ़ाया गया—यानी, एकमुखी अनमेल विवाह किए गए, अर्थात् कन्या के गले में पर्याप्त बड़े मर्द को लटका दिया गया। ‘मनुस्मृति’ ने खुलेआम व्यवस्था दी—

“त्रिंशं वर्षोद्वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादश वार्षिकीम् ।

अष्ट वर्षोष्टवर्षी वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥” (9/94)

यानी, 12 वर्षीया कन्या को 30 वर्षीय मर्द और 8 वर्षीया कन्या को 24 वर्षीय मर्द से विवाहित करना धर्मसंगत है। यानी, ‘वर्तमान कानूनी दृष्टि से जो यह लड़की का बलात्कार होगा’—उसकी सरेआम प्रेरणा मनुस्मृति ने दी है। कन्या की उम्र को हर हाल में छोटा रखने का समर्थन ‘वसिष्ठ स्मृति’ (8/1), ‘गौतम स्मृति’ (4/1), ‘याज्ञवल्क्य स्मृति’ (1/52) ने भी किया है। आश्रम-व्यवस्था के शिथिल होने से धीरे-धीरे वर की भी आयु गिरी, जिससे वर-कन्या की उम्र का भेद ज्यादा न रह गया। तब धीरे-धीरे ‘बालिका बधू’ फ़िल्म की तरह उभयमुखी बाल-विवाह होने लगे। आज बड़ी संख्या में यह भी व्याप्त है। पर, इससे भी तो बच्ची अधिक पीड़ित होती है। कच्ची उम्र में दासता के संस्थान ‘विवाह’ में भर्ती की जाती तथा जिम्मेवारियों के साथ गर्भ से भी असमय लाद दी जाती है। इस कुरीति को संस्कृति के नाम पर ढोते रहने की गलती इतनी आम रही कि 1892 ई. में महाराष्ट्र में जब बाल विवाह रोकने के लिए कानून लाया जा रहा था तो विरोध करनेवाले पोंगापंथियों के नेता बाल गंगाधर तिलक थे।

बच्ची का बाल-विवाह माने क्या? लड़की का खेलना-कूदना, स्कूल जाना (यदि बाप-माँ ने भेजा है तो) छुड़वाकर, उसे किसी लड़के (अक्सर बड़े, प्रौढ़ मर्द) की दासी बनाते हुए, चिर-परिचित माहौल से सदा-सदा के लिए काटकर, यौन-शोषण में डाल देने—यौन रोग व गर्भ झेलने, बच्चे पालने तथा लद-फद कपड़ों व श्रृंगार ढोते हुए घरेलू कामकाज की अन्तहीन शोषण-चक्की के पाटों के बीच धीरे से रख देने का नाम है बाल-विवाह।

NFHS-I के अनुसार [20-24 वय-अन्तराल में विद्यमान] लड़कियों में से 52.2 प्रतिशत 18 वर्ष के अन्दर ब्याह डाली गई थीं। NFHS-II में यह आँकड़ा 50.0 था।

हाल के सर्वेक्षण NFHS-III (2005-06) में यह आँकड़ा 44.5 प्रतिशत (शहरी 28.1, ग्रामीण 52.5) है। शैक्षिक स्तर पर देखा जाए तो इनमें अशिक्षित रहीं 71.6 प्रतिशत लड़कियाँ 18 वर्ष के भीतर किए गए विवाह की शिकार हैं। इसी तरह 8 वर्ष से कम तक शिक्षित हुई 55.1%, 8-9 साल तक पढ़ीं 35.8 तथा 10 साल या अधिक शिक्षित 12.8 प्रतिशत लड़कियाँ ऐसी हैं, जो 18 साल से कम में ब्याही गई हैं। 25-29 वर्षीय लड़कों में से 29.3% (शहरी 16.7, ग्रामीण 36.5) 21 वर्ष तक ही ब्याह में चले गए हैं। स्पष्टतः, NFHS-III के अनुसार कम से कम आधी लड़कियाँ अपने से अधिक उम्र के लड़कों से ब्याही गईं। एक तो इस सर्वे में लड़की को 18 तथा लड़कों को 21 वर्ष तक विवाहित देखने की अनमेल सोच काम कर रही है ही।

‘यूनिसेफ’ ने 1986-2003 ई. काल-खंड के अनुसार, 20-24 वय-अन्तराल में पड़नेवाली उन लड़कियों का आँकड़ा (जो 18 वर्ष तक ब्याह डाली गई) इस प्रकार पेश किया है—

भारत—46 [शहरी 26, ग्रामीण 54], पाकिस्तान-32 [शहरी-21, ग्रामीण-37], श्रीलंका-14 [शहरी-10, ग्रामीण-15], नेपाल-56 [शहरी-38, ग्रामीण-59], बांग्लादेश 65 [शहरी 48, ग्रामीण 70], चाड-71 [शहरी-65, ग्रामीण 74], इण्डोनेशिया 24 [शहरी 14, ग्रामीण 35], दक्षिण अफ्रीका-8 [शहरी 5, ग्रामीण 12], सेंट्रल अफ्रीकन रिपब्लिक-57 [शहरी-54, ग्रामीण-59], मिस्र-20 [शहरी-11, ग्रामीण 14], माली-65 [शहरी-46, ग्रामीण-74], घाना-36 [शहरी-25, ग्रामीण-42], मैक्सिको 25 [शहरी-31, ग्रामीण 21], सूडान-27 [शहरी-19, ग्रामीण-34], निगार-77 [शहरी-46, ग्रामीण-86], यमन-48 [शहरी 41, ग्रामीण-52]।

जैसा कि पिछले विश्लेषणों में कहा गया—बाल-विवाह से बच्चियाँ असमय गर्भ ढोने को मजबूर होती हैं। ‘विश्व बैंक’ की रिपोर्ट से 2003 ई. में 15-19 वर्ष की 21 प्रतिशत लड़कियाँ ‘माँ’ बनाई जा चुकी थीं तथा NFHS-III में यह आँकड़ा 16% [शहरी-8.7, ग्रामीण-19] है, जो बिहार में 25% [ग्रामीण 27.6], उत्तर प्रदेश में 14.3% [ग्रामीण-27.6], झारखंड में 27.5 [ग्रामीण-32.7] तथा उत्तरांचल में 6.2% [ग्रामीण 7.8] है।

बाल-विवाह और ऊपर से तमाम स्त्री-विरोधी मान्यताओं व व्यवस्थाओं की शिकार बनीं, कुपोषित हुई लड़कियाँ जब बच्चों को जन्म देती हैं तो, बच्चे भी कमजोर या मृत पैदा होते हैं। यदि बच्ची जनमती है तो उसकी और उसकी बच्चीनुमा माँ की उपेक्षा शुरू हो जाती है। इससे वह और कमजोर हो जाती है। इससे दूध नहीं बनता। दूध नहीं बनेगा तो बच्ची को पिलाएगी क्या? जैसा कि पिछले अध्याय में भी संकेत है—‘दूध’ होने पर भी बच्ची सन्तान को कम समय तक स्तनपान कराने और बेटे की चाह में कुछ ही मासों में पुनः गर्भवती होने का माँ पर दबाव समाज द्वारा दिया जाता है। ऐसी स्थिति में 0-4 वर्ष की बच्चियों का मृत्युदर उच्च होता है। NSS 1987 के अनुसार इस उम्र की 36.8 बच्चियाँ और 33.6 बालक [प्रति हजार जीवित प्रसव पर] मर जाते हैं।

NFHS-III के अनुसार प्रति हजार जीवित प्रसव पर 57 बच्चे मर जाते हैं, जो 0-5 वर्ष के बीच के होते हैं। इन में बच्चियाँ ज्यादा होती हैं, विशेषतः उत्तर भारत में यह स्थिति है, भले राष्ट्रीय औसत कुछ खास भेदभाव की तस्वीर न पेश कर पाए। 25 प्रतिशत भारतीय बच्चियाँ अपना पन्द्रहवाँ जन्म दिन भी नहीं देख पातीं (स्रोत—‘इतिहास बोध’ फरवरी-मार्च, 2007 में छपा कैरल एस. कानाड का लेख)। इस प्रकार से युवतियाँ और बच्चियाँ प्रतिवर्ष युवकों व बालकों की तुलना में तीन लाख अधिक मरती हैं।

वैधव्य का अनदेखा दाह, जाने कितनी स्त्रियाँ रहीं कराह

बच्चियों के बाल-विवाह और तज्जन्य अनमेल विवाहों का एक विशाल दुष्परिणाम ऐसी नारियों की लिस्ट लम्बी होती जाना है, जिनके लिए शास्त्रीय व सामाजिक शब्द है—‘विधवा’। जिस प्रकार असत्य या अवैज्ञानिक होकर भी जात-पाँत भारतीय समाज-व्यवस्था की एक जटिल-दारुण सच्चाई बनी दिखती है, उसी प्रकार ‘विधवा’ की अवधारणा भी असत्य-अवैज्ञानिक होकर भी स्त्री के जीवन की एक अत्यन्त भयानक सामाजिक सच्चाई बनी दिखती है, जो उसे सदियों से पीड़ित व आतंकित करती रही है। पितृसत्तात्मक ‘विवाह’ धारणा एवं ‘विवाह’ के सन्दर्भ में स्त्री के ‘मानवाधिकार’ [विवाह करें या न करें या किससे करें—इसकी स्वतन्त्रता] को कुचलते रहने की परम्परा ही स्त्री के वैधव्य का मूल कारण है और वह ‘वैधव्य’ एक काल्पनिक दुख है, जो स्त्री पर थोपकर उसे दुखी बने रहने को धर्म ठहराता है। अमूमन तो बच्चियाँ बाल-विवाह के कारण चहुँओर से व्याप्त प्रताड़नाओं से मरने को अभिशप्त होती हैं, परन्तु यदि किसी तरह बच गई तो ‘विधवा’ होने की स्थिति में पड़ने को अभिशप्त होती हैं।

‘भारत : विकास और दिशाएँ’ पुस्तक में डॉ. अमर्त्य सेन ने 1991 की जनसंख्या के अनुसार 3.3 करोड़ विधवाओं के मौजूद रहने की बात कही थी, जो कुल स्त्री-संख्या का 8 प्रतिशत थीं। उम्र के साथ जनसंख्या में विधवाओं का अनुपात भी तेजी से बढ़ने लगता है। उनके अनुसार 60 वर्ष की उम्र पार करने पर 63% महिलाएँ ‘विधवा’ हो चुकी होती हैं और 70 वर्ष पार करने पर 80% महिलाएँ इस दुर्दशा में पड़ी होती हैं। पुनर्विवाह की छूट मिले होने के कारण पुरुषों में 2.5% विधुर जीवन गुजारते पाए गए, जबकि वैधव्य एवं अन्य कारणों से अकेली रह रहीं स्त्रियाँ 8.1 प्रतिशत डॉ. सेन ने पाईं। उन्होंने यह भी पाया कि विवाह-स्थिति में रहनेवाली स्त्रियों की अपेक्षा उसी आयुवर्ग की विधवाओं की मृत्युदर 86% अधिक है। कारण है—चौतरफा स्त्री-विरोधी संरचना। भीषण गरीबी की मार के साथ, परिवार व समाज में अलग-थलग पड़ जाने की त्रासदी, मन-मीत का अभाव और हर जगह ‘अशुभ’ मानकर दुरदुराया जाना, साथ में हर तरह की वाचिक-शारीरिक और यौन हिंसा तक का मँडराता खतरा, फिर उसके बाद बलात्कार द्वारा थोपे गए गर्भाधान के लिए पापिनी ठहराए जाने का दंश। कैसे जिँ बेंचारियाँ? एक बार जो भी दुख उन पर आ गया है, उसको जिन्दगी भर याद रखना धर्म बना दिया जाता है—वस्त्र-विन्यास, सामाजिक-व्यवहार, यहाँ तक कि खान-पान तक में उन्हें

शोक-सूचक स्थितियों में पड़ी रहने को बाध्य किया जाता है। उस दुख की छाया से उन्हें मुक्त होने ही नहीं दिया जाता। प्रताड़ना-मौत, भूख-मौत या आत्मघात जो भी रास्ता हो; पर ऐसी स्त्रियाँ विवाहिता बनीं बहनों से 86% अधिक मरती हैं और यदि किसी तरह जीवित बनी भी रहती हैं, तो उनका जीवन हर तरह से अधिक त्रासद हुआ रहता है। वे अपनी जिन्दगी को अपने पाप का फल समझतीं, उसकी लाश घसीटती रहती हैं, बस! कई बार तो वे सीधे 'हत्या' की शिकार भी बना दी जाती हैं। कारण अक्सर होता है—उनके पास धन-सम्पदा या भूमि का होना। उसे 'हड़पने के लिए' देवर द्वारा 'चादर डालने' की/पति थोपनेवाली रस्म तो चलाई ही गई है; बल्कि कई-कई समाजों में उन्हें 'पागल', 'कुलटा' या 'डायन' करार देकर उन के साथ हर तरह का वहशीपन किया जाता है तथा अर्थदस्यु मर्द अपना रास्ता निष्कण्टक कर लेते हैं। 'डायन' का नाम देकर ऐसी अभागिनों को निर्वस्त्र करके, राक्षस मर्दों की फौज पूरे गाँव में घुमाती है, उन्हें पेशाब पीने या मल खाने को विवश करती है, उनका सामूहिक बलात्कार करते हुए अन्ततः मौत की भट्ठी में झोंक देती है। ऐसे दिल-दहलाऊ दृष्टकृत्य भी इतनी आसानी से हजारों की भीड़ के बीच इसलिए सम्पन्न होते हैं, क्योंकि अर्थ पिशाच ताकतवर मर्द जनता में व्याप्त अन्धविश्वासों का सहारा लेकर उसे यह समझाने में सफल हो जाते हैं कि यह स्त्री पापिन, कुलटा और इसी व्यवहार के काबिल है। कई बार यह भी देखा गया है कि नौकरीशुदा पुरुष के मरने से उसकी विधवा को मिली पेंशन या वजीफे को हड़पने के लिए खूब पापड़ बेले जाते हैं—उसे धमकाया ही नहीं जाता, उसे ब्याह तक में फाँसा जाता है। 'सती' बनाने की मानसिकता के पीछे धन छीनने की प्रवृत्ति ही रही है, जिसने बाद में धर्म का रूप धारण कर लिया। इस विधि से उस विधवा स्त्री को आत्महत्या के लिए विवश किया जाता रहा है, जिसका आर्थिक अधिकार सुनिश्चित रहता था और इससे भी बड़ा सच है कि स्त्रियाँ 'आत्महत्या' शायद ही करती थीं, 'सती' ही हर घटना उनकी 'हत्या' होती थी। ज्यादा समय नहीं हुआ, याद कीजिए राजस्थान की अभागिनी रूपकुंवर (18 वर्षीया) को। खेत में छुपी बेचारी को पकड़कर, दुल्हन की तरह सजाकर, जबरन चिता तक ले जाया गया—चारों तरफ तलवारधारी युवकों की फौज थी, जिसने उसे प्राण-रक्षार्थ भागने का मौका न दिया। रास्ते में वह बुरी तरह झूम रही थी, मुँह से झाग निकल रहे थे। वह चिता से निकल भागने की कोशिश कर रही थी, चिल्ला रही थी, पर लट्ठों व नारियलों की भीड़ में वह दफन थी। 4 सितम्बर, 1987 को एक भरपूर जिन्दगी, मालसिंह के शव के साथ बेरहमी से जलाई जा रही थी और लोग 'सती माता की जय' का उद्घोष कर रहे थे। यह ठीक है कि 1988 में कानून बनाकर सती-प्रथा को निषिद्ध कर दिया गया पर कौन कह सकता है कि 'सती' अब इतिहास की चीज बन गई है? यह हत्यारी प्रथा दबाववश भले रुकी दिखती हो, पर सती (यानी, पति के साथ चिता पर धकेली गई स्त्री) की अवधारणा के प्रति आज भी मेले, मन्दिर आदि के रूप में पर्याप्त समादर, पूज्य भाव बड़े वर्ग में बना हुआ है। स्त्री द्वारा मूर्खतापूर्ण आत्मघात करने की दिशा में तत्पर होने की तो

और महिमा है। 'जौहर' की ऐसी सामूहिक आत्महत्या का महिमामंडन करते कवि 'जौहर' काव्य लिखते जब नहीं थकते, तब कौन कह सकता है कि सती-प्रथा खत्म हो गई है? स्त्री की जमा-पूँजी, धन-सम्पदा की मलाई चाभ सकें या उस पर होने वाला खर्च बचे—इसके लिए उसे 'आत्महत्या' और 'हत्या' का ग्रास बनाने की मानसिकता आज भी व्याप्त है। यह देखना होगा हमें आँखें खोलकर। इसके साथ, यह भी ध्यान रखना होगा कि 'सम्पत्ति' युक्त होना भी इक्का-दुक्का विधवाओं का सच है।

यह ठीक है कि स्त्री पर थोपा गया 'पति' ही विवाहिता का सच बना दिया गया है, जो उसे घरेलू जीवन में वनवास दिए रह सकता है और रहता भी है। पर, किसी हद तक (भले भ्रान्त बोधवश) स्त्री उससे भावनात्मक सहारा तथा आर्थिक सहायता तो पाती ही है (हाँ, उसकी कीमत अपनी देह व मन गिरवी रखकर चुकाती है)। पर उस पति के मरने के बाद! 'विधवा' बताई गई स्त्री प्रायः दरिद्र हो जाती है। उसे न सम्पदाधिकार मिलता है, न कमाने हेतु हर कामकाज में उतरने की छूट ही। लिंगानुसार कार्य-विभाजन की प्रणाली आज भी क्या नहीं है? 'विधवा' हुई स्त्री जिन्दा रही, तो पुनर्विवाह की सामाजिक छूट आज भी कम ही पाती है (कुछ निम्न सामाजिक समुदायों को छोड़कर)। पर, पुरुष के हाथ में एक पत्नी की चिता की राख पड़ी अभी ठंडी भी न हुई हो कि दुनिया उससे सिन्दूर माँगने लगती है, किसी अन्य कमसिन लड़की की माँग के लिए। पुरुष इस प्रकार आसानी से न अपना उजड़ा चमन गुलजार कर लेता है, बल्कि इस विधि से एक अन्य लड़की को 'विधवा' बनाने की तैयारी भी कर लेता है। पर, उसके सौ खून माफ हैं, क्योंकि उसी के लिए, उसी का समाज है यह। 'विधवा' बताई गई स्त्री तो लौटकर अपने माँ-बाप के पास भी नहीं जा सकती, क्योंकि उसे घुट्टी पिलाई गई होती है पिया-घर 'डोली में आना और अरथी में जाना' ही स्त्री का आदर्श मूल्य है। इससे पति-वियुक्ता स्त्री का सामाजिक अलगाव-बोध और गहरा हो जाता है। बचे हुए परिवार के साथ ससुराल में ही बने रहने, उसके कटुता भरे व्यवहार, दुरदुराहट और हर तरह की तंगी झेलते रहने की नियति में वह पड़ी रहती है। उस पर भी यदि कुछ छोटे-छोटे बच्चे साथ हों (जो मर्दवादी हवस के नतीजे हैं), तो स्त्री की त्रासदी में कितना इजाफा हो जाता है—सोचा जा सकता है। यदि परिवारवाले साथ रखना नहीं चाहते, तो चुपके से उन्हें काशी-वृन्दावन आदि का रास्ता दिखा दिया जाता है। कई क्षेत्रों में बाकायदा इसकी परम्परा भी बनी हुई है। काशी-वृन्दावन आदि की गलियों में धूल फाँकती वे अभागिनियाँ तब कुत्तों की श्रेणी में शामिल हो जाती हैं और सही कहें तो उनसे भी बदतर दशा को प्राप्त हुई रहती हैं। क्योंकि कुत्तों को तो कोई जबरन यौन-ग्रास नहीं न बनाता, न ही उन पर गर्भ थोपता है—पर, ये बेचारियाँ यौन-हिंसा, गर्भाधान और फिर गर्भपात झेलने को मजबूर भी रहती हैं। यदि यह न हुआ तो 'वाटर' फ़िल्म की तरह विधवाश्रम की नीरस रूढ़ि और संगठित वेश्यावृत्ति में झोंक दी जाती हैं। इस प्रकार की महिलाओं की गणना व विश्लेषण किए बिना जनसंख्या समस्या का कोई पाठ बेशर्म अधूरेपन का ही शिकार बना रहेगा।

‘विधवा’ की पूरी अवधारणा एवं ऐसी स्त्रियों की वैधव्य-दुर्दशा पूरी तरह पितृसत्तात्मक संरचना की देन है, इसलिए विधवा के हक में लड़ाई करना ‘स्त्री की पितृसत्ता से लड़ाई’ का एक हिस्सा है। परन्तु, यह लड़ाई लड़ते समय भी लोग भूल करते हैं। बिन सोचे-समझे उसके सिर पर फिर से एक अपनी पसन्द का मर्द (उम्रदराज भी) थोपकर वे समझते हैं कि हमने उसका कल्याण कर दिया। यह तनिक नहीं सोचते कि कहीं ‘ताड़ पर से गिरे’ को खजूर पर तो नहीं अटका दिया? वैसी स्त्री को भावनात्मक साहचर्य की जरूरत, एक दोस्त की चाह में यदि डाले तो खुद वह भले विवाह या सहजीवन में जाए; पर उस पर फिर से एक मर्द थोपने का अपराध तो मत कीजिए। उसकी मूल समस्या है आत्मनिर्भरता की कमी। उसे दैहिक, शैक्षिक व आर्थिक रूप से खड़ा होने में मदद दे सकते हैं तो दें, उस पर ब्याह न थोपें। उसे इस निष्कर्ष तक पहुँचने में मदद करें कि ‘विधवा’ होना कोई समस्या नहीं है, यदि समाज समस्या न बनाए। कोई कारण नहीं है कि पति की मौत के बाद वह उतनी ही स्त्रीत्व या मनुष्यत्व की सम्भावना नहीं रखती, जितनी पति के (थोपे जाने के) पहले रखती थी। यह सामाजिक सच्चाई भी तो देखनी चाहिए कि कई बार पति से विमुक्त होकर स्त्री ज्यादा स्वतन्त्र और कमाने को मजबूर होकर आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो जाती है, तथा अपनी शेष (विवाहिता) बहनों की तुलना में अधिक दंबग हुई, खुशहाल रहती है। पर, इस तरह न सोचा जाता है, न किया जाता है कुछ। फलतः, वैधव्य का दाह फैला हुआ है और जाने कितनी बेकसूर नारियाँ उसमें कराह रही हैं।

जब स्त्री पर ‘विवाह’ की फाँस, तब कैसे मिले शिक्षा का प्रकाश?

कन्याओं के बाल-विवाह एवं विधवापन के साथ उन्हें ज्ञान-वंचित किए जाने की सामाजिक प्रक्रिया को एक गहराई में देखने की जरूरत है। भारत में लड़कियों को अशिक्षित रखने के पीछे का कारण ‘विवाह’ की पितृसत्तात्मक सोच के साथ, पितृसत्तात्मक समाज-रचना भी है। पितृसत्तात्मक सोच लड़की को ‘पराया धन’ मानती है, क्योंकि ‘विवाह’ द्वारा उसे पराए घर भेजने की संरचना बाकायदा मौजूद है। माँ-बाप सोचते हैं कि लड़की को पढ़कर करना ही क्या है? वही ससुराल में चूल्हे-चौका या सन्तान-जनन-पालन आदि ही तो (काश! ‘इसके लिए भी पढ़ना-लिखना जरूरी’ है—यह भी तो सोच कर पढ़ाया जाता!)। सामाजिक-व्यवस्था के इस अन्याय ने स्त्री को कुछेक कामों में बाँध रखा है, फिर उसके तहत, शिक्षा की व्यर्थता समझी गई। फिर, माँ-बाप यह भी सोचते हैं कि बेटी यदि पढ़ने से नौकरी भी करेगी तो हमें क्या फायदा होगा? वह तो ससुराल में फायदा देगी। तब, हम क्यों लड़की को पढ़ाने में, पानी में पैसा बहाएँ? लड़के को पढ़ाने पर तो वह बुढ़ापे की लाठी बनेगा, पर बेटी को पढ़ाना तो पराए घर के बिरवे को सींचना है। इतने के बाद भी, यदि लड़की के कुछ हित-लाभ की दृष्टि से माँ-बाप पढ़ाने को तैयार भी होते हैं तो उसके साथ दोयम दर्जे का व्यवहार होता है। घर में यदि साधन की कमी है तो उसका दंड मेधावी होने के बावजूद लड़की

को दिया जाता है, शांताराम की फ़िल्म 'लड़की सहायिनी' की तरह; पर बोर-से बोर लड़के को उस साधन से पढ़ाया जाता है; बल्कि उसे कर्ज लेकर भी पढ़ाया जाता है; विदेश तक भेजा जाता है। बेटे की शिक्षा के रूप में 'बुढ़ापे की बीमा' जैसा कुछ करा रहे होते हैं माँ-बाप। लड़की को बहुत हुआ तो पास वाले स्कूल-कॉलेज तक ही भेजा जाता है। जहाँ यह मानसिकता है, वहाँ प्राथमिक स्तर पर (वह भी गाँवों में) सरकारी स्कूलों की खस्ताहाली होने का खामियाजा लड़कियों को भोगना पड़ता है। लड़के तो कहीं दूर भी या प्राइवेट स्कूलों में भी भेज दिए जाते हैं, पर लड़कियाँ तो पास के सरकारी स्कूलों तक ही भेजी जाएँ तो माँ-बाप की आर्थिक दृष्टि से राहत बनी रहती है। इसके साथ, एक चिन्ता और है। माँ-बाप 'लड़की' को लेकर 'इज्जत' की चिन्ता में घुलते रहते हैं, इसलिए उसे अपनी आँखों से ज्यादा दूर नहीं भेजते और उस की दिनचर्या एवं सामाजिक मेल-जोल पर कड़ी निगाह रखते हैं। महिला अध्यापकों और अलग बालिका विद्यालयों की कमी भी इस रूढ़िग्रस्त समाज में लड़की को अशिक्षित बना दिए जाने के पीछे एक बड़ा कारण बन जाता है। मर्दानगी के उबाल से भरे इस समाज में माँ-बाप कभी बच्ची को लेकर वास्तविक 'भय' और कभी उसे पुरुषवादी 'छूत' से बचाने के लिए उसकी शिक्षा की सम्भावना मसल डालते हैं। पढ़ती लड़की का भी स्कूल कई बार इस कारण छुड़वा दिया जाता है कि बाहर कहीं कोई लड़का उसे यौन-संस्पर्श में न ले ले या घसीट न ले जाए अथवा कहीं लड़की स्वयं किसी से प्रेम या यौन सम्बन्ध न बना ले। तब तो परिवार की नाक कट जाएगी, क्योंकि परिवार की 'इज्जत' लड़की अपवित्र हो जाएगी। लड़की के अपवित्र होने पर, कन्यादान का फल कैसे मिलेगा क्योंकि अक्षतयोनि कन्या के दान की परम्परा है? हाथ से यदि लड़की गई तो फिर कैसे मिलेगा कन्यादान का पुण्य? उस अपवित्र हुई लड़की से ब्याह भी कौन करेगा? खुद ब्याह कर वह भले कहीं सुखी रहे, पर एक बार परिवार की इज्जत गई कि लौटती कहाँ है? इन सौ सम्भावित रोगों का इलाज अभी ही क्यों न कर डालें? यानी प्रेम या यौन प्रवृत्ति की उम्र आने से पूर्व ही उसे ब्याह की बेड़ी में क्यों न जकड़ दें? स्त्री-शिक्षा के विरोधी अक्सर यह घिसा-पिटा तर्क देते पाए जाते हैं—“वेद पढ़ने से स्त्री का गर्भाशय खराब हो जाने का डर है!” पता नहीं, किस बायोटेक्नॉलोजिकल लेबोरेटरी से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है? उनका सही में आशय है कि 'स्त्री! तू मत पढ़। नहीं तो हम तेरा गर्भाशय खराब कर देंगे', तेरा बलात्कार कर डालेंगे। इन ढोंगियों की दृष्टि में वेद पढ़ने से खराब भी हुआ तो स्त्री का गर्भाशय। धन्य हो महाधीशो! तुम्हारी निगाह में स्त्री एक गर्भाशय से अधिक अस्तित्व ही नहीं रखती। बस, उसे जनसंख्या मशीन बनाना है। इसलिए मत पढ़ने दो।

सौ बाधाओं के बाद यदि लड़की को पढ़ने भी दिया जाता है, तो घरेलू कामकाज में उसे फँसाए रखा जाता है, साथ ही उसके मन में पराए घर (ससुराल) जाकर 'आदर्श बहू' बनने का सपना बोया जाता है। 'आदर्श बहू' बनने हेतु रोज उसे सीधे या घुमा-फिराकर प्रशिक्षित किया जा रहा होता है। 'आदर्श बहू' माने क्या? अच्छी रसोइया,

पाँच गज की साड़ी व घूँघट की कैद को गरिमा से ढोती, ससुराल के सभी जनों का ख्याल रखती, सबके रोष सहती (विशेषतः पति की) दासी बनी रहने के साथ पति की काम-सेविका व सन्तानोत्पादन-यन्त्र बनी रहने वाली स्त्री! कभी कुछ न चाहे और सब कुछ सहे—ऐसी स्त्री! यानी व्यक्तित्वहीन, लतखोर एवं परजीवी बनी स्त्री। इस आदर्श को पढ़ रही लड़की के मन में धीरे-धीरे डाला जा रहा होता है। भाग्यवश कॉलेज या यूनिवर्सिटी तक जा पहुँची लड़की भी इससे बच नहीं पाती, क्योंकि कितनी लड़कियाँ लड़कों की तरह घर से मुक्त होकर हॉस्टल में रह पाती हैं? 1991 की जनगणना से सिर्फ 0.8 प्रतिशत स्त्रियाँ शिक्षा कारणों से प्रवास करती हैं, जबकि पुरुष उससे छह गुना (4.8 प्रतिशत) प्रवास करते हैं। वे घर से अलग न रहेंगी तो व्यक्तित्व क्या बनेगा खाक? फिर भी ऐसी स्थिति में ताने दिए जाते हैं पढ़ती लड़की को कि लड़के की तरह इन्जीनियर, डॉक्टर या आई.ए.एस क्यों न बन पाई? लड़की यदि हॉस्टल में भी रहती है तो 'आदर्श बहू' बनाने की जो राष्ट्रीय मुहिम महिला-पत्रिकाएँ, टी.वी. चैनलों के पारिवारिक सीरियल, रेडियो, फिल्में, धर्मात्माओं (?) के प्रवचन और कभी-कभी सरकार भी चला रही है, उससे कहाँ तक बचेगी लड़की? जहाँ परिवार या पति के लिए लड़की की नौकरी तक छुड़वा कर घरेलू बना दिया जाना एक आदर्श मूल्य माना जाता है; वहाँ पढ़ रही लड़की की पढ़ाई छुड़वा देना कौन सी बड़ी बात है? लड़की के शिक्षित व आत्मनिर्भर होने की राह में रोड़े अटकाए जाते हैं, क्योंकि उसकी सबसे बड़ी सार्थकता विवाहिता होकर 'माँ' (=जनवृद्धि की घरेलू मशीन) व 'पतिव्रता' (पति की यौनदासी) बनना है। 'विवाह' की अवधारणा लड़की को मूर्ख एवं बेरोजगार बना देने के पीछे का सबसे बड़ा कारण है। NFHS-II ने 6-14 वर्ष की 73.7 प्रतिशत बच्चियों को स्कूल में प्रविष्ट होते पाया। NFHS-III के अनुसार 8-9 वर्ष बीतते-बीतते 37 प्रतिशत लड़कियों की पढ़ाई छुड़वा दी जाती है। इनमें उत्तरांचल की 34%, बिहार की 24%, उत्तर प्रदेश की 28% तथा झारखंड की 26% लड़कियाँ हैं। NFHS-III से 71.6 प्रतिशत भारतीय अशिक्षित लड़कियाँ बाल विवाह में डाल दी जाती हैं। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि बिना कुछ पढ़ाए-लिखाए, एकदम बैल बनाकर इतनी लड़कियाँ सदा-सदा के लिए अंधकार में भेज दी जाती हैं। जब कुछ साल तक पढ़ा-लिखाकर ब्याह डाली गई लड़कियाँ भी एक नई भूमिका के थोप दिए जाने से संतुष्ट हो जाती हैं, तो ये निरक्षर लड़कियाँ भला किस हाल में पड़ती होंगी। जब उच्च शिक्षा प्राप्त लड़कियों की सारी सम्भावना का 'दँ एंड' कर देता है विवाह, तो इन बच्चियों का क्या होता होगा—सहज अनुमान लगाया जा सकता है। 'आदर्श बहू' व 'मातृत्व' के अन्धकार में उनकी पूरी जिन्दगी की रही-सही शैक्षिक सम्भावना भी विलीन हो जाती है। ज्ञान के नेत्र बन्द कर दिए जाने के बाद उन बेचारियों की जो स्थिति बनती है, पूछिए मत। देश-दुनिया की खबरों से कटकर तो वे अपंग हुई ही रहती हैं; बल्कि अपने स्वास्थ्य को सही रखने के तरीकों से भी वंचित हो जाती हैं। फिर भी समाज की दृष्टि में उनकी स्थिति 'अशिक्षित' नहीं समझी जाती। कारण है,

‘मनुस्मृति’ टाइप स्त्री-शिक्षा की परिभाषा सबके मन में बैठी हुई है—“पति सेवा गुरौ वासः गृहार्थोऽग्नि-परिक्रिया। वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।।” (2/67)। ‘संस्कार मयूख’ में भी लेखक यही बात कहता है, पर अन्त में ‘संस्कारो वैदिकः स्मृतः’ की जगह ‘औपनायनिकः परः’ पाठ रखता है। भाव यह है कि स्त्री के लिए ‘विवाह-विधि’ ही ‘उपनयन’ (=गुरु घर में भेजने की विधि) है; पति-गृह में रहना ही उसका गुरु-गृह यानी स्कूल में निवास है तथा सही ढंग से रसोई कर्म (घर के सारे कामकाज) करना ही उसका ‘पाठाभ्यास’ है। ‘बृहदारण्यकोपनिषद्’ (के 6-4-17) के अंश की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने तालिबानी फतवा सा जारी किया—“दुहितुः पाण्डित्यं गृहतंत्र विषयमेक वेदेऽनधिकारात्”—यानी, चूँकि लड़की को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है, इसलिए गृहशास्त्र में निपुणता ही उसका पाण्डित्य है। क्या यही कारण है कि आज भी स्कूलों में ‘गृह-विज्ञान’ विषय लड़कियों के लिए ज्यादा योग्य समझा जाता है और उसमें उनका प्रतिशत ज्यादा है भी लड़कों से?

2001 की जनगणना से भारत में 53.7 प्रतिशत (ग्रामीण-46.7, शहरी 73.2) स्त्रियाँ ही साक्षर हैं। अनुसूचीगत जाति [S.C.] में यह प्रतिशत 41.9 और जनजातियों (S.T.) में 34.8 है। बिहार, झारखंड, उत्तर प्रदेश, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, राजस्थान, जम्मू-कश्मीर, उड़ीसा आदि में यह स्थिति अधिक बुरी है, जो क्रमशः 33.12, 38.87, 42.22, 50.29, 51.85, 43.8, 43, 50.51 हैं। केरल में 87.2, मिजोरम में 86.75, लक्षद्वीप में 80.47, पांडिचेरी में 73.9 तथा दिल्ली में 74.71 प्रतिशत लड़कियाँ साक्षर हैं। NFHS-III के अनुसार, 67.6 प्रतिशत (शहरी 81 व ग्रामीण 61) लड़कियाँ साक्षर हैं। इनमें से केवल 22% (कुल स्त्री संख्या की) स्त्रियाँ ही दस या अधिक सालों तक पढ़ी हैं। यानी, एक हद तक सही शिक्षित ये ही हैं। फिर ब्याह-व्यवस्था में जकड़ने के बाद वे भी शिशु के प्रजनन-पालन एवं विविध कामकाज के कारण, पढ़ाई से जुड़ी रहने या आत्मचिन्तन की कितनी फुरसत पाती होंगी? NFHS-III ने सप्ताह भर में मीडिया-सम्पर्कित (टी.वी., अखबार, पत्र-पत्रिका या रेडियो से एक बार भी सम्पर्कित) होने वाली स्त्रियों का जो आँकड़ा पेश किया, वह विवाह-व्यवस्था के स्त्री-विरोधी चरित्र को ढंग से समझा देता है। भारत में सिर्फ 65 प्रतिशत (शहरी 87, ग्रामीण 54) स्त्रियाँ ऐसी हैं, जो मीडिया के इन रूपों से सप्ताह भर में कम से कम एक बार सम्पर्कित हो पाती हैं। यानी, भारत की 35% स्त्रियाँ तो एक बार ऐसी सुविधा पाने से वंचित हैं। फिर एक बार भी पाना कोई पाना हुआ? उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड और उत्तरांचल की ऐसी स्त्रियों का प्रतिशत क्रमशः 76 (ग्रामीण 72, शहरी 87), 71 (ग्रामीण-67, शहरी 85), 57 (ग्रामीण 44, शहरी 88) एवं 83 (ग्रामीण-78, शहरी 91) है। जब इतनी बुरी स्थिति है तो स्वास्थ्य के सही रख-रखाव का ज्ञान उन्हें कितना होता होगा? परिणाम है, अधिकाधिक बच्चे जनते जाने की मजबूरी उन्हें ग्रसे रहती है और वे कुछ कर भी नहीं पातीं। जैसा कि पीछे कहा गया है—NSS (16) ने बतलाया कि स्त्री के माध्यमिक स्तर से ऊपर तक शिक्षित होने की दशा में उसके 2 बच्चे, मैट्रिक तक पढ़ी होने की

दशा में 4.6 बच्चे, मिडिल स्तर तक पढ़ी होने की दशा में 5.0 बच्चे तथा प्राथमिक स्तर तक पढ़ी या निरक्षर होने की दशा में उसके 6.6 बच्चे होते हैं। यह आँकड़ा पुराना है तथापि इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि अशिक्षा की बढ़ोतरी स्त्री को जनसंख्या बढ़ाने के साधन के रूप में ढलने को बाध्य अधिक करती हैं। NFHS-III (2005-06) ने भी तो बतलाया कि निरक्षर स्त्रियों में प्रजनन दर 3.55 है, जबकि 10 साल तक पढ़ चुकी लड़की भी औसतन 1.91 दर को पा चुकी है। इसी तरह, NFHS-III ने एच.आई.वी./एड्स की जानकारी वाली स्त्रियों का प्रतिशत सिर्फ 57 (ग्रामीण 46, शहरी 81) पाया। फिर, कंडोम से इसका बचाव होता है, इसका ज्ञान सिर्फ 34.7 (ग्रामीण 25, शहरी 56.3) प्रतिशत स्त्रियों में पाया। क्यों न हो? ऊपर से जब यौन विषयक अज्ञान को स्त्री के एक चारित्रिक मूल्य के रूप में मानने का रिवाज है तथा यौन-ज्ञान बिगाड़ने का पर्याय है।

इन सारे विवचनों का अभिप्राय यही है कि स्त्री के अशिक्षित होने का खामियाजा न उसे कैरियर/आत्मनिर्भरता या व्यक्तित्व में पिछड़कर अपितु स्वास्थ्य चौपट करके भी भुगतना पड़ता है। फिर, स्त्री की यह अशिक्षा है भी पितृसत्तात्मक ढाँचे की 'विवाह' अवधारणा से जुड़ी, जिसमें यथाशीघ्र अच्छी माँ व गृहिणी बनना उसकी लौकिक सार्थकता है। यानी, इसी सार्थकता के ख्याल और बोझ उतारने की सोच के तहत वह शीघ्र या बाल विवाह में डाली जाती है। कई बार तो इस सोच के तहत भी उसकी पढ़ाई छुड़वा दी जाती है कि ज्यादा योग्य हो गई तो इन वैवाहिक परम्पराओं, मातृत्व व गृहिणीत्व को नहीं मानेगी अथवा फिर उसके लिए योग्य वर खोजना मुश्किल होगा। 'योग्य वर' का तात्पर्य मनुवादी मानसिकता में हर हाल में लड़की से थोड़ा ज्यादा योग्य लड़के की व्यवस्था से है। तभी तो स्वामी व दासी का समीकरण सेट करेगा। ज्यादा योग्य वर खोजना पड़ेगा तो उसका दहेज भी ज्यादा देना पड़ेगा। एक तो लड़की को पढ़ाने में बेमतलब पैसा बर्बाद करो। फिर, उसका दहेज और बढ़ी मात्रा में दो। यह सोच माँ-बाप को लड़की की पढ़ाई के प्रति हतोत्साह करती है। थोपी गई विवाह व मातृत्व व्यवस्था लड़की को अशिक्षित रखने का तर्क बन जाती है। सब मिलाकर 'विवाह' की धारणा एवं पितृसत्तात्मक व्यवस्था स्त्री-शिक्षा को अवरुद्ध करने में अहम भूमिका निभाती है—बाल विवाह करवाती है, प्रजनन-दर बढ़वाती है और फिर उससे स्त्री के हर तरह से दीन-मलिन, मूढ़ व रुग्ण होने का मार्ग प्रशस्त करती है। शिक्षा होती तो न केवल ज्ञान, अपितु आत्मविश्वास भी बढ़ता तथा अपने ऊपर किए जा रहे इन जुल्मों से वह लड़ती। पर, कहना पड़ता है—'काश!'

समाज में है स्त्री के रोग-मरण का मूल, पर केवल उसकी देह में ढूँढ़ने की भूल

इस प्रकार हमने पाया कि स्त्री की समस्त परेशानियों व पीड़ाओं का मूल समाज की खास संरचना में निहित है। जनसंख्या-वृद्धि स्त्री को 'व्यक्ति' से हटाकर 'माँ' के रूप

में एक यन्त्र-प्रणाली (मैकेनिज्म) बना के रख छोड़ती है—यही सर्वोपरि समस्या है, तथापि इसके साथ जो शारीरिक यन्त्रणाएँ हैं, वे भी कम नहीं हैं—गर्भ-भार ढोने में लड़खड़ाती दिनचर्या, प्रसव-पीड़ा, प्रसव-मौत की अधिकता और यदि प्रसव हो भी गया तो आगे के लम्बे समय तक रक्तस्राव या मासिक चक्र की अनियमितता से उपजी पीड़ा। ये केवल शारीरिक समस्याएँ नहीं, जब इन का मूलभूत कारण (गर्भाधान) पितृसत्तात्मक अत्याचार की देन है। स्त्री के रोग केवल इतने नहीं होते, परन्तु व्यक्तित्व नाश की मूल समस्या को कुछ समय के लिए छोड़कर केवल इन्हीं की छानबीन करें तो भी स्त्री-शोषण की पूरी सामाजिक तस्वीर खड़ी हो जाती है। जैसे—हम प्रसव-यन्त्रणा या प्रसव-मौत को ही लें। यन्त्रणा या मौत की वजह तकनीकी तौर पर प्रसव-सम्बद्ध भले दिखे, पर इसके मूलाधार रूप में स्त्री-विरोधी पूरा सामाजिक-सांस्कृतिक तन्त्र उपस्थित नजर आता है। जैसे—गर्भवती स्त्री की समुचित देखभाल खुराक या चिकित्सा-सुविधा तथा प्रसव-सुविधा से हीन परिवेश। गर्भकाल में स्त्री को रोज पहले से दस प्रतिशत अधिक भोजन के साथ दूध, हरी सब्जियाँ, विटामिन, फॉलिक एसिड व लौह की गोलियाँ तथा रोज दस घंटे बेडरेस्ट देना चाहिए। भारी काम से बचाए रखना और हवाखोरी की सुविधा के साथ सुविधायुक्त व्यायाम भी उपलब्ध होना चाहिए। उसके स्वास्थ्य की नियमित जाँच करवाते, टेटनस के 2 टीके (गर्भ के 16-36 सप्ताह के दौरान, एक-एक मास पर) लगवाना तथा 3 महीनों तक उपर्युक्त फॉलिक एसिड व लौह के टैबलेट देना चाहिए ताकि गर्भावस्था व स्तनपान के दौरान खून की कमी न होने पाए। फिर, जैसे-जैसे गर्भकाल समीप आता जाए, उसे यौन-क्रिया से दूर रहना (रखना) चाहिए। परन्तु, कसाइयों के इस समाज में स्त्री को पोषण व चिकित्सा सम्बन्धी, आराम व व्यायाम सम्बन्धी सुविधाएँ क्या मिलेंगी? ऊपर से घर के सारे कामकाज में जोते रखी जाती है तथा ऊपर से अपने मर्द की वासना-तृप्ति भी करनी होती है। उस पर भी आए दिन वह घरेलू हिंसा की शिकार बनाई जाती है। प्रसव हेतु साफ-सुथरी जगह तो चाहिए ही, प्रशिक्षित चिकित्सकीय प्रसवकर्मी होने चाहिए। इन सारी बातों में स्त्री को भाग्य भरोसे रखने की परम्परा है। उसी के परिणाम हैं—अध्याय तीन में प्रस्तुत आँकड़े, जो बतलाते हैं कि गर्भवती की देखभाल, चिकित्सा व प्रसव-सुविधा में अभी भी भयंकर कमियाँ हैं। इस प्रकार की कमी का कारण आर्थिक नहीं, सामाजिक है। देखा जाता है कि पुरुष बीमार पड़ जाए तो गरीब से गरीब परिवार भी इलाज कराता है—चाहे बची-खुची जमीन, गाय-बकरी या मकान बेचना या गिरवी रखना पड़े। पर, स्त्री को नियति के भरोसे छोड़ दिया जाता है। अक्सर स्त्री की बीमारी, मौत या प्रसव-मौत को नैसर्गिक या उसका भाग्य माना भी जाता है। पर, यह देखने-विचारने की फुर्सत लोग नहीं पाते कि हमीं या हमारी परम्परा ने उसे इस मंझधार में ला छोड़ा है। जैसे—पहले से ही कमजोर रही स्त्री पर बिना विचारे मूढ़ मर्द गर्भ थोप देते हैं। यह भी नहीं देखते कि बेचारी की शारीरिक स्थिति उस लायक है कि नहीं? इस बारे में डॉक्टर से जाकर क्या सलाह लेंगे वे? उन्हें तो इस पर सोचने की फुर्सत नहीं। पीछे हमने देखा कि बाल-विवाह होने पर

गर्भकाल लम्बा होकर लड़की के लिए कितना पीड़ादायी हो जाता है। गर्भ में कन्या का पता चलने पर गर्भपात करवाना या पोषणादि में ढिलाई का चक्र प्रसव के काफी समय तक चलाते रहना एवं कन्या-प्रसव के तुरन्त बाद फिर से गर्भ-धारण हेतु दबाव देना पीछे उल्लिखित हो चुका है। ऐसी स्थिति में स्त्री क्यों न मरे प्रसव या मातृत्व की वेदी पर?

जनसत्ता 11/1/07 की खबर है कि यूनिसेफ ने 1998-2005 ई. के बीच कराए गए सर्वेक्षण के आधार पर 'वीमन एंड चिल्ड्रन द डबल डिविडेण्ड आफ जेंडर इक्विलिटी' नामक रिपोर्ट में यह खुलासा किया है कि जिन घरों में माँओं को पारिवारिक मामलों में बोलने की स्वतन्त्रता नहीं होती, उनमें बच्चों के कुपोषित होने की आशंका बलवती होती है। इसी कारण पिछले 8 सालों के दौरान भारत में 30% नवजात शिशुओं का वजन न केवल सामान्य से कम रहा है, अपितु 37% बच्चे ही जन्म के 6 माह बाद तक माँ का दूध पा सके हैं। NFHS-III ने तो भारत की सिर्फ 52.5% स्त्रियों को घरेलू निर्णयों में शरीक किए जाने का आँकड़ा दिया है तथा 37.2% भारतीय स्त्रियों को वैवाहिक हिंसा का शिकार माना है। इनमें शहरी 30.4, ग्रामीण 40.2, अशिक्षित 46.5 तथा सुशिक्षित (10 वर्ष से ज्यादा पढ़ीं) 16.3 प्रतिशत स्त्रियाँ हैं। घरेलू हिंसा का आँकड़ा क्या होगा? सोच लीजिए। यदि 'घरेलू हिंसा कानून 2005' की परिभाषा से चलें तो 99% स्त्रियाँ उसमें आती होंगी। कारण—'देह' ही उनकी अपने पास नहीं है, तो बाकी व्यक्तित्व क्या होगा? यह सब घरेलू हिंसा के कारण उनके साथ होता है। घरेलू हिंसा का यह किस्सा संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे विकसित देशों तक में व्याप्त रहता है, जहाँ हर वर्ष न्यूनतम 15 लाख मामलों में स्त्रियाँ मारपीट से लेकर बलात्कार तक की ग्रास बनाई जाती हैं। यह कहना है डॉ. अमर्त्य सेन का। घरेलू हिंसा की इतनी आसानी से शिकार बन जाने की नारी की मजबूरी भी उसकी दुर्बल शारीरिकता का मामला है, जिसका मुख्याधार गर्भ व जनन है जो उस पर थोपा गया है। स्त्री का दब-सहम घुट-घुटकर जीना या उसके प्रति हो रहा भेदभाव 'यूनिसेफ' की राय में बच्चों की देखभाल पर सीधा असर डालता है। कुपोषण पर जारी 2006 की रिपोर्ट में 'विश्व बैंक' ने छोटी-बड़ी तमाम स्त्रियों व बच्चों को दुनिया के समाज का सबसे कुपोषित सदस्य माना है। यहाँ एक बात और जोड़नी होगी कि ग्रामीण स्त्रियाँ और बच्चे सबसे कुपोषितों में भी कुपोषित हैं। विकासशील देशों में राष्ट्रीय उत्पादन का 2% ही स्वास्थ्य व दवाओं पर खर्च होता है; वह मुख्यतः शहरों तक सिमट के रह जाता है। यानी, सबसे कुपोषित सदस्यों (स्त्रियों व बच्चों) को कुछ मिलता नजर नहीं आ रहा। डॉ. अमर्त्यसेन ने 'भारतीय अर्थतन्त्र : इतिहास और संस्कृति' पुस्तक में इंग्लैंड के डेविड बर्कर की थ्योरी के आधार पर, दक्षिण एशिया में स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रमुख समस्याओं से जुड़ी जानकारियों को सैद्धान्तिक रूप दिया है। उसके अनुसार इन समस्याओं के मूल में है—स्त्री का कुपोषण। उन्होंने एक कारण-शृंखला प्रस्तुत की है—

नारी का सामान्य कुपोषण → मातृत्व में कुपोषण → गर्भ के विकास में त्रुटि → अल्प

वजन बच्चों का जन्म→अधिक बाल कुपोषण→वयस्क जीवन में अनेक हृदय रोगों की निश्चित आशंका। नारी पर थोपे गए अभावों का अन्ततः पुरुषों पर ही तीखा प्रहार होता है, चूँकि हृदय रोगों का प्रभाव पुरुषों पर ही अधिक होता है।

NFHS-II ने भारत की केवल 51.6 % स्त्रियों को अपनी स्वास्थ्य के बारे में निर्णय लेने में सक्षम पाया था। जब अपनी देह के साथ उनका यह अधिकार है तो बाकी क्या होगा? फिर NFHS-II की उपर्युक्त गणना से स्त्री के व्यक्तित्व का कच्चा चिट्ठा उपस्थित हो जाता है कि सिर्फ 52.5 प्रतिशत स्त्रियाँ घर के निर्णयों में हिस्सेदार हैं। जब 37.2 प्रतिशत स्त्रियाँ वैवाहिक (पति सम्बन्धी) हिंसा से ग्रस्त हैं, तब इस हिस्सेदारी का क्या अर्थ निकलता है? समझा जा सकता है। वैवाहिक हिंसा की शिकार स्त्रियाँ बिहार में 59% (शहरी 62.2, ग्रामीण 58.5, अशिक्षित 63.3, सुशिक्षित 44.5), झारखंड में 37% (शहरी 24.6, ग्रामीण 40.8, अशिक्षित 41.9, सुशिक्षित 13.4), उत्तर प्रदेश में 42.4% (शहरी 36, ग्रामीण 44.3, अशिक्षित 48.8, सुशिक्षित 18.3) तथा उत्तरांचल में 27.9 प्रतिशत (शहरी 22.4, ग्रामीण 29.8, अशिक्षित 39.6, सुशिक्षित 8.6) है। इनसे स्पष्ट है कि स्त्री चाहे गाँव में हो या शहर में, अशिक्षित हो या सुशिक्षित, मर्दानगी की मार से बच नहीं पाई है। फिर अन्तर है तो इतना ही कि अशिक्षित या गाँव की स्त्री के पास हिंसा से लड़ने की समझ व सुविधा शहरी या सुशिक्षित स्त्री से कम है। अतः उसकी स्थिति थोड़ी ज्यादा खराब है। पर, एक बात और है। हिंसा या अन्याय के खिलाफ लड़ने वाली और अत्याचारी पति या ससुराल वालों अथवा बाप-भाई को ही कानूनी चक्कर में डालने वाली स्त्रियों को घर की इज्जत बचाने के नाम पर मर्दवादी समाज बदनाम करता है। इस प्रकार, उनकी संघर्षशक्ति को कुन्द करके अपने अन्याय तन्त्र को बनाए रखना चाहता है। पस्तहिम्मत हुई स्त्रियाँ आखिर क्या करेंगी, कहाँ जाएँगी? पहले से ही सम्पत्ति विहीन हैं, शिक्षा हो तब तो आर्थिक आत्मनिर्भरता की राह पाएँ। पति की लात खाते, ताने सहते, ‘उनकी कमाई पर जीतीं’ कही जातीं यानी परजीवी-सी बनी दिखती हैं। ऐसी स्थिति में यौन-रोग ढोते यौन-दासी फिर जनसंख्या वृद्धि की बीमार घरेलू मशीन बनी रहना, बच्चों का पालन गृह बनी रहना उनकी नियति सी होती है। उसे वैसी घरेलू मशीन बनाए रखने की मानसिकता समय-समय पर उसकी देखभाल व सलाह आदि के रूप में उस मशीन में नट-बोल्ट कसती दिखती है और इस रूप में उसकी ‘सेवा’ (वही “यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते” टाइप) का भी शोरगुल कभी-कभी करते दिखती है। सुनने वालों को भी दिखती नहीं कि इस छूँछी ‘सेवा’ के पीछे उसकी कितनी बड़ी पराधीनता या विवशता छिपी है।

‘माता’ व ‘गृहिणी’ का महिमामंडन करनेवाला समाज स्त्री के घरेलूकरण का रास्ता चौड़ा किए रहता है। दिखाई देता है कि गृहलक्ष्मी (हाउस वाइफ) बनी रहकर ही स्त्री खुश है, चाहे कितनी भी पढ़ी-लिखी हो। इस तरह वह (विवाहिता) स्त्री की सदियों पहले खींची गई मनुवादी परिधि पर ही सहर्ष मुहर लगाती दिखती है—“उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिप्लानम्। प्रत्यक्षं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम्।”

(मनुस्मृति 9/27) यानी, बच्चे जनना, पालना तथा रोज का गृहकार्य (रसोई, सफाई, घर चलाना आदि) स्त्री के साथ गूँथी गई प्रत्यक्ष जिम्मेदारी है। एक आम स्त्री के घरेलूकरण का क्या अर्थ है? खाना पकाना, घर की सफाई, बरतन-कपड़े धोना, जलावन हेतु लकड़ी, गोबर जुटाना, खेती होने पर उससे जुड़े काम करना, जानवरों की देखभाल, पानी ढोकर लाना, घर के बच्चे-बूढ़ों के नाज-नखरे सहते उनकी देखभाल करना और यह सब करते हुए विवाहित/पतिव्रता होने की पहचान के लिए रोज खास किस्म के भारी-भरकम वस्त्रालंकार, घूँघट-पदों आदि में कैद रहना, सिन्दूर आदि लगाना, फिर कुपोषण की स्थायी अवस्था में भी अक्सर पति की दीर्घायु के लिए व्रतोपवास भी करती रहना। रोज सबको खिलाने के बाद बचा बासी, अपुष्ट व अपर्याप्त भोजन वह प्रायः करती है, तो कुपोषित क्यों न रहेगी? ऊपर से हाड़-तोड़ मेहनत! ये सारे घरेलू कामकाज करते जाना, पर इनमें भी अपनी इच्छा से नहीं, बल्कि बने-बनाए मानकों और परिवार के पुरुष जनों की इच्छा से ही चलना। कई घरों में देखा गया है कि मर्दों से पूछकर खाना बनाती हैं औरतें। एक तो रसाई कर्म छोड़कर प्रतिभा-रचना को स्वतन्त्र नहीं हैं, उस पर रसोई में भी अपनी मनमर्जी से कुछ बनाने-पकाने को स्वतन्त्र नहीं हैं। कारण सांस्कृतिक है। मनुस्मृति (5/147) कहती है—“न स्वातंत्र्येण कर्तव्यं किञ्चित् कार्यं गृहेष्वपि।” यानी, स्त्री घर में भी कोई कार्य अपनी इच्छा से न करे।

स्त्रियाँ कई स्थानों पर पानी ढोते-ढोते जलजनित रोगों की शिकार हो जाती हैं। उनके हाथ-पैर की त्वचा स्थायी रूप से गली रहती है। पारम्परिक जैविक ईंधन के धुएँ से स्त्रियाँ प्रायः दमा रोग से ग्रस्त हुई रहती हैं। कम से कम रोज 3-4 घंटे उस विषैले धुएँ को झेलती हैं, जिसमें कार्बन मोनोक्साइड भी होता है। उनके फेफड़े ही नहीं, आँखें भी खराब हुई रहती हैं। लाइलाज बीमारी ब्रोंकाइटिस और फेफड़े का कैंसर हो जाना उनके लिए आम हो जाता है। तीन घंटे धुआँ सहना और कई पैकेट सिगरेट पीना बराबर है। जैविक ईंधन इस्तेमाल करनेवाली स्त्रियों में मृत प्रसव होने की सम्भावना पचास प्रतिशत बढ़ी रहती है।

अध्याय तीन के उल्लेखानुसार भारत की 24.3% (शहरी 17.2, ग्रामीण 27.2) स्त्रियाँ खून की कमी (एनीमिया) की शिकार होती हैं। गर्भवती स्त्रियों का 57.9% (शहरी 54.6, ग्रामीण 59) इससे ग्रस्त होती हैं। गृहकार्य की व्यस्तता और उससे भी बढ़कर पितृसत्तात्मक मूल्यमानों में जकड़ी होने से कोई ग्रामीण स्त्री (श्रमिक वर्ग की स्त्रियाँ अपवाद हैं) पर्याप्त हवादारी या हवाखोरी की सुविधा भी नहीं पातीं।

एक शहरी और वहाँ भी सम्पन्न परिवार में ‘स्त्रियाँ’ उक्त गृहकार्यों की असुविधाओं से कुछ बच जाती हैं जरूर (कारण—रसोई गैस, नल का पानी, वाशिंग मशीन आदि) परन्तु उसकी खटाई या दासता क्या समाप्त हो जाती है? खाना, सफाई आदि तो उसी को करना पड़ता है न, भले नौकरीशुदा हो स्त्री। फिर, पति को सम्हालना ही एक स्त्री की मुकम्मल खटाई बन जाता है। उसकी छत्रछाया में सहम-सहमकर जीना, उसे सदा खुश करने हेतु प्रयासरत रहना उसकी दिनचर्या है, अन्यथा घरेलू हिंसा का सदियों से

चला आ रहा मर्दाधिकार लागू हो सकता है। इसके साथ बच्चों व उसके बाप के सारे नाज-नखरे उठाना। पति बन भी जाता है बच्चा ही। चाहता है, पत्नी उसकी सेवा उसी तरह करे जैसे माँ बच्चे की करती है। पर, मालिक की धौंस भी उससे नहीं छूटती। इसी से पति के लिए रसोईघर और शयनकक्ष दोनों जगह अपने को खाना बनाते हुए प्रस्तुत करना भी स्त्री से कभी छूटा है? स्त्री स्वयं दोनों जगहों पर सदियों से भूखी है—यह कभी सोचा गया? पुरुष शासित समाज ने तो उसे न सिर्फ काम-सुख से वंचित रखा है, बल्कि स्वास्थ्य के लिए आवश्यक काम-तुष्टि भी न लेने दी और ऊपर से उसे अपनी हवस का सामान बनाकर यौन-रोगों से त्रस्त भी किए रखा है। अभी भी मुस्लिम समाज की स्त्री को कामक्षमता-हीन करने की कसाई शल्य क्रिया सुन्नत कई देशों में जारी ही है।

सुन्नत में अक्सर स्त्री के कामसंवेदी अंग भगांकुर (Clitoris) को काट दिया जाता है। काटते समय उसके समूचे बदन में आग की लपटों व तेज दर्द का अनुभव होता है। बहुत सी बच्चियाँ इस दौरान मर भी जाती हैं या विक्षिप्त हो जाती हैं अथवा उनकी मूत्रनली में सूजन या गाँठ हो जाती है। योनि द्वार उससे संकरा हो जाता है तथा पेशाब में कष्ट होता है। फिर पति द्वारा थोपी गई यौन क्रिया उसके लिए सिर्फ यातना बनकर रह जाती है। सूडान में तो सुन्नत का सबसे भयानक रूप होता है जिसमें योनि की ऊपरी व भीतरी तह (भगोष्ठ) भी काट देते हैं। फिर टाँकों से योनि छिद्र को कुछ छोटा कर दिया जाता है। शादी की रात पुरुष-लिंग के प्रवेश के लिए वह छेद थोड़ा चौड़ा किया जाता है। फिर तलाक के वक्त उसे टाँकों द्वारा छोटा बना दिया जाता है ताकि स्त्री किसी अन्य पुरुष से यौन सम्बन्ध न बना ले। पुनर्विवाह होने पर टाँके फिर से खोले जाते हैं। इस पूरी बेहरम क्रिया के समय न किसी तरह की एनेस्थीसिया, न दवा दी जाती है, न खून रोकने का उपाय ही किया जाता है। फलतः संक्रमण का खतरा बढ़ा रहता है। यूनिसेफ की [1998-2003 ई. के बीच कराए सर्वेक्षण के आधार पर बनी] रिपोर्ट के मुताबिक सुन्नत के लिए अभिशप्त स्त्रियों का प्रतिशत इस प्रकार है—बांग्लादेश 17%, मिस्र 97%, चाड 45%, इथियोपिया 80%, घाना 5%, गुयाना 99%, केन्या 38%, माली 92%, निगार 5%, तंजानिया 18%, यमन 23%, सेंट्रल अफ्रीकन रिपब्लिक 36% तथा सूडान 90%। कितनी भीषण स्थिति है। स्त्री का सुख छीनकर उसे भयानक जलन देने का यह अधिकार क्या प्रकृति ने दिया है मर्द समाज को? क्या खुदा ने कहा है ऐसा?

इसी प्रकार स्त्री को रसोईघर क्या कुदरत ने दी है? तब तो मर्द की तुलना में उसके एक-दो रसोई अंग होने चाहिए थे। चावल में उबलकर, चटनी में पिसकर, सब्जी में भुनकर, पूरी में तलकर या दाल में बघारी जाकर भी क्या स्त्री किसी मात्रा में बच जाती है कि दिखाई दे? स्वस्थ रहना तो बाद की बात है। इस तरह से खटतीं, पर भूखी रहतीं स्त्रियाँ अल्पायु में मरने को बाध्य होती हैं, पर विडम्बना है कि पति-पुत्र या भाई की दीर्घायु के लिए व्रतोपवासों में पड़ी रहती हैं। यानी, जल्दी में भी जल्दी मरने को बाध्य बनीं!

हमारा समाज स्त्री-निरपेक्ष ही नहीं, बल्कि स्त्री-विरोधी है। वह उसकी बीमारी (खासकर यौन-रोग) या उत्सर्जन की जरूरत को भी दबाकर रखता है। मरने के करीब पहुँच जाती है, तब जाकर इक्का-दुक्का स्त्री अस्पताल पहुँचाई जाती है। इसका पता चलता है—अस्पताल का रजिस्टर व बेड देखकर। एक तो स्त्रियाँ पुरुषों की तुलना में वहाँ बहुत कम दर्ज होती हैं और उनमें भी प्रायः वे गम्भीर रूप से रुग्ण होती हैं। जबकि पुरुष सामान्य अस्वास्थ्य की दशा में भी अस्पताल जा पहुँचता है। कारण, वही पुराना है। स्त्री के रोग को उसकी स्वाभाविक स्थिति मान लिया जाता है, जबकि वह दिन भर कुपोषण-यौन शोषण आदि अत्यन्त विषय परिस्थितियों में बैल जैसी उसकी खटाई एवं गन्ने जैसी पेराई के कारण उसे घर कर लेता है। फिर ब्याहता स्त्री के इलाज कराने या न कराने को या किस तरह का इलाज कराएँ—इसे पति या सास तय करते हैं। सामाजिकीकरण ऐसा होता है कि स्त्री खुद अपनी बीमारी को छिपाती है या मर्द डॉक्टर से इलाज कराने को तैयार नहीं होती। स्त्री की बीमारी पर चर्चा करते एक परिवार की लड़की याद आ रही है, जो कभी-कभी असह्य सिरदर्द से चीख उठती थी। लड़की की दैनिक स्थिति बैल व गन्ने जैसी ही थी, पर उससे भी उसके सिर-दर्द का कोई रिश्ता हो सकता है—यह सोचने की फुरसत उस परिवार के पुरुषों को कहाँ थी? उल्टे वे उस पर बरस पड़ते कि तुम देर रात तक टी.वी. देखती हो उसी का नतीजा है यह दर्द। वाह रे! एक तो कामों के (वह भी नाज-नखरों व डाँट फटकारों के साथ) बोझ डाले रखकर उस बेचारी को सिरदर्द का तोहफा दे दिया, उस पर थोड़ा मन बहलाने का साधन टीवी भी उससे छीन लेना चाहते थे। वे यह भी सोचने में असमर्थ थे कि टीवी के रास्ते शायद दर्द कुछ रिसकर निकल सकता है। यह है मूढ़ क्रूरता की स्थिति, घर-घर का सच है यह। दैहिक संत्रास और हर प्रकार की विरोधी परिस्थितियों में घुटती स्त्री मानसिक विक्षिप्तता की भी शिकार हो जाती है। पर, वहाँ भी इस दुरवस्था को 'भूत-प्रेत', 'देवी आ गई' जैसे पारलौकिक रंगों में रंगकर देखा जाता है।

गाँवों में अधिकतर जगहों पर शौचालय नहीं हैं। स्त्री को सूरज छिपने के बाद और सूरज उगने के पहले ही शौच-निवृत्ति हेतु जाना होता है। दिन में बाहर जाएगी तो घर के मर्दों की नाक नहीं कट जाएगी? सबके सामने टट्टी को बैठेगी तो कोई सह पाएगा? भले मर्द दिन में चार बार लोटा-बोतल उठाकर निबट आए—उसी का तो समाज है। कई बार, शहरों में भी महिला-शौचालयों की कमी रहती है या आसानी से उपलब्ध नहीं होती। स्कूलों, ऑफिसों में भी कमी या अभाव सा दिखता है उनका। परिणाम होता है कि पेशाब सहते-सहते औरतें 'यूरिनरी ट्रैक इन्फेक्शन' की शिकार हो जाती हैं। अधिक जल पीती रहें तो वे बच सकती हैं, पर डर है बार-बार पेशाब लगेगा, तो कहाँ जाएँगी? जब पेट थोड़ा खराब होता है तो स्कूल या ऑफिस छोड़कर घर बैठने के अलावा उनके पास कोई विकल्प नहीं होता। क्या करे बेचारी? मर्दवादी मानदंडों पर बने समाज में कहीं भी उत्सर्जन के लिए बैठकर बेहूदा मजाक का विषय बने?

‘मासिक धर्म’—सम्बन्धी पाखंड और स्त्री को बहुमुखी पर अकारण दंड

इसी तरह, स्त्री देह की सहज प्राकृतिक घटना मासिक धर्म या रजःस्राव को पुरुषवादी ढोंगी धर्मशास्त्रों द्वारा अशौच ठहराने के कारण भी स्त्री संत्रस्त होती है। कितनी भी पढ़ी-लिखी औरत हो, इस भ्रमजाल से मुक्त नहीं है। 10 दिसम्बर, 2005 ई. के ‘सहारा समय’ (साप्ताहिक) में छपी एक खबर के मुताबिक, सम्भावित व्रतोपवासों को देखते हुए कई स्त्रियाँ एस्ट्रोजन या प्रोजेस्ट्रॉन के संयोग से बनीं कई गर्भ-निरोधक गोलियों (ओरगाजेस्ट, डेवीयारी, मेपरेट, रेजेस्ट्रॉन, नोवेलॉन, ओवरल ट्रिक्विलर आदि) का इस्तेमाल मासिक स्राव को विलम्बित करने के लिए करती हैं। उन्हें लगता है कि व्रतोपवास के लिए मासिक स्राव जैसी अशुद्धि को रोके रखना ठीक है। इस प्रकार के घातक अन्धविश्वासों की शिकार सामान्य शिक्षितों से आगे बढ़कर, गणित की प्राध्यापिका जैसी महिलाओं के रहने का समाचार अखबार दे रहा था। दवा (?) बन्द करने पर दस-बारह दिन तक भारी रक्तस्राव के कारण अशक्त दशा में पड़ी रहने का खतरा उठाकर भी धार्मिक भ्रान्तिवश प्राध्यापिका यह सब करने को बाध्य थी। चिकित्सकों की राय में इन गोलियों का बिना सोचे-विचारे प्रयोग करना रक्त में थक्के जमने, रक्तचाप, हृदयघात (हार्ट अटैक) आदि तक पहुँचा सकता है। रूढ़िवादी परिवार (कितने परिवार रूढ़िवादी नहीं है?) की स्त्रियाँ किसी माह में व्रतोपवास के लगातार दौर देखते हुए काफी दिनों-महीनों तक ऐसी गोलियाँ गटकने और अपनी देह की स्वाभाविक लय के साथ छेड़छाड़ करने को बाध्य हैं। कितनी बड़ी विसंगति है कि ऐसे परिवारों में भी अब तक मासिक धर्म को अपवित्र मानकर गोपनीय रखा जाता है, जिसमें डॉक्टर (शरीर या विषय के डॉक्टर) स्तर के लोग हो चुके हैं और अब भी हैं। यह तो चिराग तले अँधेरा होने की बात है। क्यों लोग इतना नहीं समझ पाते कि मासिक धर्म क्या है? नहीं समझते तो ये डॉक्टर क्या कर रहे हैं? डॉक्टर क्या, दसवीं तक जीवविज्ञान पढ़ा एक मामूली विद्यार्थी भी बता सकता है कि गर्भ के पोषण हेतु गर्भाशय की भीतरी परत में वृद्धि और उसमें रक्त संचार की अधिकता हर माह में होती रहती है। डिम्ब और शुक्राणु के मिलन एवं गर्भ ठहरने की आशा में 8 दिन तक बाट जोहकर, गर्भाशय की आन्तरिक सतह उतरनी शुरू हो जाती है। गर्भाशय की खून द्वारा की गई धुलाई के साथ यह रक्त-रंजित उतरन (स्त्री के हर मासिक चक्र के अन्त में) योनि-मार्ग से रिस-रिसकर दो-तीन चार दिन बाहर निकलती रहती है। यही मासिक धर्म है, जिसके कई नाम हैं—मासिक स्राव, ऋतु स्राव, माहवारी, महीना आना, कपड़े आना या (चिकित्सकीय नाम) मेंस्ट्रुएशन। हर माह, इस तरह से प्रकृति स्त्री के गर्भाशय को स्वच्छ व कीटाणु-रहित बनाते रहती है। आन्तरिक सतह को बाहर निकालने हेतु गर्भाशय में संकुचन होता है। इसी वजह से स्त्री को दर्द की अनुभूति होती है। यह कमर, पेट या पैरों में व्याप्त रह सकता है। कुछ प्राचीन सूत्रों में भी किसी न किसी हद तक यह बात स्वीकारी गई थी कि रजःस्राव स्त्री की एक सफाई-क्रिया है—“रजसा शुद्ध्यते नारी”

(वृद्धचाणक्य 6/3) यानी रजःस्राव से स्त्री शुद्ध होती है। परन्तु आज भी लोग इस सामान्य सी और जरूरी प्राकृतिक क्रिया के लिए बेचारी स्त्री को कठघरे में खड़ा किए हुए हैं, जिसके लिए वह जिम्मेवार भी नहीं है। इन दिनों, वह इस कदर अपवित्र मानी जाती है कि उसे सारे प्रतिष्ठित (?) कार्यों से काटकर घर में ही वनवास दे दिया जाता है। पर, पाखंड तो देखिए। पूजागृह नहीं छू सकती, रसोईघर से अलग रहना है; परन्तु श्रम वाले कामों से उसे मुक्ति तब भी नहीं मिलती, जबकि उसे उस वक्त आराम की जरूरत होती है। दर्द होने पर दर्द-निरोधक दवा की जरूरत होती है। बाकी सब कुछ आम दिन की तरह ही उसे करते रहने की जरूरत है—खेल-कूद, नाच-गान, व्यायाम, पढ़ाई-लिखाई, मनोरंजन तथा हल्के गृहकार्य भी। पर, सफाई पर विशेष ध्यान देते हुए मूत्रत्याग के बाद अंग धोने, एकाधिक बार स्नान और फिर कई बार कपड़े बदलते रहने की जरूरत है। ढीले ढाले कपड़े (सूती) रखते हुए, रजःस्राव को सोखने हेतु सेनेटरी नेपकिन या इंटरनल टेम्पॉन प्रयोग में लाते एवं समय-समय पर बदलते रहने की जरूरत है। रजःस्राव में हुई कमजोरी की पूर्ति हेतु हरी सब्जी, दूध, लौह व विटामिन की गोलियों के सेवन करते रहने की जरूरत है। परन्तु, अपने घर की स्त्रियों की इन जरूरतों की तरफ कौन मर्द ध्यान देता है? न उसे फुरसत है, न ज्ञान और न ज्ञान की जरूरत ही समझता है। वह तो हजारों साल पुरानी समझ के धर्मशास्त्रों की सिखावन को अब भी अकाट्य समझे हुए है कि “मासिक धर्म (हैज) गन्दगी है।” (कुरानशरीफ, सूरतुल, बकरति, आयत 222) अथवा स्त्री पर यह फतवा लादता है कि “जब तक तीन रात न बीते, स्नान करके जब तक स्त्री शुद्ध न हो ले, तब तक अपनी आवाज भी पति को न सुनाए।” (स्कन्दपुराण, ब्राह्मखंड, धर्मारण्य माहात्म्य, अध्याय 7) पर, जैसे ही शुद्ध हो जाए (यानी खतरे की स्थिति से उबर जाए) फौरन पति की यौन सेवा में हाजिर हो जाए, अन्यथा पाप लगेगा, नरक होगा—“ऋतुस्नाता तु या नारी भर्तारं नोपसर्पति। सामृता नरकं याति...” (ब्रह्मवैवर्त पुराण)।

दुनिया भर की खबर रखनेवाले मर्द अपनी निकटतम स्त्री (पत्नी) के बारे में कितना कम जेनरल नॉलेज रखते हैं। अन्यथा वे उसकी शारीरिकता, मानसिक-दैहिक जरूरत को जानने की अपेक्षा बाबा आदम युग की पोथियों को प्रमाण मानते? या उन पोथियों की समझ पर बने पाखंडी मन्दिरों, मस्जिदों आदि में मत्था टेकते, जो स्त्री को मासिक धर्म की गन्दगी से लबरेज मानते हैं, न कि व्यक्ति। अतः वे उसके प्रवेश का रास्ता बन्द किए हुए हैं। भाड़ में जाएँ ऐसे देवालय और कूड़े में जाएँ ऐसे शास्त्र जो जगत्-जननी को मनुष्य का दर्जा देने को तैयार अब तक न हो सके हैं। सृष्टि का सार जानने का दावा करनेवाले ये बकवादी मठाधीश स्त्री के बारे में इतना कम जानते हैं और जो जानते हैं, वह गन्दगी-वासना आदि के कुंड के रूप में जानते हैं, बस! इस बात का निर्लज्ज प्रतिमान बनते रहे हैं इधर की खबरों में आए कुछ मन्दिर।

‘कादम्बिनी’ (अगस्त, 2006 ई.) मासिक में छपे एक समाचार के अनुसार केरल के ‘सबरी माला मन्दिर’ में दस से पचपन वर्ष की स्त्रियों के प्रवेश पर रोक है, क्योंकि

इस दौरान स्त्रियाँ रजस्वला होतीं या हो सकती हैं। इस रहस्य के खुलने पर कि अभिनेत्री जयमाला 1987 ई. में मन्दिर में प्रविष्ट हुई थी; 2006 में पुजारियों की अन्धविश्वासी जमात ने 'मन्दिर भ्रष्ट हो गया' का शोर मचाया (सबको पवित्र करने का दावा करनेवाला मन्दिर या ईश्वर भी भ्रष्ट हो गया—यह तो दुनिया का 8वाँ आश्चर्य है। उन्होंने कहा कि मन्दिर को पवित्र करने में दो वर्ष का समय और कई लाख रुपए खर्च होंगे (काश! वह समय या रुपया लोकहित में पुजारी खर्च करते?))। जयमाला पर कानूनी कार्रवाई करने की बात चल रही थी (मानो आम्बेडकर आदि ने संविधान बनाया था ऐसे ही सिरफिरे लिंग-भेदी जातिवादी महन्तों की तुनकमिजाजी को सपोर्ट करने हेतु)। यह तो पता नहीं, कि आगे क्या हुआ, पर लोकतन्त्र के इस युग में भी ऐसी बातें करके लोग बाइज्जत बचे रहते हैं—यह विडम्बना जरूर है। धन्य हो मठाधीशो! अपनी उत्पत्ति प्रणाली (गर्भाशय) के एक सहज अंग (मासिक धर्म) को खुलेआम गरिया रहे हो। तुम्हारा ईश्वर यदि इसे न सह पाया, तो ऐसे मूर्ख, चिड़चिड़े ईश्वर को अब तक क्यों ढो रहे हो? यदि ईश्वर की जरूरत ही है तो क्यों नहीं एक ऐसा वैज्ञानिक समझदार मानवीय ईश्वर बनाते हो, जो न स्त्री हो—न पुरुष बल्कि दोनों को समान मानता हो? जो न हिन्दू-मुसलमान में बँटा हो, न जात-पाँत, भाषा या देश में। सबका ईश्वर हो वह। हर दशा में प्रगतिशील हो वह। वह ईश्वर जो मन्दिरों-मस्जिदों-गिरजों आदि पर से यह साइनबोर्ड हटवाए कि 'इसमें स्त्री, शूद्र, गरीब विधर्मी या कम वस्त्र पहनी स्त्री न प्रवेश करे' और यह नया निर्देशपट्ट टँगवाए कि "इस देवालय में कोई बलात्कारी, दहेजलोभी, मादा भ्रूण हंता/कन्याहंता, घरेलू हिंसक, स्त्री-द्रोही, जातिवादी, चोर, जुआरी, गरीबों का जन्मदाता, जात-धर्म की राजनीति करनेवाला और वह हर व्यक्ति प्रवेश का पात्र नहीं है जो किसी जुर्म में आरोपित है।" साथ ही, इस पट्ट में यह भी अवश्य संलग्न रहे कि 'स्त्री को 'व्यक्ति' की जगह वासना-पूर्ति या जनसंख्या मशीन मात्र बना देने को प्रयासरत हर व्यक्ति का प्रवेश भी यहाँ निषिद्ध है।

पर, यह सब काहे को होगा? अपनी पुरानी, बाप-दादों की संस्कृति हम तोड़ दें? वे रोगी हों तो क्या हम भी स्वस्थ रहना छोड़ दें?

मासिक धर्म आदि से जुड़े धार्मिक कूड़े अब तक हमारे मनो में सड़ रहे हैं और स्त्री को उसकी देह व देहगत सहज प्रक्रियाओं के प्रति निगेटिव रोल में खड़ी करके उसे बीमारियों के रंगमंच पर ठेल देते हैं। मासिक धर्म के समय दवा खाने का यह ढकोसला उसी प्रकार का है जिस प्रकार पोथी-पत्रा से सही-सलामत नक्षत्र मुहूर्त (? कौन-सा नक्षत्र-मुहूर्त सही नहीं होता? हर कालखंड सूर्य-चन्द्र-पृथ्वी आदि की दैनिक गतिशीलता का परिणाम है, फिर कोई निंद्य या वन्द्य क्यों? कोई द्विज तो कोई शूद्र क्यों?) चुनवाकर, गर्भवती स्त्री का पेट फड़वाना और इस प्रकार 'इच्छित जन्मकुण्डली' के साथ बच्चे को संसार में लाना। (क्या इसे जन्म कहा जाए?) यह कोई उपमा भर नहीं है, बल्कि आज के शहरी समाज का एक नंगा सच भी बन चुका है। अखबार नहीं देखते/देखतीं क्या? तब तो एक ही उपाय है मेडिकल कॉलेजों के सिलेबस में एक

‘मुहूर्तशास्त्र या जातक’ का अध्याय भी रखा जाए ताकि अस्पतालों में ‘पंडित’ की नियुक्ति का भार उठाने से बेचारी सरकार या अस्पताल-निर्माता को बचाया जा सके। मासिक धर्म में दवा खाना और मुहूर्त अनुसार सीजेरियन कराके बच्चा लाना—दोनों उदाहरण धर्म के कैसे मूढ़ स्त्री-विरोधी चेहरे को संकेतित करते हैं? नारी-देह के साथ इनके कारण हो रही क्रूरता का यह पाठ क्या जनसंख्या के पाठ के अन्तर्गत विवेचनीय नहीं? अवश्य है, क्योंकि दोनों किसी न किसी रूप में प्रजनन-सम्बद्ध हैं।

पर्दावाद की मारी, कैसे जिए बिचारी?

स्त्री-शरीर के एक-एक अंग के प्रति लोलुपता पितृसत्ता का सच है, जो उसके कामशास्त्र से ही नहीं आयुर्वेद, साहित्य व साहित्यशास्त्र, भाषाशास्त्र और यहाँ तक कि धर्मशास्त्र की भाषा से भी टपकती है—परन्तु, साथ में स्त्री के शरीर की एक-एक सहजेच्छा, हर एक सहज क्रिया को अपवित्र बतलाते हुए, उसके पूरे अस्तित्व को ही पापमय घोषित करने की भी परम्परा जारी रही है। स्त्री जन्म किसी पूर्वजन्म के पाप का फल है, इसलिए उसे इस बोध के साथ सहम-सहम कर जीना चाहिए; अपनी एक-एक इच्छा व अभिव्यक्ति को कुचलते, हो सके तो अपनी साँस तक का आभास दूसरों को न हो—इस तरह से जीना चाहिए। अपना अस्तित्व छिपाकर शरमाते हुए जीना स्त्री के लिए एक सौन्दर्यमूल्य बना दिया गया—यदि किसी ने सकारात्मक सोच रखी। नकारात्मक सोच रही तो उस पर डेढ़ गज का घूँघट, (गर्मी के मौसम में भी) काला बुर्का आदि लाद दिया गया। ‘परदा’ एक व्यापक शब्द है, जो स्त्री की अभिव्यक्ति के सारे ^{नष्ट कर} द्वारों पर ताले लगाकर उसकी हिम्मत तोड़ने और अन्याय का प्रतिरोध करने की ताकत देने का प्रतीक है। बुर्का-घूँघट आदि ही परदा नहीं हैं, बल्कि उसे हँसने, ऊँची आवाज में बोलने, कहीं आने-जाने, घर के द्वार पर बैठने, बाहर जाकर खेलने-कूदने, कसरत-कराटे, कुश्ती-योग आदि से रोकने के साथ उसके शरीर से जुड़ी सारी पाबन्दियाँ ‘परदा’ के अन्तर्गत ही आती हैं, जो स्त्री को अपनी प्राकृतिक जरूरत या चाह के मुताबिक शरीर को ढँकने-उघाड़ने से रोकती हैं। इस हिसाब से पाँच गज की साड़ी, लम्बे बालों व गहनों का भार ही नहीं, बल्कि मॉडलिंग या मिस-कांटेस्ट में सफल होने के लिए डायटिंग करके छरहरी (= कमजोर) बनने, स्तनों की शल्य-क्रिया कराने एवं देह पर से एक-एक वस्त्र उतार फेंकने हेतु बनाया गया उस पर बाजारवादी फिल्मी दबाव भी ‘परदा’ के अन्तर्गत ही विवेच्य हैं। स्त्री की देह को उसके अधिकार से छीनकर, अपने मन-मुताबिक गढ़ने, ढँकने-खोलने की हर पुरानी-नई कोशिश ‘परदा’ है, जो उसके ‘व्यक्तित्व’ पर सदियों से पड़ा हुआ है। इस पर्दावाद ने उसे वासना व जनन का यन्त्र भर बनाके रख दिया है। उससे हवा में उड़ने, जल में तैरने, धरती की छाती मापने और एवरेस्ट का सिर चूमने के साथ आकाश गंगा के रहस्यलोक में कल्पना चावला बनकर घुसने का जन्मजात अधिकार ही नहीं छीना; बल्कि घर की अंधियारी कोठरी में उस पर अपनी उत्तेजना थोपकर जनसंख्या की बीमार घरेलू मशीन बनी रहने को उसे बाध्य किया है तो उसी परदा-प्रथा ने। पुराने

ढंग के परदे प्रत्यक्ष रूप से स्त्री की चमड़ी गलाते-बदरंग करते और बीमार करके उस पर नित थोपी गई घरेलू हिंसा को छिपाते रहे हैं। बुर्के ने उसकी समूची देह को गोर (=फल पकाने की पुरानी विधि) के रख दिया है। हवा, प्रकाश से वंचित कर पूरी तरह उसे 'असूर्यम्पश्या' (=वह स्त्री जिसके लिए सूरज तक को देखना नसीब न हो) बना रखा है। खेल-कूद आदि पर रोक (किशोरी से ब्याहता स्त्री तक) लगा के उसकी देह की मांसपेशियों को ऐसा जकड़ दिया गया है कि मत पूछिए। ऊपर से भारी-भरकम, चलने दौड़ने की सहजता बाधित करते बेहूदे कपड़े और देह को बीधने वाले गहने—यानी, एक शब्द में 'सौन्दर्य-प्रसाधन'—सब लदे हुए हैं। उसके 'समय' को ही नहीं, जान को भी ये खा रहे हैं। एक तरफ स्त्री 'रुग्ण' होने के लिए अभिशप्त है, दूसरी तरफ रोग (खासकर यौन रोग) छुपाने को। कारण—वही 'शर्म' की डाली गई चादर। प्रसव-काल में स्त्री की यातना या मौत का मामला इस शोषण से बड़े पैमाने पर जुड़ा हुआ है। आखिर क्या कारण है कि स्वीडेन में सिर्फ 2 स्त्रियाँ प्रसव/गर्भ के कारण मरती हैं, पर भारत में 540 या सियरालियोन (अफ्रीका) में 2000 प्रति लाख पर? स्पष्ट है कि जो स्त्रियाँ देह के व्यायाम कसरत, योगाभ्यास, खेलकूद आदि से जुड़ी रहती हैं—वे न तो प्रसव-मौत की इतनी आसानी से ग्रास बन जाती हैं, न प्रसव की पीड़ा से ही इतनी छटपटाती हैं जितनी साड़ी-सिन्दूर-ओढ़नी मार्का स्त्रियाँ। स्त्री के साथ कितना क्रूर मजाक है कि उसे बचपन से ही पर्दा-अभ्यास करवाया जाता है। 'सहारा समय' में खबर पढ़ी कि अरब देशों में बच्चियों के लिए अमेरिका-निर्मित, खुले-सहज वस्त्रों वाली गुड़िया (बार्बी) को रोककर, बुर्के वाली 'फुल्ला' नाम की गुड़िया की सप्लाई की जा रही है। उद्देश्य है—बुर्के को सहज आवश्यकता मान लेने का बीजारोपण बच्चियों की उसी कच्ची उमर में ही उनके मन में हो जाए।

टीवी, पत्रिका में सौन्दर्य प्रसाधनों के प्रचार से भरे नए युग के फैशन उद्योग ने लड़की को ऐसे देहवादी प्रतिमानों में उलझाकर रख दिया है कि अपने शरीर को लेकर वह न केवल हीनभाव [कि 'इसमें कुछ रंग-रूप आकार सम्बन्धी कमी है', मानो कोई लड़की सहज रूप में पैदा होती ही नहीं।] से ग्रस्त किया है, पढ़ाई भूलकर न केवल देह के बारे में ही दिन-रात चिन्तन व टेंशन में रहने को मजबूर किया है, बल्कि 'जीरो साइज' के शरीर [टोंड बॉडी फैशन] के लिए पागल करवा के उसकी जान भी लेने का व्यापार शुरू कर दिया है। याद कीजिए उरुग्वे की 22 वर्षीया मॉडल रामोस को, जिसने डायटिंग करके अपनी काया को इतनी पतली या 'स्किनी' बना लिया था कि 'मोंटे वीडियो फैशन वीक' में हृदयघात (हार्ट अटैक) से चल बसी। 2006 की यह बात है।

व्यवस्था में यदि अक्ल होती या उसकी अक्ल पर पर्दा नहीं पड़ा होता तो पुराने-नए सभी परदों को उड़ा डालती। बुर्का-घूँघट-परदे आदि को उसी प्रकार गैर कानूनी घोषित करती, जिस प्रकार पहचान छुपाने की हर तरह की कोशिश को गैर कानूनी घोषित करती है या जिस प्रकार सुरक्षार्थ जाँच के लिए किसी यात्री द्वारा अपने सामानों को खोलकर न दिखाने को गैर कानूनी माना जाता है, कुछ उसी पद्धति पर पहचान

छिपानेवाली ऐसी हर कुप्रथा को निषिद्ध करती हमारी व्यवस्था। यह प्राइवेटिजी या निजता का मामला नहीं है, बल्कि औरत को बाहर सिर्फ ढँकने और घर की कोठरी में नंगा करने को अपनी प्राइवेटिजी मानने वाली मर्दसत्ता को खत्म करने का मामला है, जिसने स्त्री का न सिर्फ व्यक्तित्व छीना, बल्कि दैहिक व्याधि की घुटन में भी डाला। साथ ही, सामाजिक जीवन में जरूरी सम्बन्धों की पारदर्शिता की राह में रोड़ा (पर्दावाद) बनाकर स्त्री से सामाजिक अपराध भी करवाया। इन तर्कों पर पुराने पर्दावाद को दफन करते हुए, नए पर्दावाद का भी अग्नि-संस्कार करने की जरूरत है जिसने स्त्री को व्यक्ति की जगह 'मॉडल' बनाकर, उस पर गैर जरूरी ढेर सारे सौन्दर्यघाती कूड़े डाल रखे हैं। जिसके कारण न वह पढ़ सकती, न बढ़ सकती है। न खा सकती है, न सो सकती है। बस, ओढ़ी हुई मुस्कान के भीतर घुट-घुटकर रो सकती है। मर्द की आँख सेंकने के रास्ते में शहीद हो सकती है, बस! यदि इस नए 'देह-प्रदर्शनवाद' का कुछ पॉजिटिव पक्ष है तो इतना ही कि इसने देह को लेकर लड़की के भीतर किसी प्रकार की शर्म या अपराध बोध नहीं रहने दिया है, जिससे वह सहज कपड़े पहनकर लोगों की आँखों में आँखें डाल, सीधे तनकर चलने की हिम्मत पा सकी है—वह भी बड़े सहज भाव में। व्यक्तित्व-जागरण की यह पहली सीढ़ी है। पर, इसके आगे? वही देह की भुलभुलैया में उलझाए रखने की साजिश! इस साजिश से सावधान रहो बच्चियो!

जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है स्त्री की किसी मौत का कारण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समाज में उसके प्रति हो रहे विभेदकारी व्यवहारों का सिलसिला होता है। जो बीमारियाँ उन्हें जल्दी ग्रसती हैं, वे भी उसी का परिणाम होती हैं—जो उन्हें जल्दी दुनिया से उठने पर मजबूर करती हैं। पर, इस तरह से भी पति के पहले हुई पत्नी की मौत में त्रासदी का कोई विचार न करते हुए, उल्टे 'सुहागिन-मौत' के रूप में उदात्तीकृत करते हैं। उस स्त्री का भाग्य सराहते हैं जो पति के सामने ही अपनी आँखें मूँद सकी। हत्या का क्या महिमामंडन है। अपर्याप्त व कुपोषित भोजन, कार्यभार ज्यादा, ऊपर से लदा पर्दावाद, बीमारी होने पर इलाज नहीं, घूमने व खेल-कूद की सुविधा नहीं—तो कैसे जिँ बचारी बच्चियाँ? फिर उस पर यौन रोग के साथ माँ बनाने का अत्याचार। कैसे जिए नारी? अतः कहना होगा कि हर छठी मादा-मृत्यु ही नहीं, बल्कि हर मादा-मृत्यु कहीं न कहीं लिंग-भेद का ही परिणाम है।

‘स्त्री-स्वास्थ्य’ का अधूरा विचार

भारत में 'परिवार-नियोजन कार्यक्रम' की शुरुआत स्त्री के स्वास्थ्य से जोड़कर ही हुई थी तथा आगे इसमें और विस्तार भी होते गया, लेकिन फिर भी अधूरापन आज तक बना हुआ है।

सबसे बड़ा अधूरापन यह है कि सरकारी नीतियों की मानसिकता में औरतों का स्वास्थ्य 'प्रजनन स्वास्थ्य' (फिर नाम बदलकर 'प्रजनन-बाल स्वास्थ्य') तक ही सीमित रहा है, यानी गर्भ-निरोध, गर्भपात व जच्चा-बच्चा सेवाओं तक ही सीमित। यह बात

सरकार की हर स्त्री-कल्याण नीति और स्त्री से जुड़े सर्वेक्षण से उजागर होती है। सर्वेक्षणों की प्रश्नावली भी उसी को उजागर करती है। भारत सरकार के अब तक के सार्वजनिक स्वास्थ्य के कार्यक्रम या रिपोर्टों में स्त्री-स्वास्थ्य की यही खंडित सोच झलकती है चाहे 1948 ई. की 'भोर कमिटी' की रिपोर्ट हो या 1992 ई. का 'चाइल्ड सरवाइवल एंड सेफ मदरहुड' कार्यक्रम। इसी तरह 1946 ई. के 'मातृबाल स्वास्थ्य कार्यक्रम', 1952 ई. के परिवार-नियोजन कार्यक्रम से लेकर 'एकीकृत बाल विकास सेवाओं' या 1983 ई. की 'राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति' सबमें यही बात है। 1979 ई. के 'स्वास्थ्य व परिवार कल्याण कार्यक्रम' एवं 1972 ई. के 'नेशनल एनीमिया प्रोफिलैक्सिस प्रोग्राम' सबमें यही छवि झलकती है।

इसके पीछे शायद 'स्त्री स्वास्थ्य आन्दोलन' का योगदान है। दुनिया के विविध हिस्सों में सत्तर के दशक में जनसंख्या-समस्या से जुड़े कई स्त्री-प्रश्नों (स्त्री का अपनी जनन शक्ति के प्रयोग का अधिकार, सुरक्षित गर्भपात-गर्भ निरोधोपायों तक उसकी पहुँच, यौनिकता व प्रजनन को अलग-अलग करने का प्रश्न आदि) ने 'स्त्री-स्वास्थ्य आन्दोलन' को जन्म दिया था। शुरुआत में उसने स्त्री को अपनी देह की कार्य पद्धति के प्रति जगाने का कार्य किया। धीरे-धीरे उसने सुरक्षित गर्भ निरोधकों व गर्भपात की सेवाओं तक पहुँचकर स्त्री को माँ बनने या न बनने की स्वतन्त्रता यानी 'स्वैच्छिक मातृत्व' उपलब्ध कराने का पक्ष लिया। इसी इतिहास से प्रेरित लगती है 'स्त्री-स्वास्थ्य की अधूरी सोच'। इसके द्वारा उठाए प्रश्न भी अभी तक एक आम नारी के लिए सुलझ न पाए हैं तथा एक आम औरत गर्भधारण को पति (पुरुष) या परमेश्वर या कथित पति-परमेश्वर की मर्जी पर छोड़ने के रूप में बनी गुलामी के सबसे बड़े स्रोत से छुटकारा पाकर उसकी जगह स्वयं गर्भधारण की नियन्त्री बनने का संघर्ष तब से आज तक कर रही है। इसी तरह बिना गर्भ-कष्ट उठाए यौनिकता की तुष्टि या आनन्दोपभोग आम स्त्री के लिए आज भी नामुमकिन है (मर्द तो सदा से ऐसा मजा लेता आया है)—वह भी तब जब विज्ञान ने गर्भ-निरोधकों के जरिए गर्भाधान व यौन-क्रिया का अटूट रिश्ता बहुत पहले तोड़ दिया है। यानी, स्त्री स्वास्थ्य की सीमित सोच का भी प्रतिफलन एक आम नारी पर घटित न हो सका है।

स्त्री के स्वास्थ्य को एक व्यक्ति के स्वास्थ्य के रूप में नहीं देखा जाता, बल्कि समाज द्वारा थोपी गई एक भूमिका 'माँ' के साथ उसे एकमेक कर, स्त्री-स्वास्थ्य को 'मातृ-स्वास्थ्य' (गर्भावस्था व प्रसव स्वास्थ्य) मात्र का पर्याय मान लिया गया है। इतना समय गुजर जाने के बाद भी वह वैचारिक चौखटा नहीं बदला है। चाहे किसी भारतीय एजेन्सी की बात हो या संयुक्त राष्ट्र के अभिकरणों (अंगों) की बात। हर सर्वे या रिपोर्ट स्त्री के बारे में इसी सीमा में सोचती रही हैं। दुनिया के अधिकतर देशों का यही किस्सा है। फिर भी इधर एक परिवर्तन UNO की रिपोर्टों में दिखता है कि वे स्त्री को व्यक्ति मानकर भी स्वास्थ्य आँकड़ों के संग्रहण व विश्लेषण को तरजीह दे रही हैं। पर, भारतीय विश्लेषण अब भी स्त्री के स्वास्थ्य को बच्चा जनमाने से जुड़े स्वास्थ्य, अस्वास्थ्य तक

सीमित समझ रहे हैं। उसका भी आधा-अधूरा विश्लेषण किया जाता है। पहले स्त्री को माँ बना दो, फिर उसे 'जच्चा-बच्चा स्वास्थ्य' का लक्ष्य प्रदान कर दो। हो गई कर्तव्य की इतिश्री। किसी भी सर्वेक्षण में यह प्रश्न कहाँ रहा स्त्री से कि "आप अपनी मर्जी से गर्भवती हुईं या सेक्स या गर्भ लादा गया आप पर?" पूछेंगे क्या? हिम्मत है, मर्दसत्ता से टकराने की? सेक्स-सर्वे भी जो निजी एजेन्सियाँ करती हैं, ऐसे सवाल को कहाँ प्रश्न दे पाती हैं जो स्त्री के आत्मनिर्णय, सशक्तीकरण और पितृसत्ता द्वारा स्त्री के यौनदासी बनाए जाने, बिस्तर पर स्त्री के साथ मर्दानगी दिखाने से सम्बद्ध हों? स्त्री के पीड़क सम्भोग से जुड़े प्रश्न बहुतेरे न उठ सके हैं। यह ठीक है कि किसी ऐसी स्त्री, जो गर्भवती की जा चुकी है, के कल्याण का रास्ता 'गर्भावस्था/प्रसव सम्बन्धी' स्वास्थ्य की अवधारणा से होकर ही निकलता है—परन्तु, स्त्री को सिर्फ उचित प्रसव-सुविधा उपलब्ध करा देना या गर्भपात-गर्भ निरोधकों तक उसे पहुँचा देना 'स्त्री की सेहत-नीति' का पूरा पर्याय नहीं। उसे व्यक्ति-रूप में स्वस्थ न रहने दो, न खेलने-कूदने, घूमने-फिरने दो, न मनोरंजन करने दो, न स्वतन्त्र निर्णय लेने दो, न यौन-सुख पाने दो ऊपर से यौन रोग थोपते रहो और कहो कि हमने स्त्री को स्वस्थ रखा है। स्त्री के अस्वास्थ्य या मौत के कारणों का विश्लेषण करते हुए भी सिर्फ देह में उसे ढूँढ़ा जाता है, जबकि समाज की पितृसत्तात्मक संरचना में वे निहित होते हैं—पीछे हमने विस्तार से देखा है। इसलिए, स्त्री को स्वस्थ रखना है तो पितृसत्ता का अन्त करना होगा। यह सब विचार स्त्री की किसी स्वास्थ्य चर्चा में सम्मिलित नहीं है।

लिंगानुपात एवं स्त्री औसत-आयु का ग्राफ : समाज में स्त्री की हालत को कह रहा साफ

किसी समाज में स्त्री की प्रस्थिति का सबसे प्रत्यक्ष आधारभूत सूचक 'लिंगानुपात' (Sex-Ratio) और 'स्त्री की औसत आयु' (जीवन-सम्भाव्यता) हैं, यद्यपि पूर्ण सूचक ये नहीं हैं। लिंगानुपात की अवधारणा (भारत-सहित अधिकतर देशों में) 1000 पुरुषों की संख्या को पैमाना बनाकर खड़ी हुई है। इस प्रकार यह भी पुरुषवादी अवधारणा ही है। इसमें 'प्रति हजार पुरुषों पर स्त्री संख्या' को 'लिंगानुपात' कहा जाता है। प्रश्न है—'प्रति 1000 पुरुषों पर ही क्यों, 'प्रति 1000 स्त्रियों पर पुरुष संख्या' को लिंगानुपात की परिभाषा क्यों न माना गया? इसका कारण शायद यह सोच है कि स्त्री एक घटती हुई प्रजाति है, इस कारण गणना का लक्ष्य या माप्य है और पुरुष (संख्या) उसका मापक या पैमाना। यदि यही बात है तो 'लिंगानुपात' की अवधारणा का पुरुषवादी होना मजबूरी की देन है (पर, इस 'मजबूरी' तक पहुँचाया किसने?)। अन्यथा, यह परिभाषा भी पितृसत्तात्मक सारी परिभाषाओं की जात की ही है। यहाँ एक अति महत्वपूर्ण तथ्य पर ध्यान देने की जरूरत है। भारतीय जनगणना में लिंग (sex) के अनुसार अलग-अलग आकलन तो है, परन्तु जो अलिंग (सेक्स-निरपेक्ष) हैं, यानी हिजड़े, उनकी गणना अलग

से नहीं की जाती। उन्हें पुरुष-आबादी में ही शामिल रखा गया है। एक अनुमान के मुताबिक कुल आबादी में उनका प्रतिशत 0.8 से 0.9 है। यह एक विसंगति ही है कि सेक्स-हीन को अलग न मानकर नपुंसक (यानी, जिसमें पुरुषत्व नहीं है या स्पष्ट नहीं है) कह दिया जाता है तथा पुरुष में ही गिन दिया जाता है। इस प्रकार इस बिन्दु पर भी पुरुष को प्रधान मानकर चला गया है। स्पष्ट है कि यदि हिजड़ों को अलग से गिना जाए तो लिंगानुपात में भी अल्प अन्तर होगा। सम्पूर्ण जनसंख्या में स्त्री-प्रतिशत तो वही रहेगा, पर लिंगानुपात पुरुष वर्ग से 0.8-0.9% तक की उक्त आबादी को अलग कर निकाला जाना चाहिए। खैर।

‘लिंगानुपात’ एवं स्त्री की ‘जीवन-सम्भाव्यता’ (औसत आयु) समाज में स्त्री के मौजूद रहने की मापक हैं। ये सीधे-सीधे जनसंख्या-विमर्श से जुड़ते हैं। जनसंख्या का विमर्श यदि प्रचलित (आर्थिक) दृष्टि से बहुत हटकर न भी किया जाए तो भी वह ‘जन’ की संख्या के बढ़ने-घटने का आकलन मात्र नहीं है; बल्कि पुरुष-संख्या व स्त्री-संख्या की समता एवं असमता का आकलन भी है। अतः जनाधिक्य ही समस्या नहीं, बल्कि पुरुषों व स्त्रियों की संख्या की विषमता या असन्तुलन भी जनसंख्या-समस्या का ही अंग है। यहाँ अध्याय चार में उल्लिखित लिंगानुपात के आँकड़ों की विस्तृत पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं, पर इतना तो ध्यान रखना ही पड़ेगा कि दुनिया और भारत में स्त्री-संख्या घटाने की घातक परम्परा कई हजार सालों से चलती आई है, जिसने लिंगानुपात को काफी दयनीय बना रखा है। भारत में राष्ट्रीय स्तर पर लिंगानुपात 933 है तो 0-6 वर्षीय बच्चों का लिंगानुपात 927 है। पीछे कहा जा चुका है कि 0-6 वर्षीय लिंगानुपात ही समाज में स्त्री के प्रति हालिया रवैये का सही सूचक है। इस दृष्टि से देश की स्थिति कितनी खतरनाक हो चुकी है। पंजाब में 0-6 वर्षीय बच्चियाँ हजार बालकों पर सिर्फ 798 रह गई हैं। यह तो 2001 की सरकारी जनगणना का आँकड़ा है। 19 अगस्त, 2001 के ‘द हिन्दू’ ने तो फतेहगढ़ साहिब का आँकड़ा मात्र 754 बतलाया। इसी तरह भटिंडा (779), पटियाला (770), गुरुदासपुर (775), कपूरथला (775), मानसा (779), संगरूर (784), अमृतसर (783), रूपनगर (791) व जालन्धर (797) के आँकड़े भी काफी दिल-दहलाऊ हैं। फिर कस्बाई या ग्रामीण स्तर पर उतरकर देखा जाए तो कहीं-कहीं की स्थिति और दिल बैठा देनेवाली मिलेगी। इसी प्रकार पूरे देश को समझना होगा। राष्ट्रीय या राज्य स्तर पर आकलन कर देने या समस्या दूर कर देने से मामला सही नहीं हो जाता, क्योंकि राष्ट्रीय स्तर पर नहीं, लोग जीते हैं तो अत्यन्त स्थानीय स्तर पर अधिक। वे ही स्थानीय कारक उनकी जीवन-स्थिति के नियामक अधिक होते हैं। जैसे—चीन के हैनान और गुआंगडोंग जैसे समृद्ध इलाकों में यदि 130 लड़कों पर सिर्फ 100 लड़कियाँ बच गई हैं (‘शिन्हुआ’ समाचार एजेन्सी के अनुसार गुआंगडोंग में तो 144 लड़कों पर सिर्फ 100 लड़कियाँ हैं), तो उन इलाकों की स्थिति क्या होगी, सोच लीजिए। स्त्री-पुरुष के बीच के जीवन-व्यवहार क्या होंगे, कहाँ तक स्त्री का शोषण बढ़ा होगा—सोच लीजिए।

स्त्री की 'जीवन-सम्भाव्यता' (औसत आयु) के आँकड़ों से पता चलता है कि स्त्री में पुरुष की अपेक्षा कुछ अधिक समय ही जीने की प्राकृतिक क्षमता है। फिर देखा गया कि देश के समाज में स्त्री-विरोधी परम्पराएँ, प्रवृत्तियाँ जितनी कम और स्वास्थ्य सुविधाएँ जितनी अधिक होती हैं, वहाँ की स्त्री की जीवन-सम्भाव्यता पुरुष के मुकाबले उतनी ही अधिक होती है। एक झलक देखें 'संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम' द्वारा 2006 में प्रस्तुत 'मानव विकास रिपोर्ट' में प्रस्तुत जीवन-संभाव्यता की।

देश	जीवन-संभाव्यता (वर्षों में)		देश	जीवन-संभाव्यता (वर्षों में)	
	स्त्री	पुरुष		स्त्री	पुरुष
जापान	85.6	78.6	चीन	73.7	70.2
कनाडा	82.6	77.6	टर्की	71.3	66.6
स्विट्जरलैंड	83.4	77.8	श्रीलंका	77	71.7
नार्वे	82	77.1	पाकिस्तान	63.6	63.2
अमेरिका	80.2	74.8	भूटान	64.6	62.2
रूस	72.0	58.9	बांग्लादेश	64.2	62.5
म्यांमार	63.5	57.8	नेपाल	62.4	61.6
इण्डोनेशिया	69.2	65.3	भारत	65.3	62.1

विश्व बैंक के 'पोपुलेशन डाटाबेस' के 2003 के आँकड़ों के अनुसार भारत की स्त्री की जीवन संभाव्यता 64 (पुरुष-63), पाकिस्तान की 65 (पुरुष 63), बांग्लादेश की 63 (पुरुष 62), नेपाल की 60 (पुरुष 60) चीन की 73 (पुरुष 59), इरान की 71 (पुरुष 68), इराक की 64 (पुरुष 62) तथा डेनमार्क की 80 (पुरुष 75) है।

स्त्री की जीवन-सम्भाव्यता का पुरुष की तुलना में बढ़ते जाना कभी स्वास्थ्य सुविधा के विस्तार का परिणाम हो सकता है, कभी स्त्री-विरोधी प्रवृत्तियों के हास का परिणाम। कभी ऐसा भी हो सकता है कि विरोधी प्रवृत्तियों में तो कमी नहीं आई है, पर स्वास्थ्य-सुविधाओं का थोड़ा सहारा पाकर स्त्री की प्राकृतिक जीवन-क्षमता (जो कि पुरुष से स्वतः अधिक होती है) और लहलहा गई। यदि साथ में स्त्री-विरोधी प्रवृत्तियाँ काम न कर रही होतीं तो कितनी अधिक होती स्त्री की जीवन-सम्भाव्यता! सोचा जा सकता है। किसी समाज में स्त्री-पुरुष मृत्युदर या जीवन-सम्भावना समान है, तो यह नहीं समझ लेना चाहिए कि मामला ठीक-ठाक है, यानी स्त्री-पुरुष के बीच कोई भेदभाव नहीं है। चिकित्सकीय प्रमाण है कि समान देखभाल व स्वास्थ्य सुविधाएँ देने पर स्त्री की मृत्युदर पुरुष से कमतर एवं जीवन-सम्भाव्यता बेहतर होनी चाहिए। भ्रूणावस्था में भी नारी भ्रूणों की जीवन-सम्भाव्यता ज्यादा होती है क्योंकि अधिकतर गर्भस्राव पुरुष भ्रूण के होते हैं। अकाल में भी पुरुष के मुकाबले स्त्री के टिकने की सम्भावना ज्यादा पाई गई है। समग्रतः लिंगानुपात की समानता भी स्त्री-पुरुष के बीच के भेदभाव की

निर्मूलता की गारंटी नहीं है। भेदभाव वश भी स्त्री की संख्या कम होकर पुरुष के समान हो सकती है।

डॉ. अमर्त्य सेन ने बालिका की जीवन सम्भाव्यता पर उच्च जन्मदर का प्रभाव भी बखूबी विश्लेषित किया है। उन्होंने कहा कि परिवार की पहली बेटी को शायद उतने भेदभाव नहीं झेलने पड़ते, जितने अगली बेटियों को।

इस तरह, स्त्री की 'जीवन-सम्भाव्यता' (औसत आयु) और 'लिंगानुपात' दोनों किसी समाज में स्त्री की स्थिति या उसके प्रति अपनाए जाते रहे सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक आदि रवैयों का संकेत करते हैं। बालिका के जीवन को हर तरह से हतोत्साह करना, घरेलू व वैवाहिक हिंसा, मातृत्व व प्रसव-बाध्यता, मादा भ्रूण/शिशु की हत्या, लड़की के बाल विवाह, स्त्री की गरीबी (सम्पत्ति-वंचित किया जाना), घरेलूकरण आदि लम्बी लिस्ट है, औरत की जीवन-सम्भाव्यता व लिंगानुपात की कमी के पीछे। यह सीधे-सीधे जनसंख्या के स्त्रीवादी पाठ का मामला है। इस पाठ को पढ़िए, पर एक और आशंका जोड़कर पढ़िए। वह यह कि लिंगानुपात को सही करने के पीछे की सोच कहीं मर्दों के लिए औरत रूपी चीज की सप्लाई बढ़ानी तो नहीं है? पिछले (चतुर्थ) अध्याय में प्रस्तुत भ्रूण-हत्या के विरोधी नारों की अन्तर्निहित प्रवृत्ति को ध्यान में रखना जरूरी है। इसी तरह, स्त्री की औसत उम्र (जीवन-सम्भाव्यता) के बढ़ने का एक यही अर्थ नहीं हो सकता कि स्त्री-विरोधी संरचना टूट रही है। यह भी हो सकता है कि सारी संरचना यथावत् है, बल्कि उसी के तहत स्त्री के लिंगानुपात व जीवन सम्भाव्यता ठीक करने की चाहत इसलिए जग रही है कि स्त्री-रूपी पदार्थ का सेवन दीर्घकाल तक खींचा जाए। “यूँ ही चमकती रहे हमेशा तेरे हुस्न की धूप” वाली सोच के तहत, चिरयौवना अप्सरा की इन्द्रवादी चाह तो नहीं है इसके पीछे? सारी संरचनाएँ यथावत् रहते स्त्री की औसत आयु में बढ़ोतरी और अधिक समय तक स्त्री को संत्रास भोगने हेतु विवश करेगी—इस आशंका को अवश्य साथ रखकर पाठ कीजिए जनसंख्या का।

वेश्याओं की व्यथा सुने बिना कैसे पूरी होगी जनसंख्या कथा?

मानवाधिकार-हनन की सबसे प्राचीन व संगठित संस्था 'वेश्यावृत्ति' के प्रत्यक्ष रूपों (मेरा मानना है कि विवाह-संस्था स्त्री की वैध वेश्यावृत्ति—लीगेलाइज्ड प्रॉस्टीट्यूशन जैसी है, जो अप्रत्यक्ष रहती है।) में धकेली गई स्त्रियाँ भी यौन-शोषण, यौन-रोग, अनचाहे गर्भ भार एवं गर्भपात से मरती हैं। उनमें ढेर संख्या में अबोध बच्चियों का भी बनी रहना वेश्यावृत्ति का सबसे काला-क्रूर चेहरा है। एक बात गौरतलब है कि गर्भपात वहाँ नर-भ्रूण-हत्या (तथा नर-शिशु-हत्या) के रूप में घटता है तथा कन्या के पैदा होने पर खुशी मनाई जाती है। कारण? समाज के वासनान्ध मर्दों के यौन-तनाव या यौन-विक्षिप्तता का पीकदान बनने हेतु लड़कियों की कमी न हो कभी—यह सोचकर।

‘भारत के प्रमुख देह बाजार और दस्तूर’ नामक पुस्तक में पढ़ा कि स्वतन्त्रता

सेनानी खैरातीराम भोला के द्वारा 1984 ई. में स्थापित 'भारतीय पतिता उद्धार सभा' के आकलन के अनुसार देश में 1100 रेडलाइट एरिया (लाल बत्ती इलाके), 27500 कोठे, 2388300 वेश्याएँ तथा उनके 5149500 बच्चे हैं। बच्चों की यह संख्या विश्व के कई देशों की कुल जनसंख्या से भी अधिक है। सर्वाधिक दो लाख वेश्याएँ अकेले मुम्बई शहर में हैं। राज्यवार आँकड़े 'सभा' ने इस तरह पेश किए हैं—(इनमें कालगर्ल सम्मिलित नहीं हैं।)

क्र.सं.	राज्य	वेश्याओं की संख्या	उनके बच्चों की संख्या
1.	दिल्ली	3500	4500
2.	बिहार	150000	300000
3.	राजस्थान	270000	300000
4.	गुजरात	250000	300000
5.	महाराष्ट्र	350000	1200000
6.	बंगाल	275000	430000
7.	मध्यप्रदेश	150000	335000
8.	कर्नाटक (देवदासियों के सहित)	250000	110000
9.	असम	60000	130000
10.	उड़ीसा	40000	90000
11.	गोआ	5000	10000
12.	तमिलनाडु	160000	340000
13.	आन्ध्र प्रदेश	250000	300000

समाज से कटकर इतनी बड़ी संख्या में वेश्या बनी रहने को अभिशप्त ये स्त्रियाँ अधिकतर आज भी कोठों की नारकीय जिन्दगी जी रही हैं। फिर, इनके बच्चे अँधेरी दुनिया में अभिशाप ग्रस्त जीवन बिताते और फिर वहाँ से अपराध की सीढ़ियों पर चढ़कर शेष समाज में आते हैं। लिंगानुपात के परिकलन में, उन निरीह औरतों और बेसहारा बच्चों को दृष्टि-पथ में रखे बिना क्या कोई जनसंख्या-विमर्श पूरा हो सकता है? फिर, 'जीवन-सम्भाव्यता' का भी विश्लेषण क्या उन अभागिन बच्चियों-स्त्रियों को समेटे बिना सम्यक् हो सकता है? जो बन सकती थीं कहीं की इन्दिरा गांधी, महादेवी वर्मा, किरन बेदी, बछेन्द्री पाल, कल्पना चावला, आंग सान सू की, मैडम क्यूरी आदि; पर विवश हैं कि बनी रहें सिर्फ देह के कुण्ड में कैदी और दिन दहाड़े सड़कछाप आशिकों तथा रात के अन्धेरे में समाज के सफेदपोश धनिकों-धर्माधीशों की गन्दी हवसी चाहों को झेलती रहें। याद कीजिए—'दासी' फिल्म (चेन्नई मूवी क्लब)। बार-बार गर्भपात कराए जाने की पीड़ा झेलतीं ऐसी अभागिन लड़कियाँ असमय काल के गाल में चली जाती हैं उसमें। इसी तरह धर्म की नीरसता को ढोते-ढोते बोर हो चुके, 'देवता' टाइप पाखंडी मर्दों के मन-बहलाव और देह-गरमाव के लिए या उनकी सेवा-शुश्रूषा (?) के

साधन के रूप में समर्पित की गईं देवदासियों अथवा 'मैला आंचल' उपन्यास की लक्ष्मी, रमपियरिया जैसी मठ-दासिनों की भी गणना किए बिना जनसंख्या-विश्लेषण का कोई दावा अधूरा नहीं तो क्या है? यह भी तब जब ऐसी देवदासियाँ या मठदासिनें हर धर्म एवं समाज में दिश्व में हर कहीं आज भी मौजूद रहकर, कथित अवैध सन्तानों की भीड़ लगाने, उनको जनमते गटर में डाल देने या उन्हें गर्भ में ही काट-कुतरवा देने हेतु अभिशप्त हैं।

'राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग' ने 'यूनिसेफ' व 'समाज विज्ञान संस्थान' के सहयोग से भारत में स्त्रियों व बच्चों की तस्करी एवं खरीद-फरोख्त पर खोज कर, अगस्त 2004 ई. में, सरकार को जो रिपोर्ट सौंपी, उसके अनुसार [1996-2001 ई. के बीच] पूरे भारत में हर वर्ष 44,476 बच्चे गायब होते रहते हैं; जिनमें से 11008 का पता न लग पाता है। स्पष्ट है कि इन बच्चों की श्रम-शोषण व अंग-व्यापार करने या पुरुष-कामुकता की बलिवेदी पर चढ़ाने के लिए तस्करी की जाती है। बच्चियों की तो प्रायः तीसरे उद्देश्य से ही तस्करी की जाती है। 'निठारी' जैसी पैशाचिक हकीकतें किस दिशा में जाते समाज की तस्वीर हैं? क्या पता, अभी कितनी निठारियाँ जमीन के नीचे दफन हैं। उनमें गड़े अबोध बच्चियों व बच्चों के मुर्दे उखाड़े बिना, फिर उनका गम्भीर समाजशास्त्रीय विश्लेषण किए बिना कोई भी जनसंख्या पाठ पूरा हो सकता है?

विस्थापन का ताना-बाना मूलतः है औरताना

लिंगानुपात पर विचार करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि स्थानीय या क्षेत्रीय स्तर पर इसे प्रभावित करनेवाला मुख्य तत्त्व है प्रव्रजन (माइग्रेशन) या प्रवास। इसी से जुड़ा एक शब्द 'विस्थापन' भी है। पर, 'विस्थापन' एक अनिच्छामूलक शब्द है। विस्थापन विवशता-जन्य होता है। वैसे तो पुरुष व स्त्री दोनों विविध कारणों से प्रव्रजित (माइग्रेट) होते या प्रवास करते हैं, पर पुरुषों की तुलना में स्त्री प्रव्रजन के ही अंग 'विस्थापन' की अधिक शिकार है। पुरुष का प्रवास तो उसकी आत्मनिर्भरता के रास्ते पर होता है—चाहे वह स्वेच्छा से प्रवास करे या परिस्थितिवश बाध्य होकर यानी विस्थापन के रूप में। पर, प्रव्रजितों में सर्वाधिक संख्या स्त्री-जाति की है, जो लगभग विस्थापन के रूप में है। इसका कारण आर्थिक नहीं, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक है। स्त्री को उसके मूल स्थान से उखाड़ कर किसी अन्य अपरिचित परिवेश में पटक देने का कार्य सदियों से, 'पितृस्थानीय विवाह व्यवस्था' मुख्यतः करती रही है और थोड़ी मात्रा में उपर्युक्त 'तस्करी' (अपहरण), जो (प्राचीन समय से ही) उसे कोठों पर जाकर पटकती रही है। स्त्री का अपहरण कर विवाह कर लेने की मर्दानगी वाली भीष्म-परम्परा भी चलती रही है। विवाह स्त्री का प्रतिष्ठा-प्राप्त विस्थापन है, तो वेश्यावृत्ति प्रतिष्ठा के वैसे शोरगुल से रहित। दोनों में स्त्री पीड़ित है क्योंकि दोनों उसकी विवशता के रूप हैं। पुरुषों का प्रवास उन्हें कैरियर या व्यक्तित्व विकास या कुछ नहीं तो देशाटन की सम्भावना में ले जाता है, पर स्त्री का उक्त प्रवास चिर-परिचित माहौल से उसे जुदा करते हुए व्यक्तित्वहीनता

देते और कैरियर की सम्भावना का गला घोटते होता है। कई बार तो नौकरी करती या सोशल लाइफ की सुदृढ़ता में जी रही लड़की को भी सब कुछ तिलांजलि देकर 'पिया के घर' जाना पड़ता है—उसके (?) बच्चों की माँ बनने..।

भारतीय जनगणना (1991 ई.) के अनुसार स्त्रियों का सबसे बड़ा हिस्सा (76.1 प्रतिशत) विवाह के कारण प्रवासित होता है। रोजगार के लिए सिर्फ 1.8 प्रतिशत स्त्री प्रवास करती है तो शिक्षा के लिए सिर्फ 0.8 प्रतिशत। व्यापार हेतु 0.5 प्रतिशत स्त्रियाँ प्रवास करती हैं तो परिवार का स्थानान्तरण होने के कारण 11 प्रतिशत। अन्य कारणों से 9.8 प्रतिशत स्त्रियाँ प्रवासित होती हैं। सर्वाधिक प्रवास विवाह-जन्य है, जिसमें पुरुष सिर्फ 4.0 प्रतिशत करते हैं। पुरुष शिक्षा के लिए 4.8 प्रतिशत (यानी स्त्री का 6 गुना) प्रवास करते हैं। यहाँ भी ध्यातव्य है कि स्त्री का शिक्षा-उद्देश्यों से प्रवास होता भी है, तो बहुत दूर या 'सात समुन्दर पार' नहीं। घर के पास के शहर में रहना काफी माना जाता है। यही हाल रोजगार व व्यापार का भी हो सकता है। पुरुष व्यापार हेतु 6.0 प्रतिशत (स्त्री का 12 गुना) प्रवास करते हैं तो रोजगार हेतु 27 प्रतिशत (यानी स्त्री का 15 गुना) परिवार के स्थानान्तरणवश 27.0 प्रतिशत पुरुष प्रवास करते हैं।

इस तरह प्रवास का चेहरा स्त्री के लिए विरोधी ठहरता है। लेकिन, सच सिर्फ इतना नहीं है। रोजगार या कैरियर की तलाश में पुरुषों का रेला गाँवों-कस्बों से नगरों-महानगरों की ओर प्रयाण करता है यानी घर छोड़कर देश-दुनिया में भटकते रहता है तो इससे स्थानीय स्तर पर लिंगानुपात का सन्तुलन बिगड़ता है। जहाँ जाकर वे पुरुष जमते हैं, वहाँ का लिंगानुपात गिरता है। क्योंकि स्त्रियाँ तो वहाँ उतनी की उतनी होती है प्रायः, पर बढ़ जाते हैं पुरुष। फिर, उन मर्दों का वहाँ का अकेलापन मर्दवादी समाज में 'वेश्यावृत्ति' को बनाए रखने के पक्ष में अनजाने में एक तर्क बन जाता है। परिणाम! वेश्याओं की आपूर्ति करने का धन्धा जोर पकड़ता है और फिर पिछड़े गरीब इलाकों से नौकरी या विवाह का झाँसा देकर विवाह-विधि पूरी कर या सीधे मर-भूखे माँ-बापों से खरीदकर मासूम-कमसिन बच्चियाँ लाई जाती हैं और इस नरक में ठेल दी जाती हैं। पुरुष के प्रवास और स्त्री के विस्थापन का यह कैसा दुःखद समीकरण है।

एक आकलन के अनुसार वेश्यावृत्ति में झोंकी गई, 16 से कम उम्र की बच्चियों का प्रतिशत (कुल वेश्याओं की दृष्टि से) 40 है। इंडिया टुडे (13/10/2003) के अनुसार प्रतिवर्ष विश्व में 5-15 वर्ष की 20 लाख बच्चियाँ इस धन्धे में डाल दी जाती हैं। नेपाल से 5-15 हजार तथा बंगलादेश से 8-10 हजार बच्चियाँ हर वर्ष खरीद-फरोख्त द्वारा भारत लाई जाती हैं। सार्क देशों में 200 स्त्रियाँ रोज इस धन्धे में धकेली जाती हैं, जिनमें 40 प्रतिशत अवयस्क होती हैं। झारखंड में बिकनेवाली 90% बालाएँ 10-20 वर्ष की होती हैं, जिनमें ढेर सारी वेश्यालयों में भेज दी जाती हैं। 'राष्ट्रीय अपराध ब्यूरो' के अनुसार 2000-2001 के दौरान ऐसी खरीद-फरोख्त में 78 प्रतिशत वृद्धि हुई है। 'केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड' के अनुसार 15 वर्ष से कम उम्र की 15 प्रतिशत तथा 18 वर्ष से कम उम्र की 25 प्रतिशत पेशेवर वेश्याएँ बनी हैं। (इंडिया टुडे, 13 अक्टूबर,

2003)। इस तरह बच्चियाँ धन्धे में धकेल दी जाती हैं। 1990 ई. में ताइवान में 1 लाख और 1997 ई. में फिलीपीन में 12 लाख बच्चियाँ वेश्याएँ बनाई गई थीं।

सेक्स-वर्कर नहीं, यौन-दलिताएँ

फिर भी पुरुष-तर्कशास्त्र का अन्त नहीं। अपनी पत्नियों से दूर होने के कारण मर्दों की दैहिक जरूरत के लिए वेश्याएँ बनाए रखने का तर्क। पर, उनकी अकेली पड़ चुकीं पत्नियाँ जो घर पर हैं, उनकी यौन-अतृप्ति के लिए किसी वैकल्पिक स्रोत का विचार उस तर्कशास्त्र में क्यों नहीं होता? फिल्म 'रिहाई' की तरह गाँव में किसी नौजवान का चेहरा देखने तक को तरसतीं—रति-विलाप करतीं स्त्रियाँ, उत्तरांचल के जाने कितने गाँवों का सच है। फिर यह सच तो कुछ मात्रा में हर घर या गाँव का हो सकता है। पति जाने कब से बाहर है, पत्नी घर में आदर्श बहू बनी बैठी होती है। इतना ही नहीं, उन पति-विरहिता स्त्रियों के 'बलात्कार' का खतरा भी बढ़ जाता है। (वैसे पति भी क्या कम था?) और आए दिन उन्हें परिवार के बचे-खुचे या बाहरी जनों के लिए इमराना बनना पड़ता है। पर, उनकी समस्या का विचार इस तर्क-पद्धति में क्या होगा? बल्कि इसी तर्कशास्त्र में वेश्यावृत्ति को कानूनी दर्जा देने के पैरोकार भी उभर आते हैं। वे वेश्याओं का चौतरफा शोषण बचाने हेतु, उन्हें 'स्वेच्छा से जिस्म बेचनेवाली कामगार स्त्रियों' के रूप में 'सम्मानित' श्रेणी देना चाहते हैं। 'सेक्स-वर्कर' नाम तो यौन दासियों को पहले दिया ही जा चुका है—अब वे तर्कशास्त्री उनकी वास्तविक प्रतिष्ठा (?) चाहते हैं। ऐसा करके वे 'पितृसत्तात्मक समाज के लिए, स्त्री की वेश्यावृत्ति को अनिवार्य आवश्यकता मान लेने का ही तो आग्रह कर रहे हैं। यानी वे हर साल बढ़ी संख्या में, अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सीमा पार कराके (कबूतरबाजी द्वारा) अबोध बच्चियों को देह-मंडी में ठूस देनेवालों को 'वैधता' का सर्टीफिकेट दे देना चाहते हैं। पैसे के बल पर लड़की के समूचे सम्भावनाशील व्यक्तित्व को उसकी 'योनि' मात्र में सिमटाकर, अपने बीमार स्राव द्वारा उसे सड़ाते जाने की मर्दाना बेशर्मी को 'ग्राहक' का सम्मान देना चाहते हैं। बच्चियों को खरीदने-बेचने, मारपीट करके उनसे धन्धा करवानेवाले दलालों को इससे खुलेआम 'व्यवस्थापक' की मान्यता मिल जाएगी तथा 'अपराध' कानूनी 'अधिकार' में तब्दील हो जाएगा।

जनसंख्या के क्षेत्रीय वितरण पर ध्यान कम ही राष्ट्रों ने दिया है। इस पर गहराई से विचार कर क्षेत्रीय स्तर पर लिंगानुपात को सन्तुलित करने की दिशा में बढ़ना होगा। अन्यथा, नारी-विरोधी उक्त प्रकार की प्रथाएँ और संस्थाएँ और दृढ़ होंगी।

आर्थिक-विमर्श मात्र की जात प्रायः मर्दाना है

इस सन्दर्भ में, मूल प्रश्न उठाया जाना चाहिए कि लड़कियों या स्त्रियों की तस्करी (ट्रैफिकिंग) करने या वेश्यावृत्ति के जाल में उनके उलझने के पीछे का असली कारण

क्या है? 2006 ई. की शुरुआत में ही अपने किसी अंक में 'सहारा समय' साप्ताहिक ने एक समाचार दिया। पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री बुद्धदेव भट्टाचार्य के निर्देश पर 'कलकत्ता', 'बर्दवान' व 'उत्तर बंग'—इन तीन विश्वविद्यालयों ने, राज्य के कई जिलों में हो रही लड़कियों की खरीद-फरोख्त अथवा माँ-बापों द्वारा उन्हें बेच डालने की अमानवीयता के पीछे के कारणों की तलाश की। 26 फरवरी, 2006 ई. को सरकार को सौंपी उसकी रिपोर्ट में उसका मूलभूत कारण गरीबी की विकरालता बताया गया। इस टीम के महानुभावों को क्या इतना सरल तर्क नहीं सूझता कि यदि कारण दरिद्रता और उससे जन्मी भुखमरी है तो लड़कियाँ क्यों खरीदी-बेची जा रही हैं? लड़के क्यों नहीं? लड़कों का दाम कम मिलने से बिक्री में उनकी स्थिति नगण्य रहने की भी बात यदि कही जाए, तो प्रश्न है लड़की का अधिक दाम क्यों मिलता है? समाधान के रूप में, रिपोर्ट ने गरीबी दूर करने की अर्थनीति और शिक्षा का प्रसार करना सुझाया। परन्तु, उस मूल तत्त्व को उखाड़ फेंकने का कोई आह्वान नहीं किया गया, जिसका नाम है पितृसत्तात्मक विचार, जिसके तहत स्त्री एक देह एवं मर्द के सुखोपभोग का साधन है—यौन-क्षुधा का भोज्य पदार्थ है; न कि व्यक्ति। यही विचार स्त्री की कई पीड़ाओं का मूल है। यही विचार वेश्यावृत्ति के पुराने-नए, संगठित-असंगठित तमाम रूपों का जड़-रूप कारण है। बाकी कारण जो भी गिनाए जाते हैं—वे तना-पत्ती आदि हैं अथवा उस जड़ को लहलहाने के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ हैं। चाहे स्त्री की किसी प्रकार की आर्थिक मजबूरी हो या माँ-बापों की दरिद्रता, चाहे दलाल/तस्कर तन्त्रों का संगठन हो या कानून का लचर होना—सब कारण धरे रह जाते, यदि लड़की की देह को खरीदने वाला कोई न मिलता। ये सब कारण उतने फलीभूत न होते, यदि स्त्री की सामाजिक मजबूरियाँ न होतीं, उसे भी ताकतवर-आत्मनिर्भर बनने का पुरुष के बराबर अवकाश मिलता। स्पष्टतः ये सारे पितृसत्तात्मक विचार के कारण हैं। इसे उखाड़े बिना कभी वेश्यावृत्ति न मिटेगी और कई नए-नए बहाने एवं रूप लेकर उभर आएंगी। इस कारण को उखाड़े बिना लड़कियों का अपहरण, खरीद-फरोख्त आदि हर्गिज न रुक सकेंगी—कुछ समय के लिए थमते जरूर नजर आए।

परन्तु, हम हैं कि हर समस्या या घटना को बहुत मोटी बुद्धि से विश्लेषित करते हैं—केवल आर्थिक चश्मे से देखते हैं। जब समाज में आदि युग में विचारधारा का उदय नहीं हुआ होगा—तब तो सिर्फ आर्थिक विश्लेषण कदाचित उचित होगा। पर आज ऐसा करना ठीक नहीं होगा। बेशक यह पलायनवादी विमर्श है, जिसकी जात (खासकर स्त्री-सम्बन्धी किसी विश्लेषण में) प्रायः मर्दाना है। मैं 'जनाना' करने की बात नहीं कर रहा हूँ, सिर्फ मानवीय-विवेक-सम्मत बनाने का सुझाव दे रहा हूँ ताकि स्त्री व पुरुष की समता एवं दोनों का समान मात्रा में समाहार हर विमर्श की मूल भित्ति बने। परन्तु, यह मर्दवादी भटकाव या एकांगिता इतनी सर्वाच्छादी है कि कन्याओं के बाल/अनमेल विवाह, पर्दा-प्रथा, देवदासी-प्रथा, सती-प्रथा आदि सबका कारण विदेशी/विधर्मी आक्रमणों (या अर्थ) को ठहराते हैं। कोई यह सवाल नहीं उठाता कि लड़कियों को ही

उन आक्रमणों से खतरा क्यों था, जिसके कारण वे बालपन में ही ब्याहीं, सती बनाई, जौहर पर चढ़ाई या देवता (बने पुजारियों) को अर्पित की जाती थीं अथवा सात पर्दों में छुपाकर रखी जाती थीं? आज भी लड़कियाँ अनमेल विवाह की शिकार क्यों बनती हैं? लड़की को ब्याहे जाने के पीछे के तमाम तर्कों में से एक आज तक यह सुनाई देता रहा है कि अकेली लड़की को सामाजिक असुरक्षा का खतरा बना होता है। इस कारण भी उसे विवाह करना होता है। प्रश्न है कि अकेली लड़की को ही ऐसे खतरे क्यों हैं और किससे हैं? स्पष्टतः इन खतरों की जाति 'मर्द जात' है। लड़की के जीवन का नंगा सच है यह, जो मुझे अनुभूत हुआ है—

“कहते हैं, दुनिया में गिद्धों का ढेर है।

लड़की अकेली हो कैसे जिए? इससे

किसी एक गिद्ध का होना जरूरी है।

सच पूछो, शादी की ये ही मजबूरी है।”

खतरों का क्रिएशन करके स्त्री की कंट्रोलिंग करना—सब मर्दवादी घटनाएँ हैं। जब विज्ञान-प्रौद्योगिकी जैसी वस्तुनिष्ठ विधा मर्दानावाद का शिकार बन सकती है (देखिए अध्याय तीन में इज़ाडोरा का वक्तव्य) तो समाजशास्त्र, इतिहास आदि को इसका ग्रास बनते क्या देर लगेगी? तब जनसंख्या का विमर्श मर्दवादी अर्थशास्त्र-समाजशास्त्र से चालित होना क्या आश्चर्यकर है?

स्त्री की गरीबी विकराल और श्रम-शोषण का सवाल

वर्तमान अर्थशास्त्र में 'स्त्री की गरीबी' की कोई अलग से अवधारणा नहीं है। जब समाज में स्त्री को अलग व्यक्ति मानने की अवधारणा ही नहीं है और उसे पुरुष के व्यक्तित्व में विलीन कर देखने की सोच प्रचलित रही है—तब स्त्री भी धनी या गरीब हो सकती है, ऐसा सोचने की विशेष दृष्टि कहाँ से मौजूद रहेगी? पर, सच है कि स्त्रियाँ गरीब हैं और विकराल रूप से गरीब हैं। संसार की पूरी पूँजी का सिर्फ दो प्रतिशत स्त्रियों के पास है, बाकी पुरुष अपने कब्जे में लिए उसी के बल पर दुनिया को नचा रहे हैं—नचा रहे हैं खासकर स्त्री को। घरों में नचा रहे हैं, बाजारों में नचा रहे हैं, टीवी, सिनेमा के रुपहले पर्दे पर नचा रहे हैं और देह-मण्डियों में धकेलकर नचा रहे हैं।

जब स्त्री की देह ही उसके अधिकार में नहीं तो बाकी कुछ क्या होगा? स्त्री के पास जो कुछ होता है, वह उसका निजी (प्राइवेट) नहीं रह जाता। सब उसके मालिक बने मर्द (प्रायः पति) के कब्जे में चला जाता है। वह सदियों से उसका जन्मसिद्ध अधिकार (पैतृक सम्पदाधिकार) हड़प कर बैठा हुआ है ही, साथ में यदि मेहनत-मजदूरी, नौकरी आदि करके वह कुछ कमाती है तो वह भी उससे छीन ली जाती है। जिसे 'स्त्रीधन' कहा जाता है (यानी विवाह के समय बाप-माँ द्वारा लड़की को जो कुछ धन दिया जाता है) वह भी पति हड़प जाता है। अमूमन तो स्त्री को घर के घेरे में बाँधकर

कैरियर बनाने या नौकरी करने ही नहीं दिया जाता, पर उसके बाद भी जो निम्न वर्ग की महिलाएँ मजबूरी में नौकरी करती हैं, मजदूरी करती हैं, तो वह धन भी उनका अपना नहीं रह जाता। एक तो जनसंख्या-वृद्धि का साधन बनाकर उन्हें सब तरह के रोजगार से काट दिया जाता है। उस पर भी मजबूरी में वे रोजी के लिए निकलती हैं तो मर्दसत्ता का वासना-भार पेट में ढोती बड़ी परेशानी उठाती हैं। उस पर भी उसके काम के घंटे पुरुष से अधिक रखे जाते हैं तथा वेतन कम मिलता है। यह सरकारी तो नहीं, पर निजी उपक्रमों या असंगठित श्रम-क्षेत्र (खेती, मजदूरी आदि) में हो सकता है। जो भी वेतन स्त्री पाती है उसका उपयोग अपने लिए करने की जगह उसे उस परिवार के लिए करना पड़ता है, जो उस पर थोपा गया है। सब कुछ करते जनसंख्या बढ़ाने एवं पालने का भार, आर्थिक स्तर पर भी स्त्री को तब निभाना पड़ता है जब मर्द हाथ खींच ले। वह तो अपनी सन्तान को छोड़कर नहीं न भाग सकती। स्त्री की कमाई पर अधिकार जमाने का सिलसिला यहाँ तक है कि देह बेचने को बाध्य की गई स्त्रियाँ भी अपनी शर्त पर देह बेचने और पैसा अपने हाथ में रखने से भी वंचित हैं। उनकी कमाई कभी दलाल तो कभी परिवारवाले हड़प जाते हैं।

निजी संस्थान स्त्री को प्रसवाकाश देने के डर से नौकरी में रखने से तब तक इनकार करते रहते हैं, जब तक पुरुष कर्मी मौजूद हैं। छँटनी/प्रोन्नति आदि में सामाजिक दबाववश स्त्री की छँटनी सबसे पहले होती है और प्रोन्नति का अवसर भी छोड़कर उसे पति के लिए हटना पड़ता है। कारण बताया जाता है—बच्चों का पालन कौन करेगा यदि स्त्री प्रोन्नत होकर दूसरी जगह चली गई? इस तरह से जब भी पति से अलग जगह पर नौकरी करने का [यानी, स्थानान्तरण आदि का] सवाल आता है तो स्त्री को नौकरी छोड़ देनी पड़ती है। इस तरह, उसके लिए गरीबी का रास्ता प्रशस्त हो जाता है। 1954 ई. में तो पंजाब हाईकोर्ट ने तीर्थकौर-कृपालु सिंह मामले में यह निर्णय सुनाया था कि पति न चाहे तो स्त्री कहीं दूर नौकरी के लिए नहीं जा सकती। आश्चर्य है कि मानवाधिकार का रक्षक कोर्ट ऐसा 'फतवा' दे। फिर कोर्ट और तालिबान में अन्तर क्या रहा? रोज 15-16 घंटे प्रायः हर स्त्री जो गृहदासी बनकर श्रम करती है, उसकी भी कोई कीमत नहीं समझी जाती। कहीं भी श्रमिक में उसकी गिनती नहीं होती, न उसका कोई आर्थिक प्रतिफल उसे मिलता है। कारण—“वह तो सामान्य नारी-धर्म है, उसमें उसकी विशेष उपलब्धि क्या है?” ऐसा तर्क दिया जाता है। एक तो 'प्रजनन' का भार लेकर खुद उत्पादन एवं पूँजी-निर्माण में वह पिछड़कर घरेलू बनी रहने को बाध्य रहती ही है। उसके बाद भी बाहर निकलकर श्रम करनेवालों में स्त्री की संख्या कम नहीं है। 2001 की जनगणना से आर्थिक-सक्रिय श्रम में 31.62% स्त्रियाँ हिस्सेदार हैं (पुरुष 68.37%)। धार्मिक समुदायों में सर्वाधिक कामगार स्त्रियाँ बौद्ध, तब ईसाई में हैं, जो कुल स्त्री (+15) संख्या का क्रमशः 31.7 प्रतिशत एवं 28.7 प्रतिशत हैं। हिन्दू, सिख, मुस्लिम एवं जैन में यह प्रतिशत क्रमशः 27.5, 20.2, 14.1 एवं 9.2 है। यह बात स्पष्ट है कि स्त्री यदि ऐसी सक्रियता में कम संख्या में शामिल है

तो उसका सीधा कारण मातृत्व व गृहिणीत्व है। यह विषम आँकड़ा विकसित से विकसित देश में भी मिल जाएगा। UNDP की 'मानव विकास रिपोर्ट 2006' के अनुसार, कुछ देशों का आँकड़ा प्रस्तुत है—

देश	आर्थिक गतिविधियों में संलग्न स्त्रियाँ (उम्र 15+)	
	कुल स्त्रियों का प्रतिशत	पुरुष-संलग्नता के हिसाब से प्रतिशत
नार्वे	63.1	87
रूस	54.3	80
चीन	69.2	84
अमेरिका	59.6	81
कनाडा	60.2	83
जापान	48.5	65
आइसलैंड	70.9	87
वियतनाम	72.4	93
इजरायल	49.7	84
यू. के.	55	79
तंजानिया	86	95
इथियोपिया	70.9	79
मवाली	85.2	95
बर्मा	68.2	79
पाकिस्तान	32	38
नेपाल	49.7	63
सूडान	23.7	33
युगाण्डा	79.7	92
बांग्लादेश	52.9	61
नेपाल	49.7	63
श्रीलंका	35	45

इस तालिका से स्पष्ट हो रहा है कि हर देश में महिला की भागीदारी पुरुष से कम है—यानी, हर देश में 'मातृत्व' व 'घरेलूकरण' ने नारी को पिछड़ा बनाया है। पर, एक बात ध्यातव्य है कि किसी देश से किसी देश की स्त्री-भागीदारी अधिक है तो उसका एकमात्र अर्थ उसमें मातृत्व/घरेलूकरण की मजबूरी से स्त्री की अपेक्षाकृत मुक्ति नहीं है। यह भी सम्भव है कि पारिवारिक स्तर पर गरीबी का दबाव, पहले से ही मजबूर हुई स्त्री पर बाहर भी काम करके कुछ पैसा लाने पर मजबूर कर रहा है। यह तो स्त्रियों पर डबल प्रेशर की पीड़ा हुई। उसके बावजूद, स्त्री के गृह-बाह्य श्रमिक होने का महत्त्व

है क्योंकि उससे किसी हद तक नारी को व्यक्ति बनने का अवसर मिलता है (अफ्रीकी देशों से भी कम स्थिति है भारत में स्त्री के श्रमिक बनने की)। परन्तु 5-14 वर्षीया लड़की का श्रमिक बनना व्यक्तित्व विकास की राह पर नहीं माना जा सकता। जिस उम्र में ज्ञान का प्रकाश पाकर भावी जीवन के लिए ठोस तैयारी का अवसर है, उसमें पेट की राह पर डाल दी गई बच्ची! कितनी बड़ी त्रासदी है। फिर इतना ही कहाँ है? श्रम करने को घर से निकली बच्ची चौतरफा शोषण की शिकार बनती रहती है, जिसमें यौन शोषण अहम है। 2001 की जनगणना के अनुसार 5.1% बच्चियाँ (5-14 वर्षीया) बालश्रम को अभिशप्त।

स्त्री के कार्य का मुख्य क्षेत्र भारत में असंगठित श्रम-क्षेत्र है यानी खेती, पशुपालन, मजदूरी, फेरी, कुटीर उद्योग-धन्धे आदि। आँकड़ा है कि 96% स्त्री कामगार इसी क्षेत्र में हैं। इस में श्रम-कानून न होने से स्त्री को ज्यादा घंटे हाड़तोड़ परिश्रम करना पड़ता है, पर पैसा या इज्जत उस अनुपात में नहीं मिलती। 2006 की 'मानव विकास रिपोर्ट' के अनुसार भारत में पुरुष जहाँ औसतन 6/31 घं. मि. खटता है वहाँ नारी 7/37 घं. मि. खटती है। नारी का यह खटने वाला अनुपात (पुरुष को 100 मानक पर रखते हुए) 117 है। ग्रामीण क्षेत्रों में बांग्लादेश, ग्वाटेमाला, केनिया, नेपाल, फिलीपीन का यह अनुपात क्रमशः 110, 117, 135, 117 व 121 है। इसी तरह राष्ट्रीय अनुपात जर्मनी, दक्षिण अफ्रीका, बेनिन, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, जापान, मैक्सिको, कोरिया रिपब्लिक एवं यू. के. में क्रमशः 100, 122, 144, 108, 104, 108, 127, 116 व 100 है। यानी, बहुत सारे देश हैं जहाँ स्त्री का श्रम शोषण बहुत अधिक है। ऊपर से घरेलू काम-काज एवं मातृत्व तो होगा ही। कृषि-कार्य में पुरुष आदि कुल वांछित समय का 1/3 भाग योगदान करता है, तो नारी 2/3 भाग। फिर भी विडम्बना है कि नारी को कहीं 'कृषक' आज तक न कहा जा सका है। 'कृषक' का तात्पर्य पुरुष है।

असंगठित क्षेत्र में स्त्रियाँ पसन्द की जाती हैं, क्योंकि श्रम-शोषण करने पर भी वे संगठित होकर विद्रोह नहीं कर सकेंगी। कारण—शिक्षा की कमी और शिक्षा की कमी का कारण बहुत हद तक विवाह-व्यवस्था व मातृत्व है—हम पीछे देख चुके/चुकी हैं। स्त्री के 'अबला' होने का मिथक चलाकर भी वेतन कम दिया जाता है और कुछ वास्तविकता भी है कि कुपोषण, मातृत्व-बोझ आदि उसे अबला कर देते हैं। इसके साथ किसी कार्य के विविध अंगों में से प्रतिष्ठित या अधिक कुशलता या प्रतिष्ठा-वेतनवाला अंग स्त्री को नहीं दिया जाता। जैसे—मकान बनाने के क्रम में ईंटें ढोने का काम तो दिया जाता है; पर राजमिस्त्री का नहीं। कार्य-विभाजन में लिंग भेदी मानसिकता प्राचीन काल से ही काम कर रही है (जैसे घर औरत का, बाहर मर्द का, खाना पकाना औरत का; आदि)। वही मानसिकता आज भी नए-नए रूपों में मौजूद है। 'सेवा क्षेत्र' नामक नया क्षेत्र लगभग औरतों का क्षेत्र है—जो उनकी प्रतिभा/बुद्धि, श्रमशक्ति आदि से बढ़कर उनकी देहगत सुन्दरता (?) को भुनाने का क्षेत्र है, उन पर थोपे गए मातृत्व/करुणावती के मिथक को भुनाने का क्षेत्र है—नर्स, रिसेप्शनिस्ट, सेल्स गर्ल, एयर होस्टेस आदि क्षेत्र

ऐसे हैं। अधिक कुशलता वाले कार्यों के अयोग्य समझा जाता है स्त्री को। इसका एक पहलू और है कि अधिक कुशलता वाले कार्य सीखने का समय स्त्री को कम मिलता है, कारण वही—मातृत्व या गृहिणीत्व। अतः स्त्री को एकरस-उबाऊ कामों में ही ज्यादा लगाया जाता है। इन सब कारणों से भी स्त्री की स्थिति श्रमिकों में हीनतर रहती है। अर्थव्यवस्था के भूमंडलीकरण से बृहत् मशीनें पारम्परिक रोजगारों को तथा बड़ी कम्पनियाँ छोटे कामगारों/व्यवसायियों को बरबाद करने लगी हैं। इससे बढ़ रही बेकारी का सबसे तेजी से शिकार औरतें ही हुई हैं। कारण स्पष्ट है। पुरुष तो नए युग की परिस्थितियों, तकनीकी कुशलताओं आदि में ढलकर जल्दी ही नए रोजगार पा सकते हैं, पर घर और जनन के दो पाटों में पिस रही स्त्री को फुरसत कहाँ है कि वह योग्यता-विस्तार करे। फलतः नारियाँ आउट ऑफ डेट होकर तेजी से गरीब भी हुई हैं। सब मिलाकर स्त्री के आर्थिक रूप से पिछड़ने यानी गरीब होने का विकल्प ज्यादा खुला रहता है। गरीब रहने से परजीविता बढ़ती है और परजीविता से व्यक्तित्व-लोप होता है। यानी, अपनी देह पर अधिकार करने की प्रक्रिया में वह जरूर पिछड़ती है। इसका सीधा प्रभाव प्रजनन की मशीन भर बनकर रह जाने के रूप में होता है। फिर पैसा न होने से इलाज आदि भी न करा सकती हैं, अतः मौत ज्यादा सम्भव हो जाती है। दूसरी बात, गरीबी से जुड़ी स्त्री की भुखमरी भी विकराल है। सबके लिए भरण-पोषण करने (अन्नपूर्णा बनी रहने) को परम्परागत रूप से बाध्य की गई है स्त्री, पर स्वयं सदियों से भूखी या कुपोषित है तो एक बड़ा कारण गरीबी है। उस पर भी, उसे बच्चों को भी पालना पड़ता है। अकाल होने पर स्त्रियों की मौत अधिक होती है तो कारण गरीबी है और कारण है उन पर लादा गया बच्चों का भार। दोनों पितृसत्ता की देन हैं।

इस प्रकार, इस अध्याय में हमने विस्तार से देखा कि स्त्री को 'माँ' बनाने के पीछे की संरचना और आगे की सम्भावना की गहरी छानबीन करने पर स्त्री-दुर्दशा की लगभग पूरी तस्वीर उभर आती है। इसे छूने की कोशिश आमतौर पर की नहीं गई है। इस प्रसंग में श्याम बेनेगल की फ़िल्म 'हरी-भरी' का जिक्र करना आवश्यक लग रहा है। फ़िल्मकार ने जनसंख्या-समस्या को एक व्यापक सामाजिक-धार्मिक परिप्रेक्ष्य में देखा है तथा उसे स्त्री की बहुमुखी समस्याओं के साथ जोड़कर प्रस्तुत किया है। परिवार-नियोजन को स्त्री-स्वास्थ्य की जरूरत बतलाते हुए फ़िल्मकार ने उसकी बाधक धार्मिक-पितृसत्तावादी कट्टरता को भी चित्रित किया है। साथ ही, बालिका, प्रौढ़ा, वृद्धा, ब्याहता-अब्याहता आदि कई स्त्री-रूपों की कहानी प्रस्तुत कर स्त्री की शिक्षा और देह के प्रति उसकी समझ को बहुत जरूरी रूप में उपस्थित किया है। सब मिलाकर 'जनसंख्या के गम्भीर स्त्रीवादी पाठ' की दृष्टि से फ़िल्म से लोगों को सीखने की जरूरत है।

जनसंख्या-समस्या के समाधान का अर्थ पितृसत्ता का अवसान

जिस प्रकार जनसंख्या-समस्या का सम्यक् विमर्श स्त्री की सारी समस्याओं का पाठ बन

जाता है, उसी प्रकार इसके समाधान का अर्थ भी प्रायः समस्त स्त्री-समस्या का निराकरण हो जाता है। जनसंख्या का संकट समाहित करने का अर्थ है—स्त्री को अधिक सन्तानों का जनन करने की बाध्यता से मुक्त करना। इसके लिए आवश्यक होगा कि अपनी यौनिकता एवं प्रजनन-शक्ति पर स्त्री का अधिकार हो। साथ ही, जनसंख्या से जुड़े स्त्री के दैहिक एवं मानसिक कष्टों व क्षतियों से भी स्त्री को बचाना समाधान का अंग होगा। आरोपित वासना या पुत्र-मोह में बार-बार प्रसव या गर्भपात झेलने, प्रसव-पीड़ा, प्रसव-मौत, गर्भकालीन परेशानियों और प्रसवोपरांत हो रहे कष्टों की समाप्ति—उसका अर्थ है। इन सारे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए इनके कारणीभूत सामाजिक संरचना को उखाड़ फेंकना होगा—जो स्त्री को कुपोषित, दुर्बल, रुग्ण, घर में बन्दिनी, सुस्त, व्यायाम/खेल से वंचित, अशिक्षित, बैल जैसी खटाई से त्रस्त रखती, बालपन में या जबरन ब्याह करके उसे यौन-रोग युक्त, यौन-शोषण के रास्ते प्रजनन की गली में ठेल देती है तथा हर स्तर पर बेटे की अपेक्षा बेटी को हीन मानकर उसकी जीवनाकांक्षा की हत्या करती है। स्त्री का लिंगानुपात पुरुष के बराबर लाने के लिए समूची स्त्रीघाती संस्कृति का अन्त करना होगा। यानी, जनसंख्या-समस्या के समुचित समाधान हेतु जेंडर-जनित हर भेदभाव से स्त्री को निजात दिलाकर, बिल्कुल पुरुष के बराबर सुपोषित-सबल-स्वस्थ, समझदार-शिक्षित, कैरियर की सम्भावना से भरपूर, आर्थिक रूप से पुष्ट, अपने से जुड़े किसी सवाल (शादी, नौकरी, बच्चे या कुछ भी) पर आत्मनिर्णय की क्षमता से युक्त; भोक्तृत्व व कर्तृत्व में एकदम पुरुष के समतुल्य बनाना होगा स्त्री को। यानी, स्त्री की सारी पीड़ाओं, गुलामियों के मूल—‘पितृसत्तात्मक विवाह-परिवार एवं समाज व्यवस्था’ की बुनियाद मिटाकर; नवीन वैज्ञानिक-लोकतांत्रिक दृष्टि व समत्व के आदर्श पर उसकी पुनः रचना करनी होगी। नारी को जनाधिक्य मशीन बनने की बाध्यता से मुक्ति देना केवल नारीवादी मुद्दा नहीं है, बल्कि सामाजिक सन्तुलन व प्रगति का एक अनिवार्य अंग है, जिसके बिना विकास अधूरा ही नहीं, अवरुद्ध तक होते दिखा है।

अध्याय 6

यानी, प्रचलित पोथा : स्त्री की निगाह में थोथा

अब तक के विश्लेषण से लगभग स्पष्ट हो गया है कि प्रचलित जनसंख्या-विमर्श की मूलभूत कमियाँ या भटकाव क्या हैं? फिर भी उन्हें सार-रूप में इकट्ठा करना चाहें तो वे हैं—

1. समस्या-विश्लेषण सम्बन्धी—(क) समस्या मानने के आधार एवं (ख) समस्या के कारणों के विश्लेषण से सम्बन्धित।
2. समाधान-विचार सम्बन्धी—(क) समाधान के उद्देश्य एवं (ख) समाधान की पद्धति से सम्बन्धित।
3. समस्या-विमर्श का सीमित दायरा।

ये सब स्त्री-निरपेक्ष होकर प्रायः चलते रहे हैं और उससे भी आगे बढ़कर स्त्री-विरोधी भी बनते रहे हैं। अतएव, ये विषमताग्रस्त ही नहीं, अमानवीय भी बने रहे हैं। फिर, सत्य से भटकने के कारण अवैज्ञानिक भी हैं। कारण, जनसंख्या का प्रश्न सीधे-सीधे स्त्री की देह व मन (आत्मा) से जुड़ा हुआ है, जिसे इस विमर्श ने उपेक्षित कर रखा है।

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, अब तक के विमर्श में जनसंख्या इसलिए समस्या है, क्योंकि इसकी अधिकता का भार (पितृसत्तात्मक) अर्थ-व्यवस्था नहीं उठा सकती है, जिससे न सिर्फ विकास अवरुद्ध होता है, बल्कि तमाम तरह की परेशानियाँ खड़ी होती हैं। समग्रतः, जनसंख्या की अधिकता को 'विस्फोट' मानने के पीछे की सोच, हो रही खाद्य-समस्या, आवास-समस्या, ऊर्जा-संकट, स्वास्थ्य व शिक्षा की कमी, पर्यावरण-नाश, सामाजिक अशान्ति आदि से जुड़ी है। उसे समस्या इसलिए नहीं माना गया कि दुनिया की आधी आबादी (स्त्री) को 'अबलाकरण' व 'स्वास्थ्य-नाश' की ओर वह ठेलती रही है।

माँ बनने में सब कुछ गया—किन्तु सन्तान पर हक भी न भया

जनवृद्धि के परिणामस्वरूप स्त्री का अबलाकरण या व्यक्तित्व-नाश सर्वोपरि समस्या है, जिसके साथ स्वास्थ्य-हास (गर्भ व प्रसव सम्बन्धी कष्ट एवं मौत) भी बड़ी समस्या है।

स्त्री के अबलाकरण या जनवृद्धि का साधन बनने (यानी, बनाए जाने) को, 'माँ', 'गृहलक्ष्मी' (गृहिणी) जैसे शब्दों व अवधारणाओं से उसे विमूर्छित कर ठोस वैचारिक आधार, आज भी धार्मिक-सांस्कृतिक क्षेत्र से गीताप्रेसवादी या तालिबानी प्रवृत्तियाँ तो दे ही रही हैं—पत्रकारिता (खासकर स्त्री-पत्रिकाएँ गृहशोभा, वनिता, सखी, सहेली, मुक्ता, गृहलक्ष्मी, Femina, आदि), टीवी, रेडियो, फिल्में ही नहीं स्कूल-कॉलेजों के लिए बनीं पाठ्य-पुस्तकें भी उसमें खूब भागीदार हैं। सरकारें वैसी पुस्तकों-प्रवचनों, प्रचारों, विज्ञापनों आदि को स्त्री-द्वेषी अश्लीलता के नाम पर प्रतिबन्धित करने की जगह 'वोट बैंक' की राजनीति के तहत, स्त्री-मुक्ति की दिशा में जा रही विवेचनाओं (जैसे—तसलीमा नसरीन की किताबों) को ही प्रतिबन्धित करते पाई गई हैं। राजनीति का यह चरित्र सर्वत्र झाँक रहा है—चाहे वह दक्षिणपंथी हो या वामपंथी।

अब तक के जनसंख्या-विमर्श ने 'माँ' शब्द के पीछे के स्त्री-शोषण के इस सिलसिलेवार अध्याय को देखने की जरूरत न समझी है—

यौन-शोषण>(यौन-रोग व) गर्भ-भार से लदना>स्वास्थ्य डाँवाडोल होना तथा व्यक्तित्व निर्माण के क्षेत्र में पिछड़ना>प्रसव-यंत्रणा (कभी-कभी मौत भी)>प्रसव में देह ढलना>बाद में दीर्घकाल तक स्वास्थ्य-समस्याएँ>अगले 4-5 वर्ष (या कम से कम स्तनपान काल) तक शिशु के लालन-पालन में स्वयं को घुलाने को बाध्य बनकर, शिक्षा-कैरियर या सामाजिक अस्तित्व से वंचित हो जाना [इसके पीछे का कारण है—समय व स्वास्थ्य की कुर्बानी]।

उसके बाद स्त्री को मिलता क्या है?

जिस सन्तान के पीछे स्त्री अपना सब कुछ नष्ट कर देती है, उस पर भी उसका हक नहीं हो पाता। उसका अभिभावकत्व बाप छीन लेता है—प्रतीकात्मक रूप से ही नहीं, प्रत्यक्ष रूप से भी। अपने रक्त-मांस के टुकड़े (सन्तान) पर, उसके भविष्य-निर्माण पर माँ का कुछ भी नहीं चलता, बाप हर जगह छाया रहता है। बच्चे के स्कूल में प्रवेश का फॉर्म हो या परीक्षा का या नौकरी का एप्लिकेशन फॉर्म—हर जगह अभिभावक बाप ही होता है—सुप्रीम कोर्ट के निर्देश पर सरकार द्वारा निर्धारित कुछ संस्थानों को छोड़कर हर जगह बाप का एकच्छत्र राज्य है। सुप्रीम कोर्ट ने भी जो थोड़ी 'दया' (?) दिखलाई है, वह भी लम्बी लड़ाई के बाद। 'भारतीय पतिता उद्धार सभा' के संस्थापक खैराती राम भोला ने वेश्याओं के बच्चों को विद्यालयों में नामांकित कराने का कार्य शुरू किया तो स्कूलों ने बाप का नाम पूछा और उसके बिना एडमिशन लेने से साफ इनकार कर दिया था। तब, 23-1-1988 को श्री भोला ने सुप्रीम कोर्ट में याचिका दायर कर माँ को भी बाप की जगह अभिभावक मानने का आग्रह किया। पाँच वर्षों तक विचार करने के बाद 'सुप्रीम कोर्ट' ने 1993 ई. में आदेश दिया कि माँ का भी नाम कॉलमों में रखा जाए। इस प्रकार उसने माँ का भी बाप के समकक्ष अभिभावकत्व मान लिया। तथापि यह मान्यता आज तक हर जगह फलित न हो सकी है। व्यवहार की बात तो छोड़िए, सरकारी कागज-पत्रों तक में बहुत थोड़ा सा इसका

अनुकरण हो पाया है। माँ का नाम भी पूछने से, वह भी बाप के साथ (बिना उसके अधिकार पर आँच लाए), अधिकतर संस्थान परहेज करते हैं। तब बाप की जगह सिर्फ माँ को अभिभावक बनाने का समझदार कार्य भला वे कैसे कर पाएँगे अथवा माँ को मुख्य, बाप को गौण अभिभावक मानने का भी कार्य उनसे होगा कैसे? प्रत्यक्षतः बच्चा माँ की देह से जनमा है, अतः 'माँ' का है—बाप का पता तो माँ की गवाही पर निर्भर है (इसी से तो स्त्री को 'विवाह' की कोठरी में कैद कर उसकी गवाही-रूपी महत्ता या अधिकार भी छीन लिया गया।) अथवा महँगे DNA परीक्षणों का मोहताज है। वह भी अब जाकर, इतने हजार सालों तक कहाँ रहा ऐसा? प्रत्यक्ष की या स्थूल की भोंथरी बुद्धि से व्याख्या करके भी समाज के ठेकेदार अधिक से अधिक यही कहते कि “अमुक स्त्री का अमुक पुरुष से वह बच्चा है।” पर मूढ़ता की सारी हदें तोड़कर जब यह कहा जाता है कि “अमुक पुरुष का, अमुक स्त्री से वह बच्चा है” तो भाषा के इस प्रयोग पर हम हँसें कि सिर पीटें? क्या मर्द बच्चा पैदा कर सकता है कि बच्चा उस-‘का’ है? यह तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है कि सन्तान स्त्री की है। फिर परोक्ष-आधारभूत सत्य और सन्तानार्थ उठाए गए भार, आगे-पीछे की जिम्मेवारी आदि को देखें तो जीव वैज्ञानिक व समाजशास्त्रीय सच्चाई यही है कि बच्चे के अस्तित्व की 99.9% जिम्मेवारी माँ की है। फिर भी मान्यता इतनी उलटी है कि माँ का सन्तान पर हक प्रायः नगण्य कर दिया गया है—बाप का सम्पूर्ण।

प्रजनन का दर्शन मूढ़ : नारी-द्रोही संरचना बनाए गूढ़

इस विसंगति का मूलाधार, प्रजनन के लिए पुरुष व स्त्री की भूमिका को क्रमशः बीज व भूमि (खेत) के प्रतीकों में समझाने वाला सदियों पुराना दर्शन है—जो सन्तान की निर्मिति में स्त्री के योग को मुख्यता से हटाकर 'गौणता' (यानी 'का/की' की जगह 'से') तथा पुरुष के योग को 'गौणता' से उठाकर 'मुख्यता' प्रदान कर देता है। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' (6/4/2) ने साफ कहा है कि पुरुष का रस वीर्य है, जिसे स्थापित करने के लिए योग्य प्रतिष्ठाभूमि का निर्माण जरूरी समझकर विधाता ने स्त्री की सृष्टि की है। (यानी स्त्री पुरुष के बाद आई है।) फिर, प्रस्तरवत् कठोर शिश्न को उसने स्त्री की (योनि) की ओर प्रेरित किया है—“स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियं ससृजे...”। 'मनुस्मृति' (9/33) कहती है—‘क्षेत्रभूता स्मृता नारी’ (स्त्री खेत-रूप है)। 'नारद-स्मृति' ने भी कहा कि स्त्रियाँ सन्तानोत्पत्ति हेतु बनाई गईं, खेत जैसी हैं तथा पुरुष बीज का मालिक है। 'कुरान शरीफ' (सूरतुल बकरति, आयत 223) ने भी यही बात कही—“तुम्हारी बीवियाँ (गोया) तुम्हारी खेतियाँ हैं। अपनी खेती में जिस तरह चाहो जाओ।” 'बाइबिल' क्या कह सकती है, जब उसका आधारभूत दर्शन ही 'स्त्री को पुरुष की देह से एक पसली निकालकर बनाई गई' चीज जैसी मानता है? आप सोच सकते/सकती हैं।

समाजशास्त्री लीला दुबे ने 'लिंग भाव का मानववैज्ञानिक अन्वेषण : प्रतिच्छेदी क्षेत्र'

नामक पुस्तक में ढंग से बतलाया है कि 'बीज' व 'क्षेत्र' के इस दर्शन ने कैसे सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक आदि हर स्तर पर स्त्री को बेदखल किया है तथा जेंडर-भेद का मूल स्रोत रचकर स्त्री को पुरुष की तुलना में हीन और उसका गुलाम बनाया है। स्त्री जब खेत है, तो खेत का फसल (सन्तान) पर अधिकार भला क्या होगा? फसल तो उसकी होगी जिसने बीज बोया या जिसके अधिकार में खेत है। फिर फसल की गुणवत्ता बीज पर निर्भर है, इसलिए बच्चे के असाधारण गुण को, आसपास के (जातिवाले) पुरुषों में न पाने की स्थिति में किसी अज्ञात/दैवी पिता से सम्बद्ध किया जाता रहा है। इस दर्शन ने स्त्री को 'जड़' (खेत) समझाकर उसकी छीना-झपटी, बिक्री-खरीद, दान (कन्या-दान, पत्नी की अदला-बदली आदि) आदि की चीज भी बना दिया, क्योंकि वह मर्दों की सम्पत्ति है। फिर इसी दर्शन ने पुरुष को परमेश्वर तथा स्त्री को उसकी दासी बनाया। स्त्री खेत है तो स्थिर रहेगी, वह मर्द द्वारा ही संचालित की जा सकेगी। जड़ की अपनी कोई इच्छा नहीं होती; इसलिए स्त्री की कोई कामेच्छा भी नहीं हो सकती। इससे प्रजनन ही नहीं उसकी यौनिकता पर भी मर्द का झंडा गड़ जाता है। मर्द स्त्री का भोक्ता है—खेत में बीजारोपण का आनन्द किसान को ही तो होगा। फिर स्त्री खेत है, तो वह जोती, चीरी, खोदी-खादी जा सकती है, इसलिए पीड़ा उसकी नियति है। चाहे मर्द द्वारा थोपा गया पीड़क सम्भोग या यौन-हिंसा हो या प्रसव-पीड़ा (मौत) सब उसकी नियति हैं। 'बाइबिल' ने तो स्त्री को ज्ञानफल खाने के दंड-स्वरूप प्रसव-पीड़ा एवं मर्दों की दासी बने रहने का ईश्वरीय शाप दिखलाकर ऐसा नियतिवाद मजबूत किया ही है। बीज-खेत दर्शन ने फसल (सन्तान) न होने का दंड, बीजदाता (पुरुष) को (बीज-अभाव के सन्दर्भ में) न दिया, 'बल्कि खेत ही बंजर हो सकता है'—यह सोचकर उसे (स्त्री को) ही दिया। फिर ज्यादा सन्तानों के होने पर भी उसे ही दंडित कर रही है पुरुष की परिवार-नियोजन नीति। क्यों? क्या खेत अधिक उपजाऊ हो गई, इसलिए? इसमें जड़ खेत का क्या दोष? कुल मिलाकर इस दर्शन को भी पितृसत्ता ने मनमानी से चलाया है। पुरुष के पास 'बीज-अभाव' की स्थिति सोचकर उसे तो दंड न देना, पर उधारी बीज (नियोग) का सहारा लेकर काम चलाना! 'बीज से जन्मी सन्तान तो खेत के मालिक की है' मानकर बीज वाले पुरुष को दाम चुका देना। बस! एक तरफ 'बीज' की मुख्यता का दर्शन, दूसरी तरफ यह समाधान! पाखंड का कोई अन्त है क्या? सब मिलाकर 'बीज-खेत रूपक' ने समाज की असमान संरचना (स्त्री को जड़ बनाए रखने और पुरुष को हर तरह से सक्रिय रखने) को तार्किकता का जामा पहनाया है। लीला दुबे का यह कहना बिलकुल सत्य है।

प्रजनन का विज्ञान, कहता नर से नारी का बड़ा स्थान

यदि सन्तान को फसल तथा प्रजनन-क्रिया को खेती भी मानें, तो वैज्ञानिक व्याख्या यही कहेगी कि स्त्री के पास क्षेत्र (खेत) तो है—गर्भाशय; पर स्त्री केवल खेत नहीं है। पुरुष के पास तो यह खेत है ही नहीं। फिर जिसे बीज कहा जा रहा है—वह भी पूरी तरह

पुरुष का नहीं है। कम से कम उसका आधा तो स्त्री का है (वैसे वैज्ञानिक सच्चाई इससे भी अधिक है।) — ‘शुक्राणु+अंडाणु’ का मिलित रूप ‘बीज’ होता है। केवल ‘शुक्राणु’ को बीज नहीं कह सकते। फिर और गहराई से विचारें तो ‘शुक्राणु’ की हैसियत और भी डोलती नजर आती है। फिलहाल, प्रचलित प्रारम्भिक विज्ञान से ही चलें, तो भी पता चलेगा कि ‘बीज’ के अंश बनने वाले पुरुषकण (शुक्राणु) की हैसियत ही क्या है स्त्री-कण (अंडाणु या डिम्ब) के सामने? अंडाणु हर तरह से विशिष्ट है।

पुरुष की देह में पूरे वयस्क जीवन में शुक्राणु बनते रहते हैं, परन्तु स्त्री का जन्म अंडाणु की एक खास संख्या के साथ होता है। भ्रूणावस्था में 70 लाख, जन्म होने तक 10-20 लाख, किशोरावस्था में 4 लाख और वयस्क होने पर उससे भी कम अंडाणु उसके शरीर में रह जाते हैं। यौवन का उदय होने पर इन्हीं में से, प्रत्येक मासिक-चक्र के बीच में, एक या कभी-कभी अधिक डिम्ब परिपक्व होकर छूटते हैं और स्त्री की डिम्बवाहिनी नली (फैलेपियन ट्यूब) में आ विराजते हैं। जबकि एक बार के वीर्य-पात में करीब 50 करोड़ शुक्राणु निकलते हैं।

आकार के हिसाब से भी अंडाणु शुक्राणु से काफी बड़ा होता है। मानव-कोशिकाओं में सबसे छोटा होता है शुक्राणु (0.008 मिलीमीटर) तथा अंडाणु सबसे बड़ी (0.13 मीटर व्यास की) कोशिका होती है। यानी शुक्राणु सूक्ष्मदर्शी से दृश्य होता है, परन्तु अंडाणु खुली आँखों से भी एक बिन्दु की तरह दिखता है। आप समझ रहे होंगे/ रही होंगी कि केवल इतना होता, तो कोई खास बात न होती। बड़ी बात तो यह है कि शुक्राणु DNA से भरी एक थैली की ही तरह होता है; जबकि अंडाणु भ्रूण-विकास के लिए आवश्यक सभी संरचनात्मक घटकों से भरी एक सम्पूर्ण कोशिका होती है। इसका पुष्ट प्रमाण यह है कि कुछ जीवों में प्रजनन की ‘पार्थेनोजेनेसिस’ (अनिषेक-जनन) की रीति चलती है; जिसमें कोई बाहरी भौतिक रासायनिक प्रभाववश, उत्प्रेरित होकर अंडाणु ही ‘भ्रूण’ की तरह विकसित होने लगता है तथा सन्तान रूप में प्रतिफलित भी होता है। ‘दैनिक जागरण’ (पटना) 24-05-07 में खबर छपी कि ब्रिटेन के नेब्रास्का के हेनरी डार्ली चिड़ियाघर में एक मादा शार्क ने बिना नर से सम्पर्क किए एक बच्चे को जन्म दिया। अर्थात् शार्क जैसे बड़े जीवों में भी बिना मेटिंग के बच्चा पैदा करने की क्षमता है। मनुष्य में ऐसा करने में ठीक-ठीक सफलता तो नहीं मिल पाई है; पर ‘क्लोनिंग’ उसी जैसी एक तकनीक है। ‘जीव-क्लोनिंग’ उसका एक रूप है। इसमें किसी डिम्ब-कोशिका के केन्द्रक यानी न्यूक्लियस (जो अगुणित/हेप्लायड, यानी अकेले-अकेले 23 गुणसूत्रों वाला होता है) की जगह, दूसरी किसी कोशिका का केन्द्रक जो द्विगुणित/डिप्लॉयड हो यानी जिसके अन्तर्गत जोड़े में 23, यानी कुल 46 गुणसूत्र हों) प्रतिस्थापित किया जाता है। प्रतिस्थापन का यह कार्य, प्रयोगशाला में विद्युत-विसर्ग विधि का प्रयोग उन दोनों कोशिकाओं को साथ रखकर करने से सिद्ध होता है। डिम्ब कोशिका में नया यानी द्विगुणित केन्द्रक का आ जाना तथाकथित निषेचन की तरह महत्त्व रखता है। उस द्विगुणित अंडाणु को किसी स्त्री (माता) के गर्भाशय में आरोपित करने से, वह भ्रूण-सा

विकसित होकर निर्धारित अवधि बाद, सन्तान-रूप में फलित होता है। वह सन्तान द्विगुणित केन्द्रक दाता के लिंग की ही नहीं, बल्कि उसकी हमशक्ल भी होती है। यही विधि 'क्लोनिंग द्वारा प्रजनन' है। स्पष्टतः, प्राकृतिक विधि से प्रजनन में अंडाणु को जो शुक्राणु की जरूरत केन्द्रक के 'द्विगुणन' हेतु, होती है; क्लोनिंग में उसकी कोई भूमिका रह ही नहीं जाती। 'द्विगुणित केन्द्रक' स्त्री या पुरुष के शरीर की कोई भी कायिक कोशिका दे सकती है।

प्राकृतिक जनन में देखते हैं कि वीर्यपात से निकले करोड़ों शुक्राणु, फैलेपियन ट्यूब में विराजमान हुए एकमात्र 'अंडाणु' (डिम्ब) से जुड़ने के लिए एक हिंसक होड़ में भाग लेते तेजी से बढ़ते हैं—योनि से आगे की ओर। उनमें से किसी एक शुक्राणु को अंडाणु अपने में जगह देकर एडोप्ट कर लेता है। तब, जो संरचना बनती है, वह 'जायगोट' कहलाती है—सही में वही है 'बीज'। फिर, स्त्री की कोख (गर्भाशय) रूपी क्षेत्र में उसका आरोपण हो जाता है, फिर विकास होने लगता है भ्रूण-रूप में। इस प्रकार, सम्पूर्ण 'बीज' का अत्यल्प अंश पुरुष द्वारा प्रदत्त है—सिर्फ 23 गुणसूत्रों की थैली (शुक्राणु)। बीज का बहुलांश स्त्री देती हैं। जायगोट बनाने में लगे न सिर्फ बाकी 23 गुणसूत्र, बल्कि पूरे कोशिकीय द्रव्य ही उसी के होते हैं। इसके साथ क्षेत्र तो पूरा उसका अपना है ही। समग्रतः अंडाणु ही मुख्य हुआ। शुक्राणु तो उसको द्विगुणित या उर्वरित करनेवाला भर है। एक तरह से देखा जाए तो उत्प्रेरक जैसी (पुरुष-सहयोग बिना) ही कुछ उसकी स्थिति है। यद्यपि सर्वांश में यह शब्द नहीं लगता! अंडाणु के द्विगुणन या उर्वरण या लगभग उत्प्रेरण की क्रिया को ही मर्दवादी भाषा में निषेचन कहा गया है। (क्योंकि स्त्री को खेत मानने पर पुरुष द्वारा उनकी सिंचाई यानी निषेचन शब्द आना स्वाभाविक था)। द्विगुणित अंडाणु का नाम जायगोट है जिसे हमने बीज कहा तथा विकसनशील बीज का नाम भ्रूण है। सन्तानजनन की इस पूरी प्रक्रिया में पुरुष का योगदान दही जमाने के लिए बाहर से डाले गए 'जोड़न' से कुछ भी अधिक लगता है? फिर, क्लोनिंग ने तो इस 'जोड़न' के ऋण की भी जरूरत पर कुठाराघात कर दिया है। उसने यह सिद्ध कर दिया है कि सृष्टि चलती है स्त्री से। सृष्टि-चक्र चलाने हेतु स्त्री मात्र पर्याप्त है। (पुरुष सहयोग बिना) भले इस सृष्टि में स्त्रीलिंग प्राणी ही होंगे, पर सृष्टि तो चलेगी न! (कई प्राणी ऐसे भी तो हैं, जिनमें एक ही लिंग (=मादा) है यानी लिंग-भेद उनकी दुनिया में है ही नहीं।) परन्तु किसी विधि से जनन अंडाणु-कोशिका (या स्त्री-कोख) के बिना असंभव होने की प्राकृतिक व्यवस्था के कारण पुरुष अकेले हर तरह से असमर्थ है। खुद उसी का अस्तित्व स्त्री के बिना असंभव जो है। यदि पुरुष सिर्फ यह कोशिश कर ले कि दुनिया में एक हमीं रह जाएँ और सन्तानें भी बनाते रहें तो क्या होगा? 'भागवत पुराण' की कथा के अनुसार 'उसके न लड़का पैदा होगा, न लड़की' बल्कि एक ऐसा 'भूसल' पैदा होगा, जो उसके पूरे (यदु) वंश को कुचलकर नष्ट कर डालेगा। हो जाएगी मनुष्य की छुट्टी। ऐसा लाचार है पुरुष स्त्री के बिना! ऐसा लाचार है 'बीजदाता' का अहंकारी मर्द! समय-समय पर ऐसी खबर जैव-प्रौद्योगिकी की प्रयोगशालाओं से मिलती

रही है कि 'शुक्राणु को ठेंगा दिखाने की तैयारी' लगती है। 'दैनिक जागरण' (दिल्ली) में 15-9-07 ई. को खबर छपी कि 'न्यूकैसल यूनिवर्सिटी' (लंदन) के शोधार्थियों ने किसी महिला के 'बोन मैरो टीशू' से शुक्राणु (?) तैयार करने का दावा किया है। इससे गर्भाधान के लिए पुरुषों के शुक्राणु की जरूरत न पड़ेगी। एक अखबार में छपी अन्य खबर के अनुसार, ब्रिटेन के 'कार्डिक यूनिवर्सिटी' के 'वेल्स कॉलेज ऑफ मेडिसिन' के वैज्ञानिकों ने शुक्राणु में निहित एक एंजाइम 'PLC जेटा' (फास्फोलाइपेज सी जेटा) की पहचान कर ली है, जो अंडाणु के विभाजन में मददगार है। इस तरह बिना शुक्राणु के संयोजन के (केवल इस एंजाइम को उपलब्ध करके) 'डिम्ब' के उर्वरण एवं भ्रूण-रूप में उसके विकसित होने की सम्भावना को बल मिला है। सब मिलाकर, वैज्ञानिक खोजों की दिशा 'बीज-क्षेत्र रूपक' की धज्जियाँ तो उड़ा ही चुकी है, अब तो पुरुष-बीजांश की अत्यन्त सीमित रही भूमिका को भी नकार रही है।

मातृवंशी राह है प्रकृति की चाह

उक्त जीववैज्ञानिक विश्लेषण को थोड़ा और देखें। कथित निषेचन के दौरान अंडाणु का पूरा कोशिकीय द्रव्य (जिसमें माइटोकॉण्ड्रिया आदि कई अंग होते हैं) जायगोट बनाने में लगता है, इसलिए जायगोट का जो माइटोकॉण्ड्रिया होता है, वह स्त्री द्वारा प्रदत्त होता है। माइटोकॉण्ड्रिया कोशिका का ऊर्जा-उत्पादन गृह है। उसका अपना अलग, स्वतन्त्र DNA भी होता है। 'केन्द्रक' के DNA पर वह निर्भर नहीं है। जायगोट में जो केन्द्रीय DNA होता है, वह आधा शुक्राणु से, आधा अंडाणु से आता है। पर, माइटोकॉण्ड्रियाई DNA पूरा का पूरा स्त्री के अंडाणु से आया होता है। यानी, इस रूप में माँ से सन्तान में कुछ अतिरिक्त सूचनाएँ इस DNA के जरिए आती हैं, जो बाप से नहीं आतीं। एक दिलचस्प बात आपने और समझी ही होगी कि माइटोकॉण्ड्रियाई DNA सिर्फ मातृ-परम्परा से चलता है, यानी माँ से बेटी, फिर बेटी से नातिन में...। बेटे में भी माँ से आया वह DNA होता है, पर उसके जरिए वह आगे नहीं बढ़ता। उसकी सन्तानों में गया माइटोकॉण्ड्रियाई DNA उसका नहीं, उसकी मादा साथिन का होता है। वही क्यों, केन्द्रक के सिवा पूरा कोशिकीय द्रव्य ही मादा साथिन का होता है (और केन्द्रकीय DNA में तो आधा भागीदार उसकी मादा साथिन है ही)। पर, किसी माँ की बेटी में गया पूरा कोशिकीय द्रव्य व माइटोकॉण्ड्रियाई DNA उसकी सन्तानों में भी जाता है। उसके आगे बढ़ने का क्रम तभी रुकता है जब (माँ>बेटी>नातिन...की) इस वंश-परम्परा में कभी बेटी न हो। समग्रतः माँ से बेटी, फिर बेटी से नातिन...ऐसी वंशानुगति में प्रकृति ज्यादा भरोसेमन्द नजर आ रही है। तब इस सूचना के समाजशास्त्रीय विश्लेषण से बेटी द्वारा ही वंश चलने का समर्थन नहीं होता? प्रत्यक्षतः भी स्त्री द्वारा ही सन्तानोत्पत्ति की घटना घटती है।

यानी बेटी पैदा होने पर ही वंश चलेगा, अन्यथा टूट जाएगा। वैसे भी बेटे द्वारा वंश चलना एक सामाजिक अवधारणा अधिक है जीववैज्ञानिक कम या नहीं। अन्यथा

नियोगादि से वंश चलाया जाता। यदि वंश चलने का अर्थ माँ-बाप के घर जायदाद में रहकर उसका उत्तराधिकार पाना है तो यह तो बेटी भी कर सकती है—यदि करने दिया जाए। क्या इन सब आधारों पर मातृवंशीयता और मातृसत्ता की दिशा में प्राकृतिक इच्छा पुष्ट नहीं होती? सन्तान पर एकमात्र माँ के अभिभावकत्व का आधार नहीं बनता? परन्तु, इतिहास में अब तक ऐसी मातृसत्ता का कोई सम्पुष्ट प्रमाण अब तक न मिल सका है, हाँ कुछ मातृवंशी समुदाय जरूर हैं, जिनमें सन्तान माँ की मानी जाती है। यह स्त्री का दुर्भाग्य है कि व्यवस्था ने उसे एकमात्र या प्रधान अभिभावकत्व सौंपने की जगह उसे पुरुष के समान (यानी आधा) अभिभावकत्व भी न सौंपा। यह है 'माँ' बनने का पुरस्कार। घरेलूकरण के द्वारा अबलाकरण की शिकार बनो और बच्चों के फॉर्मों तक में तेरा नाम न जाएगा। समाज या स्कूल में तेरे बच्चों से तेरा नाम पूछा जाएगा, तो शरमाएँगे वे बताने में। ऊपर से तुम्हारे भी फॉर्मों में (यदि फॉर्मों की नौबत आ ही जाए तो) तुम्हारा गार्जियन बनकर पति ही बैठा रहेगा ('पति' का अर्थ रक्षक या मालिक है भी)।

चूक, कमी और भटकाव : सबका लगा स्त्री को घाव

अब तक के जनसंख्या-विमर्श ने जनवृद्धि को समस्या मानने के आधार में ही चूक न की; बल्कि 'समस्या है' तो उसका 'कारण क्या है?'—यह समझने में भी भूल की है। उसने जन्म दर बढ़ाने के तमाम घटकों में बाल-विवाह, अशिक्षा जैसे स्त्री में व्याप्त कारणों की भी चर्चा की; पर लड़की के बाल-विवाह या अशिक्षा के पीछे के कारणों को समझने की कोई गम्भीर कोशिश न की। एक वाक्य में कहें तो उसने बाहर व्याप्त कारणों पर तो खूब चर्चा की, लेकिन उन कारणों से भी गहरे कारण 'पितृसत्ता' को कहीं कठघरे में खड़ा न किया, जो उन बाहरी कारणों में से भी कई को सीधे-सीधे जन्म देती है। जैसे—कन्या का बाल-विवाह, पुत्र-मोह, स्त्री की अशिक्षा, आर्थिक मजबूरी आदि। 'पितृसत्ता' ही है जो हर लड़की को अन्ततः जनसंख्या-यन्त्र बनने पर मजबूर करती रही है—चाहे 'विवाह' का व्याप्त हथियार अपनाके करे अथवा विवाहेतर बलात्कार या वेश्यावृत्ति जैसे अपेक्षाकृत कुछ कम व्याप्त हथियारों से। फिर, उसी ने स्त्री को इसके लिए मानसिक रूप से तैयार रखने के लिए 'माँ' के मिथक चलाए, 'पुत्रवती' की महिमा बखानी, स्त्री के अबलाकरण के बड़े स्रोत 'गृहिणीत्व' को सर पर उठाए रखा तथा प्रजनन को नकारती स्त्रियों की निन्दा की। स्त्री को देह मात्र में बाँधे रखनेवाले शास्त्र, भाषा-तन्त्र, धर्म व समाज-तन्त्र पर उसने कभी सवाल खड़ा नहीं किया। जनवृद्धि के सबसे बड़े इस कारण 'स्त्री का इस हद तक अबलाकरण कि अपनी देह सम्बन्धी किसी निर्णय का भी अधिकार नहीं रखती', को वह न समझ सका, तो इस कारण के भी कारण पितृसत्ता को क्या खाक समझेगा? पितृसत्तात्मक विवाह व्यवस्था को क्या खाक विचारेगा?

प्रचलित जनसंख्या-विमर्श की यह भी सीमा है कि उसने कई जरूरी मुद्दों को


जनसंख्या-विचार का अंग माना ही नहीं। जैसे—वेश्यावृत्ति की संरचना और वेश्याओं की बढ़ती संख्या पर विचार न किया। उनके बच्चों की खबर न ली। वेश्यातन्त्र को बनाए रखनेवाले ‘विचार’ (‘स्त्री यौन-वस्तु है’) और संरचना तथा बच्चियों/स्त्रियों की ट्रेफिकिंग (तस्करी) को जनसंख्या-विमर्श में स्थान न दिया।

इसी तरह उसने लिंगानुपात को कुप्रभावित करनेवाली कन्या-विरोधी परम्परा को गहराई से नहीं समझा। इसी से सम्बन्धित प्रव्रजन की सम्यक् व्याख्या न कर पाया और उससे जुड़ी (अध्याय 5 में विवेचित) स्त्री-घाती तस्वीर को देख न देख पाया। विवाह-व्यवस्था स्त्री के विस्थापन का सबसे मूल स्रोत है—यह उसके लिए सूचनात्मक तथ्य सा ही बनकर रह गया। इस पर कोई मार्मिक विश्लेषण उससे न हो सका। इसी तरह, बाल-विवाह को स्त्री-विरोधी व्यापक सन्दर्भ में वह विवेचित न कर पाया है। स्त्री की अशिक्षा और गरीबी का समाजशास्त्रीय विश्लेषण उसने न किया, जो सीधे-सीधे उसके अबलाकरण, फिर जनवृद्धि से जुड़ते हैं। स्त्री-स्वास्थ्य को ‘व्यक्ति’-स्वास्थ्य के रूप में न देखकर, सिर्फ मातृत्व-स्वास्थ्य के रूप में देखना उसका बहुत बड़ा भटकाव है। इसी तरह स्त्री की तमाम अस्वस्थताओं में उसकी यौन-अतृप्ति की कहीं चर्चा न की। फिर स्त्री-रोगों का मूल समाज में है—यह भी न देखकर सिर्फ देह में ढूँढ़ते रहा।

इस विमर्श ने जनवृद्धि रोकने का अपना उद्देश्य भी मूलतः ‘अर्थ’ व ‘विकास’ केन्द्रित रखा है। इतने तक सिमटे रहना उसकी भटकी हुई नीति का सबूत है। उसने अपना मुख्य उद्देश्य आधी दुनिया (स्त्री) को ‘व्यक्तित्व’ व ‘स्वास्थ्य’ के नाश से बचाना यानी पूर्ण मानवाधिकार प्रदान करने की संवैधानिक प्रतिबद्धता को न रखा—यह बहुत बड़ी भ्रान्ति है। फिर, जब इतनी मूलभूत त्रुटियाँ पहले ही इकट्ठी कर ली गई हैं, तो समाधान का तरीका कितना स्वस्थ और पूर्ण हो सकता है। बहुत समय तक सरकारी महकमे व अर्थशास्त्र में भी यह जुमला चलता रहा कि ‘विकास सबसे अच्छा गर्भ निरोधक है।’ इसकी पोल खुली जाती है हरियाणा, पंजाब आदि में, जहाँ NFHS III के अनुसार जन्म दर प्रति स्त्री कोई कम नहीं है। 2.7 राष्ट्रीय औसत के समान ही है। वस्तुतः विकास से नहीं, स्त्री के विकास से जन्म दर गिरता है। यह ध्यान रखना चाहिए।

भारत सरकार ने 1945 तक जनसंख्या को स्थिर करने का लक्ष्य रखा जरूर, पर यह स्पष्ट नहीं है कितनी जनसंख्या सरकार पर्याप्त मानेगी और वहाँ से स्थिर करेगी? क्या अभी की जनसंख्या पर स्थिर कर देगी? क्यों नहीं आर्थिक दृष्टि से ही सोचकर **उसने** आज से आधी जनसंख्या करने की नीति अपनाई जिससे कुछ वर्षों तक स्त्री अधिकतम एक बच्चे तक जनमाकर बाकी समय सशक्त होने में लगाए? फिर स्थिर करने लायक जनसंख्या हो जाने पर प्रति स्त्री 2 बच्चों का अधिकार (बाध्यता नहीं) दे सकती है। चूँकि इस विमर्श ने जनवृद्धि का कारण पुरुष व पितृसत्तात्मक विचार में न खोजकर स्त्री की देह में खोजा, इसी से निराकरण का तरीका सबसे आसान जो उसने खोजा, वह है—स्त्री-देह (कोख) को शिकंजे में कस देना। यह तो वही बात हुई, मच्छरों के अंडों के उत्पत्ति-स्थान नालियों को नजरअन्दाज करो, पर मलेरिया/डेंगू के लिए

घर-घर में घुसकर कीटनाशक छिड़को या मनुष्यों का इलाज करो। विमर्शकारों को स्त्री-देह से जनमे बच्चे दिखे, पर उसके आधार में पितृसत्ता द्वारा उसके मन व देह को जकड़ा रखना न दिखा। यह न सोचा गया कि यदि शरीर व मन पर बाध्यता न थोपी जाए, तो मूढ़ से मूढ़ स्त्री भी बच्चे पैदा करने की जहमत में न पड़े। सूक्ष्म विचार की बात जाने दीजिए। प्रत्यक्ष भार व पीड़ा का विचार ही उसे वैसा न करने देगा। पर, इतना विचार हमारे विमर्शकार क्यों करेंगे? उन्होंने नारी को नियन्त्रित और नर को प्रेरित करने की नीति से काम लिया, जबकि नर को नियन्त्रित और नारी को सिर्फ प्रेरित करना—इस पूरी पितृसत्तात्मक संरचना में लोकतांत्रिक एवं वैज्ञानिक उपाय कहा जाता। इसके लिए सबसे व्यावहारिक उपाय स्त्री का सशक्तीकरण इस विमर्श में उपेक्षित तो नहीं है, पर ‘जब तक पितृसत्तात्मक संरचना (विवाह-व्यवस्था) रहेगी; तब तक स्त्री-सशक्तीकरण वास्तविक रूप में नहीं होगा’—यह न सोचा गया। सरकार ने पुत्र चाहने की मनोवृत्ति के पीछे के एक कारण वृद्धावस्था में देखभाल की चिन्ता को पहचान कर उसके लिए वृद्धावस्था में सुरक्षा आपूर्ति करने की सोची, पर इसके भी मूल कारण पितृस्थानीय विवाह व्यवस्था को न पकड़ पाया।

जन्म दर गिराने हेतु सरकार ने जन्मदर बढ़ाने वाले कारकों (कम उम्र में विवाह, अशिक्षा आदि) को रेखांकित कर उन्हें दूर करने की तरफ ध्यान तो दिया, पर उनके भी प्रधान स्रोत पितृसत्ता को दूर करना लक्ष्य न बनाया। उसने ‘जनसंख्या शिक्षा’ लागू करने की भी नीति अपनाई—पर, यौन-शिक्षा लागू किए बिना उसका उद्देश्य भी अधूरा रहेगा, क्योंकि स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की विषमता मिटाने में यौन-शिक्षा बहुत कारगर होगी। स्त्री को वासनापूर्ति का साधन, फिर जनसंख्या-वृद्धि की मशीन बनने से बचाकर, दैहिक ज्ञान द्वारा उसे सशक्त करेगी। देह के रहस्यों व  से परिचित होने पर ही उसका यौन स्वास्थ्य सही रहेगा तथा व्यक्तित्व के एक अंग यौन-व्यक्तित्व से भी वह सम्पन्न होगी। इसी से यौन-क्षेत्र में पुरुष द्वारा उसके दलन पर ब्रेक लगेगा। खुशी है कि सरकार इस दिशा में सोच रही है।

पुखों

सरकार ने परिवार-नियोजन के लिए नियोजन-चेतना का प्रसार भी लक्ष्य बनाया, पर जितना ध्यान परिवार-नियोजन उपकरणों एवं सेवाओं के प्रचार-प्रसार पर दिया, उतना इस पर नहीं। सब मिलाकर इसका अर्थ स्त्री-विरोधी होता है अधिक। इसका कारण स्पष्ट किया गया है कि अधिकतर वर्तमान प्रयोग स्त्री-देह के साथ अनावश्यक छेड़छाड़ वाले हैं। उनकी अब तक खोजी गई मात्रा ही नहीं, बल्कि आगे की खोज की दिशा भी स्त्री की कोख पर गिद्ध दृष्टि डाले हुई है। पुरुष की ‘प्रजनन-हेतु’ (जिससे वह व्यवहारतः अपनी कामशक्ति मानता रहा है) को लगाम में कसने पर ‘बहुत कम’ से भी कम सोचा गया है।

नारे व विज्ञापन भी उद्देश्य तथा पद्धति दोनों दृष्टियों से भटके हुए हैं। पुरुष के भीतर ही शुक्राणु-नाश करने या शुक्रक्षरण रोकनेवाली दवाएँ तो खोजी ही नहीं गई हैं; पर जो भी उपलब्ध साधन कंडोम या नसबन्दी हैं उनका प्रयोग-उदाहरण किसी बड़े क्या

मामूली स्टार से भी पेश नहीं करवाया जाता। उसकी तुलना में माला डी, सहेली आदि गोलियों को बड़े आकर्षक प्रचार का विषय बनाया जाता है। इस तरह के प्रचारों द्वारा स्त्री को प्रतीकात्मक रूप से बन्ध्या बना दिया जा रहा है। फिर नसबन्दी आदि से तो उसे वस्तुतः बन्ध्या बना दिया जा रहा है।

स्त्री पर ही निरोधक डाल देते यौन-वस्तु में ढाल, सामने है यौन-क्रांति का सवाल

स्त्री को बन्ध्या बना देने का व्यावहारिक अर्थ यही हो जाता है कि वह पुरुष के लिए एकमात्र मन-बहलाव या यौन-सुख की वस्तु के रूप में ढल गई। पुरुष यदि नसबन्दी द्वारा जनन-भूमिका-रहित किया जाता है तो प्रतीकात्मक व व्यावहारिक अर्थ में स्त्री को गर्भ लादकर उत्पीड़ित करनेवाली क्षमता से वह वंचित किया जाता है। बस। स्त्री की हीनता व वंचना वाली इस सामाजिक संरचना में कोई भी समृद्धि या आधुनिकता आती है, तो उसका व्यावहारिक असर स्त्री का उत्पीड़न होता है, बस। फिर, जो एकमात्र मर्दों के सुख का ख्याल कर किया जाए, उसका कितना बुरा असर स्त्री पर पड़ेगा। मस्तराम टाइप अधकचरी-अवास्तविक कामशास्त्रीय किताबों या वियाग्रा जैसी यौनोत्तेजक दवाओं का आविष्कार-क्रम जारी रहता है तो 'स्त्री' को लेकर पहले से भूखे मर्दवादी समाज को भेड़िया बनते कितनी देर लगती है? फिर, अब तो यौन-क्रांति की स्थिति घटित हो रही है। इन सबका प्रभाव आए दिन स्त्री/बच्ची पर बढ़ रही यौन-हिंसा के रूप में पड़ रहा है। मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि बलात्कार आधुनिक युग की देन है, बल्कि अहल्या, तारा आदि के रूप में घर-बाहर सर्वत्र इसकी शानदार सांस्कृतिक परम्परा रही है। हाँ, यौन-क्रांति ने बलात्कार-कर्म को लेकर पुरुष को अपराध भाव से कुछ मुक्त जरूर किया है आज। यह बुरा घटा है। मेरे कहने का यह भी मतलब नहीं कि यौन-क्रान्ति की जरूरत नहीं है। बिल्कुल जरूरत है। सेक्स को लेकर जमी कुंठा तथा स्त्री पर से भोग्यापन का लेबल इसी क्रान्ति से मिट सकता है। स्त्री को भोक्ता बनाने की सम्भावना भी इसी के जरिए जगी है। परन्तु, स्त्री को बिना सशक्त (शिक्षित, आत्मनिर्भर, जागरूक) किए ऐसी क्रान्ति चूँकि घटी है, इसलिए फिलहाल इसका असर स्त्री पर बहुत बुरा पड़ा है। विवाह के भीतर इससे स्त्री पुरुष की 'सेक्स प्रापर्टी' बन गई है (बन क्या गई है, पहले से ही थी, पर इजाफा जरूर हुआ) और विवाह के बाहर, वेश्या के पारम्परिक व उत्तर आधुनिक अनेक रूपों तक स्त्री पुरुष के लिए 'सेक्स आइटम' बन गई है। साथ ही, विवाहेतर सम्बन्धों में भी गर्भ-भय, बदनामी आदि के डर से पूरी तरह मुक्त होकर पुरुष मात्र किसी नारी को भोगने का अकुंठ-अबाध अधिकार पा बैठा है। 'एड्स' की विभीषिका के प्रसंग में यौन क्रिया-कंडोम आदि की चली खुलेआम चर्चा ने पुरुष को पाप-भय से पूरी तरह मुक्त कर दिया है। बस जरूरत है कंडोम की, जी-भर भोग लो औरत को। यह भी क्यों करना? कंडोम से मज़ा क्यों बिगाड़ना। स्त्री पर ही गोली या कॉपर टी, नसबन्दी आदि थोप लो और मज़े से भोगते

रहो उसे। इसलिए, पीछे कहा गया है कि इतिहास में पहली बार स्त्री एकमात्र 'सेक्स ऑब्जेक्ट' के रूप में ढल गई है। उसकी सारी पारम्परिक छवियाँ लुप्त हो गईं। बस रह गई है, पुरुष के यौन-तनाव का पीकदान। पहले कुछ सम्पन्न-समर्थ लोगों के लिए स्त्री ऐसी थी, अब एक आम पुरुष के लिए ऐसी बन गई है। दिल्ली के सरकारी स्कूल का मेरा अनुभव ऐसा ही है। शिक्षकों में बहुतेरे खाली समय का उपयोग स्त्री को ऐसे रूप में ही प्रस्तुत करते, कल्पना में उसका बलात्कार करते हुए करते हैं। यह विस्फोटक रोग कहीं भी हो सकता है। इसे सम्भव किया है यौन-क्रान्ति की गलत व्याख्या ने, जो फिल्मों-पत्रिकाओं-अखबारों-सौन्दर्य-प्रतियोगी विज्ञापनों आदि द्वारा स्त्री को उसी छवि में ढाल कर परोस रहे हैं, जो मस्तराम ने कभी परोसा था। स्त्री को बिना देह के उपयोग की आजादी सिखाए, उससे वह सब मजे नहीं लिए जा सकते थे, इसलिए पितृसत्तावादी बाजार (मनोरंजन, सौन्दर्य-फैशन उद्योग) के जरिए छद्म 'मुक्त स्त्री' की छवि गढ़ी गई है। स्त्री को देह के उपयोग की आजादी सिखाई जा रही है उसके लिए नहीं, पुरुष के लिए। 'मुक्त स्त्री' या 'स्त्री की देह मुक्ति' का एक ही अर्थ हो गया है—कपड़े उतार फेंकने को व्याकुल स्त्री (अपनी प्राकृतिक सुविधा या कामातुरता के लिए नहीं; पुरुष मात्र के लिए अपनी देह पर धावा बोलने हेतु निमन्त्रण के रूप में)। ऐसी स्त्री को सम्भव बनाकर कला जगत् (सिनेमा) उसे 'बोल्ड' (दबंग) का खिताब दे रहा है तथा 'ब्यूटी कांटेस्ट' उसे 'सांस्कृतिक नारी' सा सम्मान दे रहे हैं। उद्देश्य बस है—पुरुषों के लिए ऐसी मजेदार चीजों का अकाल न हो। लड़कियाँ बहकती रहीं, बहक रही हैं। लगता है 'बोल्डनेस' सिर्फ यही रह गया है। किरण बेदी, कल्पना चावला, बछेन्द्रीपाल, मेधा पाटकर, आंग सान सू की या नागपुर की भरी अदालत में बलात्कारी अक्कू यादव को सजा-ए-मौत देनेवाली हजारों महिलाएँ क्या बोल्ड नहीं हैं? ऐसा बोल्डनेस स्त्री में जगे ही नहीं, इसलिए तो बोल्डनेस की भटकी छवि गढ़ी गई है। इस बोल्डनेस से तो खतरा ही खतरा है मर्द को, पर वह बोल्डनेस तो उसके 'अन्दर के आराम का मामला है' (बकौल पुरुष अंडरवीयर का विज्ञापन)। उपाय क्या है? सम्पदा या रोजगार से चिरवंचित लड़कियाँ कैसे न बहकें? खासकर तब जब उनके लिए दिमाग दिखाने के सारे रास्ते सँकरे बनाकर देह दिखाने के रास्ते ही चौड़े दर चौड़े किए जा रहे हैं। इसलिए समझौता करते हुए लड़कियाँ, अपने पैर जमाने के लिए कहीं भी खड़ी हो रही हैं, तो वे घृणा की नहीं, सहानुभूति की पात्र हैं। घर की सीलन भरी तंग कोठरी में मर्दानी हवस और विकराल गरीबी, भुखमरी या घरेलू हिंसा झेलने की अपेक्षा क्या बेहतर नहीं है कि लड़की बाहर निकले, भले उसे 'बार डांसर' ही क्यों न बनना पड़े। पर इस विकल्प में उसे आगे बेहतर भूमिकाओं में उतरने की सम्भावनाएँ मिलती हैं, घर में तो न विकल्प है न सम्भावना। स्त्री पर थोपी गई देह-प्रदर्शन की लाचारी को, जब वह अपने पूर्ण व्यक्तित्व को बनाने का साधन भर बना लेगी तब तो ठीक है। उसे यह सब लक्ष्य नहीं बनाना चाहिए। जरूरत न यौन क्रान्ति रोकने की है, न लड़कियों के फिल्मों-विज्ञापनों आदि में जाने को बन्द करने की। जरूरत है स्त्री के सशक्तीकरण की। सशक्त स्त्री

हर क्षेत्र में बनाई गई स्त्री विरोधी संरचनाओं को बदल देगी। स्त्री के अबलापन ने ही उसे पहले पुरुषवर्ग की हवस या पुत्रेच्छा का बोझ ढोते-ढोते, उसकी किचन व डाइनिंग रूम तथा जच्चाघर भी बनाए रखा। अब, वही अबलापन (रोजगार या शिक्षा-जागृति से हीनता) उसे गर्भ-निरोध का बोझ ढोते-ढोते पुरुष वासना के लिए किचन व डाइनिंग रूम मात्र बना रहा है (गर्भपात के रूप में कभी-कभी स्त्री देह को कसाईघर भी बना रहा है)। हमें स्पष्ट होना चाहिए कि इन गर्भनिरोधकों की खोज स्त्री को गर्भ-भय से मुक्त करके उसे यौन सुख देने के लिए नहीं, बल्कि पुरुष की अनियन्त्रित-अमर्याद यौनेच्छा (यौन-क्षमता नहीं) की राह में रुकावट बन रहे खर-पतवारों (=बच्चों) का संकट टाले रखना इसका लक्ष्यीभूत है, क्योंकि उनका ज्यादा भार बेचारा प्रतिपालक (?) पुरुष कैसे उठा पाएगा? 'कंडोम' के विकास व प्रचार को भी इस दृष्टि से देखने की जरूरत है।

भटके हुए नारे सारे के सारे

परिवार-नियोजन से जुड़े तमाम नारों में जनन-दर-वृद्धि से स्त्री पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों या परिवार सीमित रखने हेतु बेटी की सीधे या भ्रूण हत्या कर देने की प्रवृत्ति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। न ही किसी नारे में 'बेटा-बेटी एक समान' की भावना का कोई स्थान है, न विधवा, वेश्या, अपहृता, सती/डायन या इज्जत हत्या की शिकार बनाई जा रही महिलाओं की तरफ ध्यान दिलाने का कोई प्रयास है। जितने भी नारे अब तक मेरे देखने में आए हैं, वे सब के सब जनसंख्या की बढ़ोतरी को सिर्फ अर्थव्यवस्था की समस्या मान के खड़े हुए हैं। किसी नारे में स्त्री को परम्परागत भूमिका ('माँ') से मुक्त कर देखने की कोई कोशिश न की गई है तथा न ही जनसंख्या-समस्या के समाधान को इस संवैधानिक प्रतिबद्धता से जोड़ा गया है कि स्त्री को भी पुरुष के बराबर जीने व विकसित होने का अधिकार है। न ही किसी नारे ने समस्या के समाधानार्थ सबसे उपयोगी तत्त्व स्त्री को उपलब्ध कराई जानेवाली अधिक 'स्वतन्त्रता' (निर्णय-क्षमता, प्रजनन-सम्बन्धी अधिकार) या स्त्री के बहुमुखी सशक्तीकरण को प्रस्तुत करने की कोई गम्भीर कोशिश की है। ऐसा क्यों हो, जब आम निगाह में जनसंख्या-समस्या स्त्री समस्या है ही नहीं। नारे तो 'विचार' की भाषा मात्र होते हैं। विचार ही भटका हुआ या कमजोर आधार पर टिका है तो नारे कितने सही व दमदार होंगे? समग्रतः, किसी नारे में 'जनसंख्या' को लेकर 'समस्या क्यों? कारण क्या? समाधान किस लक्ष्य के लिए? तथा उसका तरीका क्या है?'—इन चार महत्वपूर्ण पहलुओं में स्त्री-केन्द्रित होकर सोचा नहीं गया है। मैं अपनी ओर से कुछ नारे अगले अध्याय में प्रस्तुत करूँगा।

कार्यक्रम की दंडनीति बनाम स्त्री को दंडित करने की नीति

परिवार-नियोजन कार्यक्रम की सफलता के लिए 'दंड' या 'पुरस्कार' देने की नीति भी इसी अवधारणा पर टिकी है कि स्त्री ही जन्मदर की वृद्धि की जिम्मेदार है। यदि 'ही' की जगह

‘भी’ रखें, तो भी आपत्तिजनक है। सरकारी नीतियों में दो से अधिक बच्चे पैदा करने का दंड स्त्री को देना, वैसा ही है जैसे कि मालिक के हिंसक दबाव में गुलाम द्वारा किसी पर आघात करने का दंड गुलाम को देना और मालिक को बाइज्जत बरी रखना। पाँचवें वेतन-आयोग की सिफारिशों में इस बात का भी उल्लेख था कि दो से ज्यादा बच्चों पर स्त्री को प्रसव-अवकाश (मैटर्निटी लीव) न दिया जाए। इसी तरह, कन्या-भ्रूण हत्या रोकनेवाले कानून में गर्भपात करा रही स्त्री को भी दंडनीय बनाया गया है। सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से स्त्री देह व मन से पराधीन तथा माँ बनने या पुत्र जनमाने को बाध्य है और कन्या जनमाने पर लांछित। यही नहीं, इस स्थिति को स्थायी बनाए रखने का विचारधारात्मक या शास्त्रीय आधार भी विद्यमान है, जिसे सरकार भी हिला नहीं सकती क्योंकि कथित ‘धार्मिक स्वतन्त्रता’ का मसला है, लेकिन सबसे बड़ा मसला तो ‘वोट बैंक’ का है। स्त्री पर इसके बाद ‘माँ’ बनने और ‘बेटा’ पैदा करने यानी बेटी न जनमाने का हिंसक दबाव भी है। यह सब तथ्य बिना समझे ‘कानून’ बनाने के अनुशंसक हमारे अनुभवहीन विद्वत्पुरुष (‘नारी’ नहीं) रखते जाते हैं ऐसे उल-जलूल प्रावधान। कहाँ तो वे स्त्री पर अनिच्छित गर्भ थोपनेवाले मर्दों को धर-पकड़ने की नीति व तन्त्र विकसित करते, कहाँ ‘बलि के बकरे’ स्त्री को ही दंडित कर रहे हैं। इन्दिरा सरकार ने 1976 में ‘जबरिया नसबन्दी’ के तहत निर्दोष स्त्री को भी अकारण दंडित किया था, तो वही बात घटित हुई थी। ‘भारत : विकास की दिशाएँ’ और ‘आर्थिक विकास और स्वातन्त्र्य’ पुस्तकों में जिक्र किया है कि उच्च जननशीलता ग्रस्त उत्तरी राज्यों में अभी भी कहीं-कहीं दबाव-नीति से परिवार-नियोजन कार्यक्रम चल रहा है। यद्यपि घोषित तौर पर दबाव की नीति नहीं रहती, परन्तु ‘परिवार-नियोजन के लक्ष्य की पूर्ति के लिए अतिआग्रही प्रशासकों व चिकित्सा-कर्मियों द्वारा स्त्रियों पर इस तरह का दबाव बना दिया जाता है कि वस्तुस्थिति ‘जबरन नसबन्दी’ की हो जाती है। धौंस, डाँट-डपट, जुबानी धमकी अथवा ‘गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम’ का लाभ नसबन्दी की पूर्व शर्त के साथ रखने अथवा दो से ज्यादा बच्चों पर प्रसवावकाश न देने या कुछ विशेष चिकित्सा-सुविधाएँ नसबन्दी करा चुके जनों को ही देने अथवा दो से ज्यादा बच्चों पर पंचायत-चुनाव के अयोग्य घोषित करने के कुछ राज्यों के प्रावधान इस सन्दर्भ में ध्यातव्य हैं। इसका व्यावहारिक शिकार सर्वाधिक होती है नारी। उसी को हर तरह से बाध्य व वंचित होना पड़ता है। उसे ही नसबन्दी करानी पड़ती है। उत्तर भारत के अनेक क्षेत्रों में ‘बन्ध्याकरण लक्ष्य’ की समय-सीमा निकट आने पर गरीब वर्ग की महिलाओं को घेरकर बन्ध्याकरण शिविरों में लाने जैसी नृशंसतापूर्ण घटनाओं के समाचार भी यदा-कदा मिल जाते हैं। यदि सरकार उन्हें न घेरती है तो गरीबी ने उन्हें खुद घेर रखा है और उस पर भी पुरुष (वादी विचार) ने घेर रखा है, इससे नसबन्दी कराने वे आएँगी ही। आर्थिक या सामाजिक मजबूरी जो न कराए। राजस्थान में कुछ सालों पूर्व चले ‘अकाल राहत कार्यक्रम’ के दौरान मजदूरी पर उन्हीं औरतों को रखने का प्रावधान था जो बन्ध्याकरण करा चुकी थीं। फिर, ऑपरेशन के लिए नियत एजेन्सी द्वारा अधिकाधिक स्त्रियों को सहमत (? मजबूर) करनेवाले जिलाधीशों को रिमोट कण्ट्रोल वाले रंगीन टीवी

सैट का पुरस्कार देना तय हुआ था। वाह रे वाह! स्त्री-देह की सदियों से कंट्रोलिंग कर रही मर्द सत्ता को कंट्रोल करने की जगह, मजबूर औरत को ही और कसने वाले लोग रिमोट कंट्रोल वाला टीवी सैट इनाम पा रहे हैं। इनाम का लालच उनसे क्या कुछ न कराएगा? मर्द को छुट्टा रखने और औरत को ही कसते रहने की प्रवृत्ति का ही नतीजा है कि नसबन्दी में स्त्री की भागीदारी पुरुष से सैंतीस गुनी बन गई है। (स्रोत NFHS III) इसी प्रकार 6 मई, 2006 ई. के 'सहारा समय' की खबर के मुताबिक करनाल (हरियाणा) जिले में मादा भ्रूण-हत्या से जुड़ा समाचार देनेवाला व्यक्ति प्रशासन से दस हजार रुपये पुरस्कार पाएगा। पालन, सम्पदा-अधिकार या विवाह में किए जानेवाले खर्च को बचाने के लिए भ्रूणावस्था में ही बालिका को काट-कुतर कर फेंक देनेवाले इस समाज में इस सरकारी योजना का व्यावहारिक अर्थ यह होते क्या देर लगेगी कि पहले कन्या भ्रूण को मसल दो, फिर सरकार को खबर देकर इनाम भी पा लो। आम के आम गुठली के दाम।

आबादी-वृद्धि के लिए स्त्री को दोषी मानने का विचार इतना दृढ़बद्ध है कि चीन-सरकार जब 'तिब्बती नस्ल' को मिटा डालने की अमानुषिक मुहिम चलाती है, तो घरों में सेना घुसाकर तिब्बती नारियों की ही जबरिया नसबन्दी करवाती है। इसी तरह, हर साम्प्रदायिक दंगे में कोई एक समुदाय दूसरे को मिटाने के लिए प्रत्यक्ष नाश की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि इस मानसिकता से भी उस समुदाय की स्त्रियों को मार डालता है कि ये (स्त्रियाँ) ही इस समुदाय को पुनरुत्पादन द्वारा जिलाए हुई हैं। मार ही नहीं डालता, बल्कि उस समुदाय की स्त्रियों को हर प्रकार से अपमानित या सामूहिक बलात्कार, राक्षसी यौन हिंसा से गुजार कर मार डालता है। मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि स्त्री की यौन-हिंसा का एक यही—प्रतिशोध—कारण है। चाहे यह दंगा 1947 के दौरान मुस्लिम लीग समर्थित गुंडे करें अथवा लोकतन्त्र की अर्धशती मना चुके देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था के भीतर गुजरात के बजरंगी—हर का किस्सा स्त्रीघाती ही अधिक रहा है। दंगाई गुंडा-दल (कई बार स्त्रियाँ तक उसमें रही हैं) दूसरे समुदाय की स्त्रियों को तीन रूपों में पहचान कर, उन्हें हिंसा के नवीनतम व भीषणतम सारे पैमानों से गुजारते हैं, कुचलते हैं, उनका मांस नोच-नोचकर जशन मनाते हैं। ये तीन रूप हैं—(i) स्त्री का उस समुदाय का सदस्य होना (ii) स्त्री का उस समुदाय को बनाए रखने का साधन बनी रहना (iii) स्त्री का स्त्री होना। इन तीन कारणों से स्त्री को कुचलने वाले धर्मरक्षक या राष्ट्रवादी का खिताब पाते रहे हैं। 'राष्ट्रवाद' कहें या 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद'—वह है मूलतः स्त्री-विरोधी संघटना ही, इस दंगाई रूप में भी और राष्ट्रवाद हेतु वीर सेनानी पैदा करने हेतु स्त्री पर डाली गई प्रजनन की मंजबूरी के रूप में भी। मानव-युक्ति के पुरोधा मार्क्स की परम्परा में होने की बड़बोली बोलने वाली सरकार भी जब सिंगुर व नन्दीग्राम में आतंकवाद का सहारा लेकर जनधर्म को कुचलती है, तब उसका स्त्री के प्रति यौन-हिंसक चेहरा उसी प्रकार उजागर हो जाता है, जिस प्रकार फासीवादी ताकतों का कुत्सित चेहरा उजागर होता रहा है।

‘पालना-योजना’ किसे पालेगी?

इसी प्रकार 19-02-2007 ई. के ‘हिन्दुस्तान’ (दिल्ली) की खबर के अनुसार ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत केन्द्र सरकार ‘पालना-योजना’ पर अमल करने का विचार कर रही है। इसके अन्तर्गत सरकार हर जिला मुख्यालय में अवांछित कन्याओं के पालन के लिए केन्द्र खोलेगी। सरकार की अपील लोगों के लिए यही रहेगी कि ‘आप बेटी नहीं चाहते, तो हमें दे दीजिए। परन्तु उसे मारिए तो नहीं।’ वाह! सरकार का यह ‘मदर टेरेसावाद’ तो मर्दवादी समाज के समक्ष घुटने टेकने जैसा है। कन्या के प्रति घृणा करने के उसके ‘अपराध’ को ‘अधिकार’ मान लिया जा रहा है उसका। एक तरफ ‘घरेलू हिंसा कानून’ लागू करना, फिर ऊपर से ऐसा प्रस्ताव जिसे कन्या के प्रति भीषणतम घरेलू हिंसा को दंडनीय की जगह स्वीकार्य बना दिया जा रहा है। कैसी विसंगति है! प्रतिदिन बच्चियों का अपहरण हो रहा है—वे यौन-दलन के लिए खरीदी-बेची या कोठों तक पहुँचाई जाती हैं। उसे तो सरकारी प्रयास रोक नहीं पा रहे हैं अथवा सड़कों पर लावारिस बिलबिलाते भिखमंगे बच्चों का तो कोई इन्तजाम कर नहीं पा रही है सरकार। पर, सरकार चली है अवांछित मादा शिशुओं को पालने। सरकार क्या करेगी उन्हें पालकर? उन बच्चियों में बचपन से ही ‘अनचाही’ होने का अहसास भरा रहेगा कि मुझे त्याग दिया गया है। यह अहसास उन्हें समाज के प्रति विद्वेषी भी बना सकता है और मानसिक रूप से विकलांग बना सकता है। फिर, पालनगृह में बालिकाओं की सुरक्षा का क्या इन्तजाम होगा? क्या वहाँ इस बात की गारंटी रहेगी कि वे बच्चियाँ वहाँ से कोठों तक न पहुँचा दी जाएँगी अथवा पालनगृह ही अधिकारियों या प्रभावशालियों के यौन-आक्रमण का शिकार न बनता रहेगा? सरकार की ‘पालना-योजना’ का प्रतिफल किसे पालने के रूप में होगा—बच्चियों को या उनकी हत्यारी पितृसत्ता को?

एड्स पर सोच, स्त्री को रही नॉच

इस तरह जनसंख्या समस्या से जुड़ा पूरा विमर्श पितृसत्ता को बिना छुए चल रहा है। सिर्फ ऊपर-ऊपर तैर रही है सरकार। उसी तरह है, यह जिस तरह एड्स की समस्या को यौन सम्बन्ध के खुलेपन से जोड़कर देख रही है। स्त्री के यौन-दलन की सांस्कृतिक परम्परा (विवाह व वेश्यातन्त्र) की बिना पड़ताल किए सरकार एड्स का भटका विमर्श कर रही है। अक्सर प्रचार माध्यमों से ये नए मन्त्र सुनने को मिलते रहे हैं—“यौन सम्बन्ध एक से, बचिए एड्स से।” या “विवाह पूर्व यौन सम्बन्ध न बनाएँ” या “विवाहेतर सम्बन्ध न बनाएँ/साथी के प्रति वफादार रहें।”—इस भाषा/भाव के जपे जा रहे मन्त्रों को सुनकर लगता है कि हमारी सरकार ‘स्वास्थ्य’ के साथ कुछ और बचाना या बचाए रखना चाह रही है। स्पष्टतः भारत सरकार कथित महान आध्यात्मिक परम्परा अथवा ‘संस्कृति’ या ‘विवाह-संरचना’ को बनाए-बचाए रखने की गुहार लगा रही है। जो कि स्पष्टतः पुरुष तानाशाही वाली है। एड्स अगर एच.आई.वी. से फैलता है, तो

‘विवाह’ के पहले या बाद अथवा विवाह-अन्तर्गत या विवाहेतर किसी तरह से यौन-सम्बन्ध बनाएँ, क्या फर्क पड़ता है? पहले और दूसरे यौन-साथी (? हो सकता है यौन-आक्रान्ता भी हो) में से कोई भी HIV पॉजिटिव है तो दूसरे को होना ही है पॉजिटिव। और यदि कंडोम का इस्तेमाल मर्द-साथी करे तो एच.आई.वी. का फैलाव होने से बचा रहेगा। परन्तु, यह सही भाषा न बोलकर सरकार उक्त प्रकार की भाषा बोलकर क्या हमारे देश के लड़के-लड़कियों को यौन-नैतिकता का पाठ पढ़ा रही है? अवश्य! परन्तु यह नैतिकता नए विज्ञान व लोकतन्त्र की जगह पुराने धर्म व सामन्तवाद से साँठ-गाँठ करके खड़ी वही पुरानी सड़ी नैतिकता लगती है। जबरन लड़की को ‘ब्याह’ के कैदघर में डालकर, लड़कों को उस पर मर्दानगी (कौशल व ताकत से यौन-हिंसा करना) दिखलाने का पासपोर्ट दे देना अथवा लड़के-लड़की दोनों को बिना मर्जी पूछे एक कैदखाने (विवाह) में परस्पर देह-नोंची प्रक्रिया हेतु डाल देना—फिर, इस प्रकार बनी यौन-स्थिति (या गर्भ स्थिति) को सहज, प्राकृतिक, जायज मानकर चलना। वहीं, निज-निज रुचि/शौक या प्रेम की परिणति के रूप में घटित किसी जोड़े के यौन-सम्बन्ध [सम्भोग = सम्यक् भोग, बराबर भागीदारी भोग में हो, वह भोग] को एड्स फैलने का कारण बताना। ‘एड्स’ के हथियार से, लड़की की यौन-मुक्ति की उठी लहर [जो अपनी देह पर उसका अधिकार सुनिश्चित करती है—फिर इससे जनवृद्धि रोकने की भी भूमिका बनती है।] को कुचल डालना। एड्स लड़की को डराएगा; पुरुष की अन्ध-कामोन्माद-यात्रा जारी रहेगी (आँकड़े—चाहे वेश्यावृत्ति के हों या यौन हिंसा के—यही बताते हैं) और यात्रा से लौटकर मर्द विवाह में डाली गई अपनी बेकूसर पत्नी को एड्स-रूप में हर नई सुबह का तोहफा देता रहेगा। ‘एड्स’ तो बहाना है, जिससे सैकड़ों-हजारों सालों से चली आ रही स्त्री-विरोधी संस्था (विवाह) की उखड़ रही जड़ों का सेचन किया जा रहा है। पुरुष को मजबूर या भयभीत करके भले ‘यौन-सदाचारी’ बना लें, पर ‘विवाह’ में बँधने मात्र से स्त्री ‘सहर्ष’ यौन-सदाचारी बन जाती है। इस एड्स-विमर्श के पास यही स्वीकृति झलकती है। यदि यह सरकार इतनी ही नैतिक है तो एड्स-निरोध के साथ ‘स्त्री वेश्यातन्त्र’ (जिसमें बड़ी संख्या में अबोध बच्चियों को ठेल दिया जाना समस्या का सबसे क्रूर चेहरा है) के समूलोच्छेद के लिए कोई व्यवस्थित [धार्मिक-सांस्कृतिक-सामाजिक-आर्थिक स्तर पर] कार्यक्रम क्यों नहीं बनाती? कार्यक्रम की छोड़िए, एक टुटपुंजिया नारा तक नहीं सुनाई पड़ता। वहाँ तो सरकार का बस यही कहना है—‘बस, वेश्यालयों के पास पर्याप्त कंडोम उपलब्ध रहें। बस चिन्ता नहीं।’ एड्स के बहाने सरकार स्त्री के अधिकार (देह) को गुलाम ही बनाए रखना चाहती है। रघुवीर सहाय ने जो काफी पहले मान लिया था—सरकार 21वीं सदी में भी उसे मानने के मूड में नहीं दिखती—“मैं यह जोर देकर कहना चाहता हूँ कि स्त्री का शरीर उसकी अपनी सम्पत्ति है। वह इच्छा से कितनी बार कितने ही पुरुषों से संसर्ग करे, किसी को उसे पुरुष-वर्ग की साझा-सम्पत्ति मान लेने का हक नहीं मिल सकता...पुरुष के और स्त्री के अन्य राजनैतिक अधिकार समान रहते हैं, पर स्त्री की देह उसका देश है और यह अधिकार कि वह किस समय

किस पुरुष का रति-संसर्ग स्वीकार करेगी; उसका अनन्य राजनैतिक अधिकार है।”
 ('अर्थात्' से/रघुवीर सहाय) 'एड्स' की इस पूरी चर्चा का नारी पक्ष में इतना ही योगदान मान सकते हैं कि इसी के बहाने चल पड़ी सेक्स-चर्चा ने सेक्स-सम्बन्धों को सहज-क्रिया ठहराकर स्त्री के मन से कुण्ठा उड़ानी शुरू की है—यौन-हिंसा की शिकार बनी स्त्री इससे अब पहले जैसी सहम/घुटकर जीवन नहीं गलाती। सेक्स को टैबू (निषिद्ध) मानने के रोग से उसकी मुक्ति ने जीवन के बाकी क्षेत्रों में उसे सहज (उड़ान भरी) बना दिया है तथा सीमित मात्रा में ही सही, अब वह यौन-सुख भी ले रही है।

डर एड्स से, स्त्री से या स्वयं से?

सरकारी-असरकारी प्रयासों से एड्स के प्रति जागरूक हुए 'समाज' की दिशा क्या है—इसे समझने के लिए उड़ीसा का एक उदाहरण काफी होगा। 2007 में ही 'हिन्दुस्तान' की खबर के मुताबिक वहाँ के किसी स्थान पर एड्स के सन्देह में किसी विधवा स्त्री की हत्या कर दी गई? सवाल उठता है कि किस सोच ने यह क्रूर कर्म करवाया? सीधे-सीधे इसे अन्धविश्वास या अशिक्षा का ही नहीं, बल्कि उससे आगे बढ़कर पितृसत्ता का मामला कह सकते हैं/सकती हैं। अन्धविश्वास या अशिक्षा एड्स को खतरनाक रोग मानने में तो आड़े नहीं आता, पर 'उसका कारण स्त्री की देह में खोजकर उससे डरने की प्रवृत्ति' से मुक्त होने में आड़े आता है! यह कैसी बात हुई। विधवा स्त्री एड्स के सन्देह में मार डाली गई। किसे डर था उससे? स्पष्टतः मर्द-समुदाय को। क्या सोचकर डर था? वह एड्स-ग्रस्त स्त्री हम लोगों से यौन-सम्बन्ध बनाकर एड्स फैला देगी? या, स्त्री के मामले में असंयमी हम लोग ही अपनी भोग-यात्रा में उसे कभी भोग न डालें, जिससे एड्स न हो जाए तथा हम कुत्ते की मौत मरने पर विवश न हो जाएँ। सदियों से यौन-व्यक्तित्व हीन बनाई गई स्त्री एक तो वैसे ही मजबूर है, ऊपर से उसे 'विधवा' की अवधारणा से मजबूर किया गया। उस पर भी वह मर्दों को यौन-सम्बन्ध में घसीट ले जाती? उससे यदि कोई मर्द डर रहा है तो स्पष्ट है कि अपने आपसे डर रहा है—अपने भीतर विस्फोटक हुए 'हवसी' से डर रहा है, जो उसे मौत के मुँह में पहुँचा सकता है—इसलिए डर रहा है। अरे नालायको! अपने पर लगाम क्यों नहीं लगाते और उस बेचारी बनाई गई औरत को केवल सन्देह पर मृत्युदंड देते हो। यदि 'सन्देह' यथार्थ भी होता तो रोग होना कोई कानूनन अपराध है क्या? यदि है तो विधवा स्त्री को वैसा अपराधी तुम भाई लोगों में से ही किसी ने बनाया होगा। यह सोचा कभी तुम मूढ़ों ने? स्पष्टतः एड्स से भी महारोग है अत्यन्त संक्रामक पितृसत्ता। इसी पितृसत्ता महामारी ने जनसंख्या के कीटाणुओं से हर स्त्री की कोख को भरकर दुनिया को गटर में डाल दिया है।

सब मिलाकर, हमने देखा कि सरकारी, गैर-सरकारी या बुद्धिजीवी वर्ग में जनाधिक्य-समस्या का जो विचार-विमर्श चलते आया है वह प्राथमिक पक्ष (स्त्री के मानवाधिकार-हनन के प्रश्न) को पूरी तरह नजरअंदाज करके चला है। इसके साथ, उसने

द्वितीयक पक्ष (विकास, अर्थव्यवस्था या समाज के सन्तुलन के प्रश्न) को प्राथमिक ही नहीं, लगभग इकलौता पक्ष बना रखा है। यह नहीं सोचा गया कि यदि आधी दुनिया (स्त्री) को मानवाधिकार-हीन बनाने की दृष्टि से जनसंख्या की आलोचना न करके, सिर्फ विकास, अर्थव्यवस्था या समाज के सन्तुलन के प्रश्न को प्राथमिकता देते रहें, तो वह विकास, अर्थव्यवस्था या समाज रहेगा किसका? सिर्फ बाकी आधी दुनिया (मर्द) का ही न; जो पता नहीं कब से 'पूरी दुनिया' होने का दावा करते आ रहा है। इसलिए, अब तक चला यह विमर्श उस नारेवाद से भी ज्यादा विषम, अधूरा व अवैज्ञानिक है, जिसमें 'सामाजिक सद्भाव' के लिए जाने कब से यह देश चिल्ला रहा है—“हिन्दू-मुस्लिम-सिख-ईसाई/सब आपस में भाई-भाई।” नारी को छोड़कर चला यह नारा सिर्फ 50 प्रतिशत सामाजिक समता की वकालत कर रहा है (गारण्टी तो खैर एक प्रतिशत की भी न दे रहा है)। यह कभी सोचने की जरूरत न समझी गई कि “हिन्दू-मुस्लिम-सिख-ईसाई/सब आपस में बहना-भाई” जैसा भी कोई विकल्प हो सकता था।

उपचार का यन्त्र—स्त्री केन्द्रित ढाँचे का लोकतन्त्र

प्रचलित जनसंख्या-विमर्श का स्त्री-दृष्टि से पर्यवेक्षण करते हम जहाँ तक आ पहुँचे/पहुँची हैं, उसे देखकर किसी को अनायास यह आपत्ति हो सकती है कि 'यह तो छिद्रान्वेषण है।' पर मेरा विनम्र निवेदन है कि ऐसा नहीं है। इतना मैं मानता हूँ कि दुनिया में सत्य के शोध व बोध के लिए सदियों से जमी एकतरफा दृष्टि (पुरुष दृष्टि) के समानान्तर शेष आधी दुनिया (स्त्री) की दृष्टि से भी हर कुछ देखना होगा—फिर दोनों दृष्टियों की समाहार-दृष्टि से उपलब्ध सत्य ही पहले की तुलना में अधिक पूर्ण और मानवीय होगा; 'सम्पूर्ण' का तो कभी दावा ही नहीं किया जा सकता। इसी सोच के तहत जनसंख्या जैसी मूलभूत समस्या को समझने की कोशिश की गई है। यदि किसी को इसकी भाषा तटस्थ न्यायाधीश की जगह वकील की लग रही है, तो भी मुझे यह स्वीकारने में आपत्ति नहीं है कि हजारों-हजार साल से जमी स्त्री विरोधी जड़ताओं को हिलाने के लिए आज स्त्री को न्यायाधीश से पहले वकील की जरूरत है, क्योंकि न्यायाधीश तक पहुँचने का रास्ता वकालत से ही जा सकता है। अस्तु।

स्त्री-दृष्टि की थामे डोर, चलें जनसंख्या-नियोजन की ओर

पिछले अध्यायों में हम जनसंख्या-विचार करते हुए, स्त्री-विरोधी तमाम व्यवस्थाओं, प्रवृत्तियों, कार्यक्रमों तथा वैचारिकी की जाने-अजानाने बधिया उधेड़ने से गुजरते रहे हैं। कारण यही है कि 'जनसंख्या-समस्या' पितृसत्ता-जनित तमाम स्त्री-समस्याओं से अन्तर्निबद्ध मूलतः स्त्री-समस्या है। इसलिए, इसके समाधान की दिशा स्त्री-सशक्तीकरण के रास्ते 'पितृसत्ता' के (वैचारिक व व्यवस्थागत रूपों के) अवसान की ओर होगी अथवा 'पितृसत्ता' के अवसान के रास्ते स्त्री के सशक्तीकरण की ओर होगी। यानी, 'पितृसत्ता का अवसान' या 'स्त्री का सशक्तीकरण' दोनों में से किसी एक पर काम शुरू कीजिए, तो दूसरा स्वतः आएगा—पर, बेहतर है कि दोनों पर एक साथ काम चले, यानी दोनों दिशाओं में काम चले; ताकि सार्थकता जल्दी सिद्ध हो। यही मूल एजेंडा हो सकता है यदि हमने जनसंख्या-समस्या को दूर करने का तथा समाज को सुखी-सन्तुलित बनाने का निश्चय कर लिया है। इसी एजेंडे के अन्तर्गत अल्पकालिक या तत्काल प्रभावी एवं दीर्घकालिक उपाय आ सकते हैं।

जनसंख्या-समस्या के हल करने का अर्थ सिर्फ जनसंख्या कमा देना नहीं है। तब तो, सारी लड़कियों का अन्त करके भी जनसंख्या कमा दी जा सकती है। जनसंख्या-समस्या को हल करके उसे नियोजित करने का अर्थ यह है कि प्रकृति जिस 'अनुपात' में दोनों जातियों (स्त्री व पुरुष) को लाती है, उसमें बिना कोई हस्तक्षेप किए, केवल उनकी 'सम्मिलित संख्या' को (परिवार/समाज), नियोजन का लक्ष्य बनाकर, अपने समाज की स्त्रियों के पुरुषवत् सम्पूर्ण मानवाधिकार सुनिश्चित करने की सीमा तक ही 'जनसंख्या' को पुनरुत्पादित होने देना। इसके साथ, भौतिक संसाधनों की दृष्टि से वहनीय (भार उठाने लायक) जनसंख्या-मात्र को पुनरुत्पादित होने देना जनसंख्या-नियोजन की सहायक दृष्टि रहेगी। परन्तु, इस प्रसंग में एक बात सतत ध्यातव्य है कि जनसंख्या को क्षेत्रीय या राष्ट्रीय अथवा मनुष्यकृत किसी संकीर्णता के स्तर पर न विचार कर, 'वैश्विक पर्यावरण' या विश्व-समाज पर ही विचारना होगा। अन्यथा, विनाशकारी असन्तुलन ही नहीं आएगा, बल्कि अमानवीय प्रवृत्तियों (खासकर स्त्री-विरोधी प्रवृत्तियों) को बढ़ावा मिलेगा। उदाहरणस्वरूप, यदि हिन्दू या मुस्लिम अथवा किसी नस्ल को लगता है कि हमारे यहाँ जनसंख्या कम है, तो वे दोनों अपने-अपने समुदाय की स्त्रियों को प्रजनन-दर बढ़ाने पर बाध्य/प्रेरित कर सकते हैं। इसी तरह रूस या अमेरिका या किसी कम जनसंख्या वाले देश को लगे कि हमारे यहाँ उचित श्रमशक्ति नहीं होने से जनवृद्धि जरूरी है तो यह उस-उस देश की स्त्री की विरोधी सोच होगी। यदि श्रमशक्ति की कमी है, तो अधिक आबादी वाले देश से जनसंख्या-आयात भी किया जा सकता है (पर लिंगानुपात सही रखते हुए।) इसी तरह, 'लिंगानुपात' को सही करने की नीति भी छोटी सीमा को सोचकर खड़ी नहीं होनी चाहिए। यदि सिर्फ क्षेत्रीय स्तर पर सही है राष्ट्रीय स्तर पर नहीं या कहीं राष्ट्रीय स्तर पर सही है, पर वैश्विक स्तर पर नहीं, तो स्त्री के अपहरण, क्रय-विक्रय जैसी अमानवीय प्रवृत्तियाँ पैदा होंगी (इसी प्रकार, स्त्री संख्या की अधिकता में पुरुष के साथ भी ज्यादाती हो सकती है, पर तभी जब पितृसत्ता न हो। वर्तमान स्थिति के रहते तो ज्यादा संभव यही है कि स्त्री संख्या की अधिकता में पुरुषों द्वारा विवाह या किसी बहाने बहुस्त्री-भोगवाद की प्रवृत्तियाँ ही काम करेंगी। अतीत काल से चले आये पुरुषों के बहुविवाह (इस्लामी और मनुवादी परम्परा में) को अथवा सामन्ती हरम/रखैलवाद को इसी सन्दर्भ में देखा जा सकता है।) इसी प्रकार लिंगानुपात विश्व स्तर पर सही है, राष्ट्रों के या प्रान्तों के स्तर पर नहीं, तो भी ये समस्याएँ आएँगी। स्त्री-पुरुष की जनसंख्या का वितरण, हर राष्ट्रीय या अन्तरराष्ट्रीय कार्यक्रम या नीति में समान रखना 'लिंगानुपात' को सही रखने के अन्तर्गत ही विधेय कर्म है।

इसी सन्दर्भ में जनसंख्या के स्थिरीकरण का मतलब होगा—विश्व के स्तर पर 'आम सहमति' से एक निश्चित 'वहनीय सीमा' (स्थिरांक बिन्दु) तक जनसंख्या को घटाना (इसलिए, क्योंकि जनसंख्या अभी विकराल है) और फिर आगे प्रति स्त्री को अधिकतम दो बच्चों तक की प्रसूति के लिए छूट दिए रहना (न कि बाध्यता।)। जब तक [विश्वभर के स्त्री-पुरुषों के प्रतिनिधित्व से बनी] आम सहमति के अन्तर्गत तय 'स्थिरांक बिन्दु'

तक जनसंख्या न पहुँच गई हो, तब तक प्रति स्त्री अधिकतम एक बच्चे तक की छूट दी जा सकती है। जन्म दर गिराने के लिए निःसन्तान रहनेवाली स्त्रियों की भी जरूरत पड़ेगी—यह कार्य प्रोत्साहन द्वारा सम्भव है।

वैश्विक स्तर पर हुई 'आम सहमति' का पालन हर देश अपने स्तर पर करेगा। पर यदि ऐसी आम सहमति न हो पा रही हो और कोई देश जनसंख्या-नीति बना रहा हो, तब वह अपनी समझ से एक विश्वस्तरीय 'स्थिरांक बिन्दु' सोच के, नीति बनाए। बेहतर होता 'संयुक्त राष्ट्र संघ' एक विश्व सरकार की तरह प्रभावशाली ढंग से कार्य करता। वही 'पृथ्वी सम्मेलन' जैसा कुछ आयोजित कर 'स्थिरांक बिन्दु' तय करता—'जनसंख्या-नीति' का एक मोटा-मोटी प्रारूप तय करता तथा राष्ट्रों को उसे अपने संस्करण में ढालकर लागू करने को कहता तथा समय-समय पर प्रगति की समीक्षा कर कर्तव्य निश्चित करते जाता। जब तक ऐसा न हो तब तक कोई राष्ट्र अपनी-अपनी बुद्धिमानी से ऐसा कोई वैश्विक प्रारूप सोचकर अपने को उसका, अंगीभूत मानकर, आचरण करते जाए। यद्यपि इसमें व्यावहारिक स्तर पर कठिनाइयाँ कम नहीं आएँगी—पर, बिना ऐसा शुरु किए उपाय क्या है?

जनसंख्या-नियोजन के इस अर्थ को समझकर ही भारत को अपनी जनसंख्या नीति में आमूल-चूल बदलाव लाना होगा। 'पितृसत्ता-अवसान' व 'नारी सशक्तीकरण' नामक कार्यक्रम की परिधि में उसे जनसंख्या नीति का पुनर्गठन करना होगा। 'नारी सशक्तीकरण' पर आगे भी प्रकाश डालेंगे पर यहाँ संक्षेप में इतना कह देना आवश्यक है कि पुरुष के समान संख्या, गुणवत्ता व ताकत में स्त्री का होना ही नारी-सशक्तीकरण है—जिसका अगला प्राप्य है कर्म-त्याग व भोग में पुरुष जैसी समर्थ हुई स्त्री की रचना। ऐसा होना केवल जनसंख्या नियोजन की दृष्टि से नहीं, बल्कि स्त्री-पुरुष के सन्तुलित समाज की रचना की दृष्टि से भी आवश्यक है। फिर, यह कौन कह सकता है कि दूसरी दृष्टि जनसंख्या-नियोजन की अंग नहीं है? नारी की बृहत्तर सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक भूमिका सुनिश्चित किए बिना किसी भी जनसंख्या नीति की सफलता सदा सन्दिग्ध बनी रहेगी। यह सतत ध्यातव्य है कि नारी का सशक्तीकरण सिर्फ नारी-हितों का मामला नहीं है, बल्कि यह किसी भी देश की विकास-प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है।

प्रस्तावित जनसंख्या नीति की उपर्युक्त व्यापक परिधि के अन्तर्गत, भारतीय जनसंख्या-नीति में अल्पकालीन/तत्काल प्रभावी एवं दीर्घकालीन दोनों प्रकार के जो कार्यक्रम बनाए गए हैं, उनमें से अधिकतर बने रहने चाहिए; पर वे पितृसत्तात्मक विचारधारा का यदि किसी प्रकार संरक्षण करने लगें, तो उन्हें हटाना या सुधारना भी जारी रहना चाहिए। फिर जो कमियाँ हैं, उन्हें दूर करना चाहिए। जैसे—परिवार-नियोजन कार्यक्रम में हिस्सा लेना ऐच्छिक रखा गया है, उसे पुरुष के लिए अनिवार्य तथा स्त्री के लिए ऐच्छिक करना होगा। कारण—वही पितृसत्ता का अवसान और स्त्री का सशक्तीकरण लक्ष्यीभूत है। इस विषय पर आगे विस्तार से स्पष्टीकरण दिया जाएगा। पर, इतना सदा तय है कि सशक्त स्त्री ही पुरुष की असंयत हवस को झेलने से इनकार

कर सकती है तथा स्वयं भी जनसंख्या बढ़ाने की इच्छा नहीं रख सकती। तात्कालिक उपाय में सरकार ने परिवार-नियोजन व गर्भपात सेवाओं के अधिकाधिक प्रचार को रखा है; पर स्त्री-हित में गर्भपात को परिवार-नियोजन का एक तरीका मानने की जगह उसे स्त्री की देह-स्वतन्त्रता के एक अंग के रूप में मानना होगा। दीर्घकालीन प्रभावी उपायों के अन्तर्गत सरकार ने जनसंख्या-शिक्षा, विवाह-उम्र में वृद्धि, बाल-मृत्युदर में निरन्तर कमी (ताकि लोग जननाधिक्य की इस सोच से मुक्त हों कि “कहीं एक-दो चिराग गुल न हो जाएँ, अतः ढेर सारे जलाकर रखो”), बाल-मजदूरी पर रोक (ताकि मजदूरी कराने हेतु लोग जनसंख्या न बढ़ाएँ), अनिवार्य प्रौढ़ शिक्षा/निःशुल्क बालिका-शिक्षा, लघु परिवार पर मातृत्व सुविधा में वृद्धि, वृद्धावस्था में सुरक्षा-आपूर्ति (ताकि देखभाल की चिन्ता में बेटा चाहने की मनोवृत्ति जनसंख्या वृद्धि न करवाए), जीवन-बीमा में नवीनता, लघु परिवारवालों को प्रोत्साहन, गाँव में लघु उद्योग (ताकि शहर तरफ प्रव्रजन न बढ़े और लिंगानुपात न गड़बड़ाए। साथ ही, आर्थिक व्यवस्था से, अधिक बच्चे जनमा कर उनसे श्रम करवाने की प्रवृत्ति गिरे।), स्त्री के लिए स्वास्थ्य सुविधाएँ, स्त्री-रोजगार की बढ़ोतरी (ताकि स्त्री सशक्त होकर आत्मनिर्णय की क्षमता पाए।) आदि का लक्ष्य रखकर कार्यक्रम चलाये हैं। ये सब सरकारी कार्यक्रम चलते रहने चाहिए। परन्तु, केवल जनसंख्या शिक्षा से काम न चलेगा। उसके साथ यौन-शिक्षा भी लगानी होगी ताकि समाज में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध स्वस्थ हो। तभी स्त्री यौन-दलन/यौन-रोग से मुक्त होकर, स्वस्थ सबल बनने की दिशा में बढ़ेगी। स्वास्थ्य हेतु यौन-जीवन तृप्तिकर होना जरूरी है—कुंठित नहीं। यौन-स्वास्थ्य सम्पूर्ण स्वास्थ्य का एक जरूरी अंग है। यौन-शिक्षा द्वारा स्त्री अपनी देह के रहस्यों व सुखों को समझकर यौन-स्वास्थ्य को उपलब्ध होगी। यौन-शिक्षा से ही पुरुष की काम-कुण्ठा व हवसीपन मिटेगा। समाज से पुत्र मोहान्धता हटाने के लिए सरकार को पितृस्थानीय विवाह-व्यवस्था में रचनात्मक सुधार लाने की पहल करनी होगी (आगे इस पर विस्तृत चर्चा होगी)। इसके अलावा कन्या को हीन ठहराने वाली हर परम्परा व प्रथा को उखाड़ना होगा। स्त्री को सशक्त करने के रास्ते की शुरुआत उसकी देह से होती है, इसलिए उसकी देह-स्वतन्त्रता सुनिश्चित करने की व्यापक पहल करनी होगी। इसके ही अंग के तहत परिवार-नियोजन विधि (नसबन्दी, गोली आदि) को उसकी देह से हटाकर पुरुष की देह पर अनिवार्यता से (नसबन्दी) लगानी होगी (स्पष्टीकरण आगे किया जाएगा इसका)। फिर, ऐसी कोई नीति न होनी चाहिए जो स्त्री को बच्चे पैदा करने पर मजबूर करे। यह उसकी अपनी दैहिक स्वतंत्रता का मामला है।

कन्याओं का घात रोकेंगे ये हाथ

कन्या-वध या कन्या भ्रूण-हत्या की प्रवृत्ति के खात्मे के लिए मूल उपाय ‘पितृसत्ता’ का अन्त है—स्त्री का सशक्तीकरण है। पर इस परिधि में अल्पकालीन व दीर्घकालीन उपाय कुछ न कुछ तो लगाने ही होंगे। इसलिए दंडात्मक व प्रोत्साहनपरक कार्यक्रम भी चलाने

होंगे। कन्या-वध/मादा-भ्रूण-हत्या का निषेधक कानून और कड़ा करने तथा उसे लागू करनेवाली मशीनरी को चुस्त-दुरुस्त करने की सख्त जरूरत है। जो कारण 'पितृसत्तात्मक मन' को कन्या भ्रूण/शिशु मारने पर विवश करते हैं (यद्यपि वे कारण नहीं, स्त्री विरोधी मन का पाखंड है), उन्हें मिटाना होगा। जैसे—दहेज प्रथा, भड़कीली शादियाँ, बारात-प्रणाली, लड़की को पराई बनानेवाली विवाह प्रथा—इन सबका अन्त करना होगा। लड़की को पराया धन या बोझ बतानेवाले तथा पुत्र की महिमा बतानेवाले शास्त्रों एवं विचारों को प्रतिबन्धित करना होगा। इसके अलावा धर्म-भीरू (धर्म-पालन में ढिलाई करने पर पाप मानकर डरने वाले) समाज में धार्मिक संगठनों का भी सहारा लेकर 'कन्या' को 'पुत्र' के बराबर दर्जा न देनेवालों को पापी करार देना ठीक रहेगा। यदि ऐसा व्यक्ति किसी धार्मिक समुदाय या संगठन का सदस्य है तो उस समुदाय/संगठन से उसके बहिष्कार का फतवा जारी करवाया जा सकता है (जैसे—'अकाल तख्त' ने कन्या भ्रूण हन्ता व्यक्ति को सिख पन्थ से निकाल बाहर करने का फतवा जारी किया है)। पर, इस तात्कालिक उपाय का सहारा लेते समय सावधान भी रहना होगा कि 'धर्म-संगठन' कहीं 'लोकतन्त्र' की जगह न ले लें। इसका उपाय है—धर्मों में लोकतन्त्र की स्थापना। तब उनका फतवा लोकतांत्रिक दंडनीति की भाषा में होगा, पर 'विश्वास' जैसी अमूर्त शक्ति का काम करेगा। पर, यह पूरा उपाय तभी तक प्रासंगिक है, जब तक लोग धर्म-भीरू हैं। धर्म-विश्वास मुक्त एवं तर्कयुक्त जनों के लिए यह सब नहीं है। इसके साथ, भ्रूण-लिंग-परीक्षक एवं कन्याहन्ता डॉक्टरों को कड़ाई से पकड़ना होगा। उनकी डिग्री रद्द करके, कारावास की सजा देनी होगी। वे कसाई यदि लगाम में आ जाएँ तो भ्रूण-हत्या लगभग रुक जाएगी। पर, इसकी भी एक समझदार प्रणाली अपनानी होगी। अल्ट्रासाउंड, एम्नियोसिंटेसिस आदि तमाम मशीनें बनानेवाली कम्पनियों का ही नहीं, उनकी बनी, एक-एक मशीन तथा उसके खरीदनेवाले को सरकारी रिकार्ड में पंजीकृत किए रखना होगा। फिर, फिलहाल कितनी व कौन-कौन सी मशीनें काम कर रही हैं, उन सबका रिकॉर्ड होगा। गर्भावस्था के 12-20 सप्ताह के दौरान कराए जा रहे हर अल्ट्रासाउंड आदि पर सरकार की न सिर्फ विशेष निगाह होगी, वरन् उसकी पूरी रिपोर्ट सार्वजनिक करवानी होगी। फिर जिन महिलाओं के, पहले से ही एक या अधिक लड़कियाँ हैं, उन्हें 'सन्दिग्ध' मानकर उनका रिकॉर्ड रखना होगा। उनके साथ किसी तरह का ऊँच-नीच करवाए जाने या उनके द्वारा ही स्वयं कन्या भ्रूण घात करवाए जाने पर तभी लगाम लगाई जा सकेगी। इसके साथ, कन्या-शिशु को मारनेवालों को भी पकड़ना होगा। भ्रूण व शिशु दोनों के हत्यारों या हत्या प्रयास के मुजरिमों से प्राप्त जुर्मानों को सरकार रचनात्मक दिशा में लगा सकती है—स्त्री व पुरुष को लिंगभेद निवारक शिक्षा देने में। कन्या के पालन में ढिलाई करने, कन्या को लावारिस छोड़ने या उसे मार डालने पर कठोर दंड तो दिया जाएगा ही; पर लावारिस पाई गई बच्चियों या अतिशय उपेक्षिता को 'पालना-योजना' में लेना पड़ेगा ही। कोई अन्य उपाय नहीं। वे बच्चियाँ पाल पोस, पढ़ा-लिखाकर आत्मनिर्भर बनाई जाएँगी। सभी कन्याओं की क्षमता में विविध

सशक्तीकरण योजनाओं से, सरकार को विश्वास का माहौल बनाना होगा। तब समाज लड़की को हीन न मानेगा। इन सबके अलावा, सरकारी शिक्षा व्यवस्था, मीडिया आदि संस्थाएँ लिंग-विभेदी विचारधारा के उन्मूलन का सतत प्रयास करती रहेंगी। सरकार प्रयासरत लोगों को पुरस्कृत करेगी आदि। इस प्रकार कुछ सोचा-किया जाए तो कन्या-हंत्री प्रवृत्ति बहुत जल्दी उखड़ने लगेगी।

देह बेचने की मजबूरी : अब तो उखड़े पूरी

वेश्यावृत्ति की स्त्रियाँ बाड़े में डाली गईं उन मुर्गियों की तरह हैं जो ग्राहक के लिए रोज अंडे देने पर मजबूर हैं, पर अंडों का दाम उनके दलाल हड़प जाते हैं। स्त्री के सशक्तीकरण की दिशा में उन्हें 'सिर्फ देह बेचने की मजबूरी' में डाल देनेवाले इस वेश्यातन्त्र के खात्मे का बहुत व्यापक, सुनियोजित आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यक्रम बनाना होगा। उसमें से सर्वप्रथम वेश्या बनाई गई कमसिन लड़कियों को और वेश्याओं के बच्चों को बाहर निकालने और स्कूलों में दाखिला देकर (हो सके तो तात्कालिक आरक्षण नीति का प्रयोग कर) आत्मनिर्भर बनाना चाहिए। बाकी बचीं प्रौढ़ा व वृद्धा वेश्याओं को भी वोकेशनल ट्रेनिंग देकर सम्मानजनक रोजगार, घर व पुनर्वास दिलाना होगा—प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम उनमें भी लागू करना होगा। जिन्हें उनका परिवार वापस लेना चाहेगा, उन्हें परिवार में भेज देना होगा। पर, सरकार को अपनी तरफ से किसी वेश्या को विवाह-बन्धन में बाँधने का प्रयास नहीं करना चाहिए—अन्यथा ताड़ पर से गिरकर खजूर पर अँटकने वाली बात होगी। बस सुधार कार्य करते रहना चाहिए। फिर जब तक यह सब करना जारी हो, तब तक वेश्यालयों में ही शिक्षक, डॉक्टर, समाजसेवी आदि भेजे जाते रहें ताकि सुधार-कार्य कभी ठप्प न पड़े। तब तक उनकी रोजी के लिए वहीं कोई काम दिया जाए या अनुदान दिया जाए। उनको मजबूर करनेवाले और फिर तस्करी/अपहरण करके वेश्यालय में नई लड़कियों को फँसाने—डालनेवाले दलालों के तन्त्र को, ग्राहक बनकर जानेवाले नालायकों को पकड़कर कारावास दिया जाए, अर्थ-दंड लगाया जाए। फिर, हर ऐसे साहित्य या प्रचार पर प्रतिबन्ध लगाया जाए जो स्त्री को मर्द की भोग्या के रूप में या वेश्या बनाई गई स्त्री को ग्लैमरस ढंग से चित्रित करता हो अथवा मर्द की यौन-भूख को उत्तेजित करता हो। वेश्याओं की 'देह-मुक्ति' व 'व्यक्तित्व-प्राप्ति' के लिए यह सब करना होगा। 'देह बेचने की बाध्यता' को मिटाना इसके लिए निहायत जरूरी है ही। पर, प्रश्न उठता है कि 'देह बेचने की बाध्यता' से मुक्ति का अर्थ 'देह बेचने की स्वतन्त्रता' पर लगाम कसना भी है? इस पर तो यही कहा जा सकता है कि 'देह बेचकर' धन्धा करना स्तरीय रोजगार भले न हो, पर प्रतिबन्धित करने लायक भी नहीं माना जा सकता। यदि 'देह बेचने की स्वतन्त्रता' पुरुष-स्त्री दोनों के पास होती तो 'स्त्री-वेश्यातन्त्र' पनपता ही नहीं। देह बेचना समस्या नहीं है, समस्या है 'वेश्यावृत्ति' की बाध्यता—चाहे वह प्रत्यक्ष हो या 'विवाह संस्था' जैसी परोक्ष। जब पुरुष-स्त्री दोनों स्वेच्छा से समान मात्रा में देह बेच रहे हैं तो सारा समीकरण बदल

जाएगा—दोनों एक-दूसरे के समान रूप से ग्राहक और भोग्य हैं। तब जो कुछ घटित होगा—उसे ही सेक्स-सर्विस कहा जा सकता है तथा दोनों को उस स्थिति में सेक्स-वर्कर। अभी तो स्त्री यौन-दलित है, न कि सेक्स-वर्कर। सेक्स-वर्कर होना तब उतना ही अच्छा-बुरा रहेगा, जितना मॉडलिंग आदि करते स्त्री-पुरुष की वृत्ति। फिर भी कानूनी स्तर पर कुछ भी पहल करनी है तो स्त्री-पुरुष दोनों पर एक ही तरह की नीति लगानी होगी। पर हाँ, वेश्यावृत्ति का अब तक चला आ रहा रूप जरूर मिटाना होगा क्योंकि वह स्त्री के चौतरफा शोषण की जगह है।

स्त्री की देह है उसका अपना गेह; प्रयोग को स्वतन्त्र उसमें तनिक नहीं सन्देह

स्त्री की देह-स्वतन्त्रता का अर्थ है, वह अपने शरीर की पूरी सम्भावना (श्रमशक्ति, यौन शक्ति, जननशक्ति आदि) का उपयोग करने या न करने को स्वतन्त्र है। देह से जुड़े उसके आनन्दोत्सव का उसका अधिकार है। कोई दूसरा उसे छीन नहीं सकता। बहुत से लोग कहेंगे (मुझसे कहा भी है—स्त्री-पुरुष दोनों शामिल हैं उनमें) कि स्त्री को यदि स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए तो वह भावी कष्टों का ख्याल कर 'माँ' बनना कभी न चाहेगी [जैसे कि जापान की लड़कियों में यह चाह लगातार घटती जा रही है]। तो, सृष्टि-क्रम का क्या होगा? इस पर मेरा कहना है कि सबसे पहले उन लोगों को 'धन्यवाद', जो ऐसा कहकर मेरे ही मत का समर्थन कर रहे हैं कि 'माँ' बनना स्त्री की प्राकृतिक इच्छा का परिणाम नहीं, बल्कि अधिक से अधिक शुद्धता में कहा जाए तो (पितृसत्तात्मक) संस्कृति-विशेष द्वारा पैदा किए गए नैतिक व धार्मिक तथा सामाजिक-आर्थिक दबाव का परिणाम है। यदि शुद्धता न हो तो (और यही स्थिति अधिक है), माँ बनना 'वैवाहिक बलात्कार+स्त्री की लतखोरी प्रवृत्ति' का परिणाम है। 'सृष्टिक्रम का क्या होगा?' इस पर मैंने कहा कि जो लोग (पुरुष या स्त्री-रूप पुरुष) स्त्री पर मातृत्व थोप रहे हैं, वे क्या 'सृष्टि'-चक्र के सम्यक् संचालन की शुद्ध विराट् प्रेरणा से चालित होकर ऐसा सोच रहे हैं? ('मातृत्व' भी क्या थोप रहे हैं? थोप तो रहे हैं पुरुष की हवस। 'मातृत्व' तो 'बाइप्रोडक्ट' है)। तब तो भई! बहना! मानना होगा कि बड़े मेधावी हैं लोग। जब इतने मेधावी हैं तो, तांत्रिक-ज्योतिषी की झोली भरने, कुंडली मिलाकर ब्याह करने, गणेश-मूर्ति को दूध पिलाने या मस्जिद-गिरजा-मन्दिर के रुख पर सारे प्रत्यक्ष निर्णय तक करने, यहाँ तक कि जानलेवा रोग होने पर भी गुरु या इमाम से झड़वाने-फुँकवाने अथवा जीन्स के भीतर भी जनेऊ धरे रहने में क्यों दिलचस्पी लेते रहे हैं? इतनी विराट् बुद्धि है तो पर्यावरण-विरोधी कर्मकांडों व कार्यक्रमों (प्रदूषणों) को जारी रखने या मनुष्य (स्वयं) को छोड़कर सारे सजीवों को मिटाने पर क्यों तुले हुए हैं? वाह रे वाह! जहाँ स्वार्थ साधना हो प्रकृति को ताक पर रखो और जहाँ स्वार्थ बाधित हुआ कि फौरन प्रकृति की दुहाई देने लगे। कपड़े पहनना, मसालेदार पका खाना खाना, विमान पर उड़ना अथवा सेक्स के आसन/टेकनीक दर टेकनीक ही खोजना, इलाज कराना—ये सब प्राकृतिक हैं? विज्ञान द्वारा जीवन की भौतिक सुख-सुविधाओं का विस्तार तुम करते जाओ अपने

लिए—नारी के बारे में वही किया जाए तो, तुम्हें 'सृष्टि-चक्र' या प्रकृति का ख्याल आने लगा? यह 'सृष्टि-क्रम' की चिन्ता नहीं, पुरुष सत्ता से मुक्त हो रही स्त्री-देह को लेकर बौखलाहट है। अब स्त्री तुम्हारी हवस को झेलने व तुम्हें 'बाप' का खिताब देने हेतु सन्तान (=बेटा) पैदा करने को तैयार नहीं है तो तुम सिर नोचकर, 'सृष्टि-सृष्टि' चिल्लाने लगे। 'यदि स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए...' तुम्हारा यह कहना ही संविधान की प्रतिज्ञा [स्त्री-पुरुष-समता] पर ग्रहण लगा रहा है। यह अमानवीय, नासमझी है कि बाध्य करके स्त्री को बच्चे पैदा करवाओ। 'माँ' बनना स्त्री के ढेर सारे अनुभवों में से एक है, पर एकमात्र यही अनुभव नहीं है और न इसके बिना स्त्री अधूरी ही रह जाती है। जिस प्रकार पुरुष अध्यापक या डॉक्टर है तो रसोइया बने बिना अधूरा नहीं है, उसी प्रकार स्त्री भी यदि आधुनिक जीवन के हजारों क्षेत्रों में से किसी/किन्हीं में अपनी सफलता के झंडे गाड़े हुई है तो माँ/गृहिणी बने बिना वह अधूरी क्यों कहलाएगी? अक्सर मीडिया-पत्रकारिता को किसी सफल महिला की महत्ता बढ़ाने हेतु यह टिप्पणी भी जोड़ते पाया गया है कि इन सबके साथ वे एक अच्छी 'माँ' या 'गृहिणी' हैं। मानो इसके बिना स्त्री अधूरी है। एक चर्चित फिल्म अभिनेत्री के बारे में फिल्मी चैनल ने यह प्रशंसात्मक टिप्पणी की कि वे सुपरस्टार ही नहीं रही हैं (मतलब, पहले थीं अब उनका पूरी तरह घरेलूकरण हो चुका है), बल्कि इस समय वे सुपरहिट हाउस-वाइफ हैं। क्या घटिया वाक्य है। गुलामी का महिमा मंडन! कुछ समय के बाद यह न कहने लगें वे कि अमुक स्त्री सुपर पतिव्रता या पति की सुपर यौन-दासी है। शहरों में 'मिसेज करवा चौथ' आदि तो खिताब मिल ही रहे हैं। जैसे स्त्री का कोई और काम ही नहीं है। यदि स्त्री जीवन के किसी क्षेत्र में आत्मनिर्भर है, तो घरेलू काम-काज भी वही करे, क्यों? डबल प्रेशर झेले स्त्री? पति के द्वारा भी गृह कार्य-करने पर उसमें स्त्री के आधा भागीदार बनने की बात तो समझ में आती है; पर स्त्री ही वैसा करने को क्यों बाध्य रहे? स्त्री-विमर्श या नारी-मुक्ति अथवा लोकतंत्र या आत्मनिर्भरता पर गला फाड़-फाड़कर, ताली बटोरू वक्तव्य देनेवाले पुरुष-विचारकों से वहीं जब धीरे से पूछ दिया जाए कि 'जनाब! सिर्फ इतना बतला दीजिए कि आज जो खाना खाया, उसे पत्नी ने बनाया था या आपने अथवा माँ/बहन ने बनाया था या आपने?' तो वहीं पर उनकी घिग्गी बँध जाएँगी, सारा ज्ञान भूल जाएगा, मूर्च्छित हो जाएँगे, यदि 'हया' हो। पर, कितने बेहया तो वहाँ भी थेथरलॉजी करने लगेंगे। बड़ा आसान होता है किसी मर्द के लिए महान या विद्वान बनना! पत्नी, बहन या माँ के बनाए खाने खाते, उनके साफ किए कपड़े पहनते या पत्नी की प्रूफरीडिंग से लाभ उठाते हुए अपना दिमाग सिर्फ 'विचार' को परिपक्व करने में लगाए रखना बड़ा आसान होता है। उसके बाद वे अपनी सफलता या महत्ता पर इतराते हैं और स्त्री लेखिकाओं की कला को अपने सामने ओछा ठहराते हैं। यह भी नहीं सोचते कि खाना-सफाई आदि सकल गृहकाज, बाल-बच्चों की देखभाल आदि के साथ पति की हर प्रकार से सन्तुष्टि के बाद बचे समय व क्षमता से खड़ी इन लेखिकाओं या किसी क्षेत्र में सफल महिलाओं से हम जैसे छुट्टे सांडों की तुलना कितनी

उचित होगी?

स्त्री 'माँ' बने बिना अधूरी बिलकुल नहीं है और न केवल माँ बनकर ही पूरी हो जाती है। फिर भी, उसकी अपनी रुचि या ललक है, तो वह 'माँ' बनने को स्वतन्त्र है। पर, ज्यादा नहीं। एक या दो सन्तानों की 'माँ' बनना ही उसके अपने हित में रहेगा। जब तक जनसंख्या स्थिरीकरण का लक्ष्य पूरा न हो, तब तक तो उसे अधिकतम सिर्फ एक सन्तान या एक बार जीवित प्रसव का अधिकार होना चाहिए। तत्पश्चात् अधिकतम दो सन्तानों का अधिकार। परन्तु, माँ बनने की भूमिका में उतरने की कीमत स्त्री को अपनी शिक्षा, नौकरी या सोशल लाइफ को पूर्णतः गँवाकर अदा नहीं करनी चाहिए। इन सबके बाद उसकी विशेष चाहत है मातृत्व की, तो स्वागत-योग्य है। समाज को उसका आभारी होना चाहिए कि सृष्टि-क्रम के लिए उसने इतना साहस किया है। उस क्रम में उसकी देह या व्यक्तित्व में जो कुछ क्षरण होता है, उसकी भरपाई करना सरकार व समाज का कर्तव्य है। प्रसवावकाश (मैटर्निटी लीव) तो है ही, स्वास्थ्य-लाभार्थ दवा-पोषण, आहार-विहार का सरकारी प्रबन्ध तथा बच्चे पालने में अनुदान देते हुए, राज्य को यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि वह पिता को माँ के साथ इस कार्य में आधा भागीदार बनाए। यहाँ भारत सरकार द्वारा जनवरी 2007 ई. में लागू की गई 'मातृत्व स्वास्थ्य सुरक्षा योजना' की याद आ रही है। यह स्वागत योग्य कदम है। गरीबी रेखा से नीचे की महिलाओं के लिए इसके तहत कोड-युक्त कूपन जारी किए गए हैं, जिसे दिखाकर वे प्रसवपूर्व जाँच से लेकर प्रसवबाद इलाज व दवाएँ मुफ्त पा सकती हैं। यह कदम काबिले तारीफ तो है, पर और भी बहुत कुछ करते रहने की जरूरत है। इस सन्दर्भ में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट सरकार द्वारा की गई व्यवस्था प्रेरणास्पद है। 'स्वाधीनता संग्राम, हिन्दी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र' नामक पुस्तक में संकलित 1929, 1934 व 1939 के लेखों के अनुसार, सोवियत सरकार कामगार महिलाओं को प्रसव के डेढ़ दो मास पहले से ही प्रसवाकाश देती थी जो प्रसव बाद भी इतने ही समय तक जारी रहता था। इसके साथ, प्रसव बाद 9 मास तक उन्हें वेतन रूप में 9 रूबल ज्यादा देती थी ताकि बच्चों के पालने में सहयोग हो। साथ ही, हर बच्चेदार कामगार स्त्री को हर तीन घंटों पर स्तनपान-देखरेख आदि के लिए अवकाश देती थी। बीमार स्त्रियों के लिए कारखाने के साथ रात्रि-विश्रामालय एवं चिकित्सा की व्यवस्था होती थी। बच्चों की देखभाल के लिए उनकी उम्र के अनुसार कई कोटियों की शिशुशालाएँ भी रहती थीं, जहाँ 'कार्य-अवधि के दौरान' दाइयों को अपने बच्चे सौंपकर कामगार स्त्रियाँ निश्चिन्त रह सकती थीं। शिशुशालाओं में बच्चों के खान-पान और खेलने की सुविधाएँ होती थीं। ये सब व्यवस्थाएँ निःशुल्क होती थीं। इस प्रकार, सरकार ने स्त्रियों के स्वावलम्बी बनने और सार्वजनिक उत्पादन-प्रक्रिया में हिस्सेदार होने में बाधा बनने वाली कई भूमिकाओं से उन्हें निजात दिला दी थी। बच्चों के पालन और घरेलू झंझटों के क्षेत्र में उन्हें अधिकाधिक मुक्ति देकर सरकार ने स्त्री को पुरुष के बराबर सामाजिक-आर्थिक व्यक्तित्व प्रदान कर दिया था। यदि हमारी सरकार भी ऐसी व्यवस्था कर दे तो 'माँ'

बनना स्त्री के लिए पीड़ा या सिसकन अथवा व्यक्तित्व-क्षति की जगह 'आत्मगरिमा' का विषय होगा। माँ ही बच्चे की प्राथमिक या मुख्य अभिभावक होगी (यदि 'विवाह' संस्था बनी हुई हो तो), तब निश्चय ही 'माँ' बनना स्त्री के लिए सुखद अहसास होगा। यदि पति उसे शिशुपालन में बराबरी का सहयोग नहीं करता, तो राज्य द्वारा वह दंडनीय हो अथवा उसकी यह कमी पत्नी को उससे तलाक लेने का आधार मानी जाए। निर्वासिता सीता द्वारा लव-कुश को एकल अभिभावकत्व देना तो उनकी मजबूरी थी, जो पितृसत्तात्मक अन्याय से पैदा हुई थी; पर जब तक परिवार/विवाह व्यवस्था है तो सिर्फ स्त्री शिशुपालन या गृहकार्य को मजबूर न रहे—यह देखना राज्य का कर्तव्य है। यह ठीक है कि सशक्त स्त्री खुद ऐसा देखेगी, पर राज्य और समाज को उसके इस जायज अधिकार के साथ खड़ा रहना ही होगा। 'सन्तान' के अस्तित्व में भले एकल अभिभावकत्व की स्थिति माँ की ही बनती है, पर स्त्री-पुरुष की समानता पर रचित विवाह/परिवार या समाज की व्यवस्थाओं में 'बाप' को सन्तान पर आधा या द्वितीयक अधिकार तभी मिलना चाहिए, जब वह उसके लालन-पालन में कम-से-कम आधा भागीदार बना हो। इसके पीछे की तर्क-पद्धति यही है कि 'माँ' बनना तो प्राकृतिक तौर पर ही सिद्ध होता है, परन्तु 'पिता' बनने का अधिकार मर्द को प्रकृति नहीं देती। पिता बनना भावात्मक व तदनुरूप कार्यात्मक विकास व जिम्मेवारी से ही सम्भव है। स्त्री को बिना 'विवाह' बन्धन में आए अनब्याही माँ बनने का भी अकाट्य अधिकार है क्योंकि 'माँ' बनना या न बनना उसका अपना शारीरिक मामला है मूलतः। चाहे वह क्लोन, वीर्य बैंक, टेस्ट ट्यूब (परखनली) शिशु या किसी पुरुष से यौन-सम्बन्ध का सहारा ले—उसे अनब्याही 'माँ' बनने का भी सतत अधिकार है।

यदि स्त्री 'माँ' बनने को तैयार नहीं है, तो उसे 'ब्रह्मचर्य' का उतना ही अधिकार है जितना पुरुष को—जैसा कि विनोबा भावे कहते हैं। चूँकि 'ब्रह्मचर्य' प्राकृतिक रूप से सहज प्रवृत्ति नहीं है, इसलिए 'माँ' बनने को तैयार न होने वाली स्त्री के लिए जैसा कि ज्यादा सहज है, बिना सन्तान का बोझ उठाए यौन-सुख पाने का कम से कम उतना हक तो है ही जितना अब तक पुरुष का रहा है। ध्यान रहे कि यहाँ 'हक' में समानता की बात की जा रही है, अमर्यादित-उच्छृंखल भोगवाद की नहीं, जो पितृसत्तात्मक सामन्ती वरदहस्त पाए पुरुषवर्ग का सच रहा है। 'कम से कम' शब्द का प्रयोग इसलिए किया जा रहा है कि स्त्री का यौन-व्यक्तित्व पुरुष से कई गुना गम्भीर है, क्योंकि उसकी यौन-क्षमता पुरुष से कई गुनी है। पुरुष के पास तो यौन संवेदी अंग के रूप में सिर्फ शिश्न (Penis) है, पर स्त्री के पास स्तनाग्र, अधर, योनि के कुछ हिस्से के साथ भगांकुर (Clitoris) नामक काम संवेदी अंग भी हैं, जो शिश्न की तुलना में ज्यादा संवेदनशील, तृप्तिमुखी ही नहीं, बल्कि एक ही रतिक्रिया में एकाधिक बार चरमसुख प्रदान करने की क्षमता भी रखता है। स्त्री अपनी पूरी यौन-क्षमता के साथ खड़ी होकर 'माँग' करने लगे तो पुरुष-विशेष ('पति') की खटिया खड़ी हो जाए क्योंकि स्पष्ट है कि एक भी स्त्री को यौन सन्तुष्ट कर पाने की क्षमता किसी पुरुष में नहीं है। पर, क्या ही विडम्बना

है कि मरदों ने स्त्रियों का झुण्ड दर झुण्ड 'विवाह' या 'हरम' के रूप में कैद कर रखने का, दयनीय महानता का इतिहास बनाया है। "स्त्री की यौन आवश्यकता भी होती है, जिसकी तुष्टि के बिना उसके स्वास्थ्य पर विपरीत असर पड़ता है"—जब हमारी महान संस्कृति ने यह भी नहीं सोचा, तब 'सेक्स' को लेकर स्त्री को आनन्दोत्सव का अधिकार वह भला कैसे दे सकती है? पुरुष को 'आनन्दोत्सव' से बढ़कर तथाकथित 'व्यभिचारोत्सव' तक को अनुमत करनेवाली इस "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते" वादी संस्कृति ने स्त्री का काम-सुख अधिकार हर तरह से कुचला है—कभी नरम रुख से, कभी कठोर रुख से।

- (i) यदि नरम रुख रहा तो उसके सारे 'कामांगों' को एकमात्र 'जननांग' के रूप में समझाकर अथवा "नारी! तुम केवल श्रद्धा हो, जननी हो, माँ हो" आदि से बहला-बहकाकर।
- (ii) यदि कठोर-क्रूर रुख रहा तो 'भगांकुर' (Clitoris) या 'योनि' का कुछ हिस्सा भी काट डालने वाले 'सुन्नत' नामक दिल दहलाने वाली प्रथा अथवा 'योनि' पर तालाबन्दी करनेवाली 'चेस्टिटी बेल्ट' नामक चलन का सहारा लेकर, ताकि स्त्री किसी मनोवांछित पुरुष से यौन-रिश्ता न बना ले। इसके अलावा स्त्री द्वारा अपनी इच्छा से कभी प्रेम/यौन-प्रवृत्ति दिखलाने पर उसकी शूर्पणखा सी दशा बनाने या 'इज्जत-हत्या' कर देने की प्रथा तो बाइबिल, कुरान, पुराण के समाज में तब से आज तक बाकायदा चल ही रही है।

दूसरा तो पूरी तरह से सांस्कृतिक है, पर पहले को सांस्कृतिक मानने के साथ यह भी मानना होगा कि उसे आधार देने में स्त्री की जैविक स्थिति (गर्भाशय या गर्भ झेलने की बाध्यता) का भी योगदान था। विज्ञान ने गर्भ-निरोधकों की खोज कर स्त्री को एकबारगी हजार साल आगे पहुँचा दिया है—बिलकुल पुरुष सा व्यक्तित्व प्रदान कर दिया या इसकी सम्भावना पैदा कर दी है। यदि गर्भ-निरोधकों की दिशा मुख्यतः पुरुष-देह तरफ घुमा दे या सरकार की नीतियाँ भी उसमें मददगार हो जाएँ, तब तो स्त्री की आजादी पुख्ता हो जाएगी। गर्भ-निरोधकों ने स्त्री को सिर्फ यह मदद नहीं की कि उसे भी गर्भ-भय से मुक्त होकर कामसुख लेने का अधिकार प्रदान कर दिया, जो पुरुष को सदा से सुलभ रहा है। इससे भी बड़ी बात उसने पैदा यह की है कि गर्भ-भय से बनी शारीरिक व सामाजिक बाध्यता से मुक्त होकर स्त्री बेहिचक हर कामकाज करने हेतु, हर जगह आने-जाने लगी है या ऐसा करने को समर्थ हुई है। न अब उसे बलात्कार से डरना चाहिए, न किसी प्रकार की सामाजिक वर्जना से; क्योंकि उसकी इच्छा-अनिच्छा से देह के साथ हुई किसी घटना-दुर्घटना का चिह्न उसकी देह पर अब कूढ़मगज समाज/संस्कृति के ठेकेदार पा न सकेंगे। न पा सकेंगे चिह्न और न नारी-विरोधी राजनीति खड़ी कर सकेंगे। जहाँ तक रही बलात्कार या यौन-हिंसा की बात, उससे नारी लड़ लेगी यदि बलात्कार को लेकर 'अपवित्र' जैसा हौवा न खड़ा किया जाए। गर्भ-निरोध ने इस हौवे की आशंका को ही निर्मूल कर दिया है या धीरे-धीरे कर देगा।

इसी तरह सैनेटरी नैपकिन ने भी स्त्री को हर महीने, तीन-चार दिनों तक होने वाले मासिक स्राव को लेकर पैदा होने वाली असहजता या शर्मिन्दगी से भी मुक्त कर दिया है तथा हर दिन हर कहीं आने-जाने की स्वतन्त्रता दे दी है। स्त्री अब पूरी तरह अकुण्ठ व निर्भय होती जा रही है तथा व्यक्तित्व-विकास, सोशल लाइफ और आत्मनिर्भरता की हर राह पर खड़ी हो गई है। यह 'नई नारी' है, जिसे सम्भव बनाया है विज्ञान ने। जो काम कई हजार सालों तक सन्त, विद्वान, सरकारें न कर सकीं, उसे विज्ञान ने चन्द वर्षों में कर दिखाया है। जनसंख्या-समस्या के सन्दर्भ में, गर्भ-निरोधकों को इस प्रकार की स्त्रीपक्षीय परिभाषा में ढालने की जरूरत है, ताकि स्त्री सबल, आत्मनिर्भर 'इनसान' बने और अपनी कोख या यौनिकता के इस्तेमाल के अधिकार से भरी सम्पूर्ण 'व्यक्ति' के रूप में मौजूद रहे। परन्तु, परिवार-नियोजन के आम प्रचलित रूप से स्त्री को ही 'बन्ध्या' बनाया जाता है, तो प्रतीकात्मक रूप से स्त्री अधूरे व्यक्तित्व की हो जाएगी उसी प्रकार, जैसे किसी अंग से रहित कोई व्यक्ति 'विकलांग' कहलाता है। पर, समस्या केवल यह नहीं, बल्कि स्त्री को बन्ध्या बना देना पुरुषसत्तात्मक समाज में उसे 'भोग्या' के रूप में परिभाषित कर देना है। परन्तु, पुरुष यदि नसबन्दी द्वारा जनन-भूमिका से रहित किया जाता है, तो उसके साथ ऐसी कोई त्रासदी नहीं घटती, बल्कि उसका व्यावहारिक व प्रतीकात्मक अर्थ स्त्री पर गर्भ लादकर उसे उत्पीड़ित कर देने की क्षमता से पुरुष को बस रहित कर देना है, जैसा कि पिछले अध्याय में स्पष्ट किया गया है। इसी से जनाधिक्य के स्थायी समाधान हेतु, स्त्री के एक बार प्रजनन कर लेने पर (और जनसंख्या-स्थिरीकरण का लक्ष्य पूरा हो जाने पर स्त्री के दो बच्चे हो जाने के बाद) उसके पति या सहजीवन के साथी की नसबन्दी अनिवार्य बनाने की बात होनी चाहिए। यह 1976 ई. के कांग्रेसी कानून का संशोधित रूप होगा—नसबन्दी आदि उपाय स्त्री के लिए ऐच्छिक, पुरुष के लिए अनिवार्य बनाना।

परिवार-नियोजन हेतु स्त्री को नहीं, पुरुष को बाँधो तो सही

जनसंख्या-समस्या स्त्री के अबलाकरण से जुड़ी समस्या है। उसके समाधान के लिए स्त्री की अधिकाधिक स्वतन्त्रता की जरूरत है, न कि उसे और कसने की जरूरत है। स्त्री को परिवार-नियोजन हेतु बाध्य करने से उसकी निहायत निजी स्थिति (देह की जनन क्षमता के प्रयोग) भी परतन्त्र हो जाती है, जिसका स्त्री की स्वतन्त्र मनुष्यता पर बहुत बुरा असर पड़ता है। कारण, स्त्री पहले से ही बहुत दयनीय स्थिति में है। यहाँ डॉ. अमर्त्यसेन के 'भारत : विकास की दिशाएँ', 'आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य' पुस्तकों में आए विचार से सामना होता है, जिसमें उन्होंने 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' को हर विकास का लक्ष्य मानने के कारण परिवार-नियोजन के लिए भी जबरदस्ती या दमन के किसी तरीके का तीव्र विरोध किया है। डॉ. सेन की यह चिन्ता तो जायज है कि परिवार-नियोजनगत जबरदस्ती से होने वाले 'स्वातंत्र्य-हास' का खामियाजा (उस) स्त्री को सर्वाधिक भुगतना पड़ता है, जो इस समाज में चिरवंचित रही है। इसी से तो हमारा सुझाव परिवार-नियोजन

की जबरदस्ती से स्त्री को मुक्त रखने का है। 1976 के भारत या वर्तमान चीन की बाध्यतामूलक नीति की चपेट में महिलाएँ भी आ जाती रहीं, इसलिए आँख मूँदकर उनके सम्पूर्ण रूप का समर्थन करना सम्भव नहीं। खासकर चीन की बाध्यकारी व दमनकारी नीति का परिणाम महिलाओं ने ही भोगा है। उनके शरीर से हिंसक छेड़छाड़ करना ही चीन की दमनकारी नीति का व्यावहारिक अर्थ है। अतः जब तक नीति में स्त्री को बाध्यता से मुक्ति न दी जाएगी तथा पुरुष के लिए नसबन्दी अनिवार्य न बनाई जाएगी, तब तक पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री ही नसबन्दी कराने को बाध्य बनी रहेगी। डॉ. सेन स्त्रियों की तरफ से यदि ऐसा सोचते हैं, तब तो ठीक है। पर वे बाध्यता की नीति मात्र का विरोध करते हैं, यानी 'मानवीय स्वतन्त्रता' के नाम पर पुरुष को भी परिवार-नियोजन हेतु बाध्य करने की हामी नहीं भरते। ठीक है कि मानवीय 'स्वतन्त्रता' एक बड़ा मूल्य है, पर निरपेक्ष मूल्य तो नहीं। 'स्वतन्त्रता' का यह कौन सा अर्थ होगा कि एक व्यक्ति दूसरे की स्वतन्त्रता व मानवाधिकार को छीन ले? स्त्री को अपनी वासना या पुत्रेच्छा द्वारा गर्भवती बनाकर, उसे एक मनुष्य तक के अधिकार से वंचित कर देना क्या किसी पुरुष की 'स्वतन्त्रता' कहला सकता है? यह भी तो सोचना चाहिए। किसी की स्वतन्त्रता को वहीं तक स्वीकारा जा सकता है, जब तक वह दूसरों की निजता व मानवाधिकार का भंगन न करे। यह परिभाषा स्त्री पर भी लगती है। इसीलिए, हमने स्त्री को भी फिलहाल एक से ज्यादा (या एक बार जीवित प्रसव) और आगे दो से ज्यादा सन्तानें पैदा करने की छूट न देने की संस्तुति की है। कारण यह है कि जनन किसी का नितांत व्यक्तिगत मसला नहीं, बल्कि समाज या पारिस्थितिक तन्त्र (इको-सिस्टम) को प्रभावित करनेवाला तत्त्व है। अतः जनन-संख्या का निर्धारण उसी लिहाज से होना चाहिए।

डॉ. सेन ने बाध्यकारी नीतियों की सार्थकता को कई आँकड़ों व तर्कों से सीमित करने का प्रयास किया है। इसके लिए उन्होंने सर्वप्रथम यह तथ्य प्रस्तुत किया है कि तमाम बाध्यकारी व दमनकारी नीतियों के बावजूद 1991 ई. तक चीन का जन्मदर (प्रति स्त्री 2.0) केरल के जन्मदर (प्रति स्त्री 1.8) से उच्च ही बना रहा। केरल बिना दमन या दबाव के 'स्वेच्छा' की नीति के तहत, सिर्फ 'स्त्री-सशक्तीकरण' (शिक्षा, रोजगार) के बल पर भारतीय औसत लक्ष्य (2.1) से भी नीचे आ चुका है। बात तो प्रथम दृष्टि में ठीक लगती है, पर यहाँ भी डॉ. सेन को यह विश्लेषण करना अपेक्षित था कि केरल में जनन-दर की यह कमी स्त्री-नसबन्दी के व्यापक चलन से आई है। NFHS III के अनुसार वहाँ कुल परिवार-नियोजन कर्त्ताओं (57.9%) में से सर्वाधिक संख्या 48.7% स्त्री नसबन्दी की है, पुरुष नसबन्दी सिर्फ 1.0% रही है। स्पष्टतः डॉ. सेन जिसे 'स्वेच्छा नीति' की सफलता मान रहे हैं, वह सदियों से स्त्री पर थोपी गई गुलामी की सफलता है। स्वेच्छा नीति या नारी-जागृति की सफलता तो तब होती, जब वह पुरुष-समुदाय की अनपेक्षित वासना एवं अनपेक्षित गर्भाधान से बची रहती अथवा पुरुषों को नसबन्दी कराने हेतु तैयार कर लेती। पर, ऐसा तो कतई नहीं है। वर्तमान रूस में स्थिति यह

है कि बिना किसी बाध्यता नीति के स्त्रियाँ गर्भपात द्वारा जनन-दर को काफी गिरा चुकी हैं, 1990 के पूर्व तो गर्भपात ही जन्म-निरोध का मुख्य साधन था और एक आकलन के अनुसार 70% गर्भों का समापन गर्भपात से होता रहा। क्या यह भी 'स्वेच्छा नीति' की सफलता है कि स्त्री गर्भपात की पीड़ा तक उठाने को बाध्य बनी रहे? डॉ. सेन ने दमन या बाध्यता की नीति को 'लोकतांत्रिक स्वीकार्यता' के तर्क पर भी खारिज किया है। उन्होंने उदाहरण दिया कि भारत में '1976 की नीति' को, इन्दिरा सरकार की करारी चुनावी शिकस्त के रूप में, पराजय का मुँह देखना पड़ा। परन्तु, यह विश्लेषण भी सही नहीं है। डॉ. सेन को यह देखना चाहिए था कि 'नीति' को अस्वीकार कर देना पुरुष सत्ता की प्रतिक्रिया थी, न कि लोकतांत्रिक रीति से अस्वीकार्यता। यदि 'लोकतन्त्र' सच्चे अर्थ में प्रतिष्ठित हुआ रहता तो स्त्री-विरोधी इतने प्रावधान इस देश में सदियों से आज तक जो जमे चले आ रहे हैं—स्त्री की क्षमता पर खुलकर सन्देह ही प्रकट नहीं किया जाता रहा है, बल्कि रसोई व बिस्तर की कैद से छूटकर बन रही उसकी सक्रियता को गाली भी दी जा रही है और थप्पड़ भी मारा जा रहा है—वह क्या एक दिन भी चल पाता? इस मुद्दे पर तो कभी कोई सरकार न बिगड़ी न बनी। ज्यादा दूर की बात न कर यही सोचें कि यदि 'लोकतन्त्र' पूर्ण रहता है तो 'विधायिका में 33% आरक्षण' के सवाल पर ही वर्षों से छल रहे दगाबाज राजनैतिक दलों की मर्दानगी की खटिया खड़ी हो जानी चाहिए थी, क्योंकि आधी संख्या स्त्री मतदाताओं की है। 1977 के ही चुनाव में कांग्रेसी सरकार को क्या स्त्रियों के वोट बैंक ने हराया था? इसलिए, डॉ. सेन द्वारा 'लोकतन्त्र' की कसौटी पेश कर 'बाध्यकारी परिवार-नियोजन नीति' की व्यर्थता ठहराना उचित नहीं। अन्तिम दलील उन्होंने यह पेश की कि परिवार-नियोजन की उक्त दमन-नीति का कुप्रभाव यह पड़ा कि अगले दस सालों तक, जन्मदर-हास का पहले से चला आ रहा सिलसिला भी थमा रहा तथा जनता को सरकार की 'मंशा' पर ही सन्देह हो गया था। सवाल है कि सिलसिला क्यों थमा? कहीं ऐसा तो नहीं कि पुरुषों या पुरुषवादी विचार ने स्त्रियों को परिवार-नियोजन से रोके रखा? क्योंकि, 'स्त्री नसबन्दी कराए या नहीं अथवा कब कराए' इसका निर्णय आज भी जब पुरुष ही (या 'महिला की सास' रूपी पुरुष) लेता है, तब उस समय क्या दशा रही होगी? पुरुष द्वारा स्वेच्छावश नसबन्दी कराने के आम चलन का तो न इतिहास है, न वर्तमान। तब, स्पष्ट है कि सरकार की परिवार-नियोजन नीतियों की 'मंशा' पर 'सन्देह' भी पुरुषवादी था।

समग्रतः, डॉ. सेन द्वारा जबरिया परिवार-नियोजन के विरोध का केवल वह अंश ग्राह्य है, जो उन्होंने (पहले से ही बाध्य रही) स्त्री को उस जबरदस्ती से बचाने के लिए कहा है। पर, पुरुष को भी बाध्य न करने की उनकी दलील स्वीकार नहीं की जा सकती। पुरुष जनवृद्धि के लिए इस सामाजिक संरचना में प्रतीकात्मक रूप से नहीं व्यावहारिक रूप से दोषी है। स्त्री के लिए जो उम्र कैरियर बनाने की होती है, उसमें उसे जच्चा-घर में कैद किए रखने का जिम्मेदार है पुरुष। इसलिए उस पर अंकुश लगना ही चाहिए। पुरुष की थोड़ी सी बाध्यता से स्त्री-मुक्ति के कई आयाम जब

खुलते हैं, तो इसे लागू करने में बाधा क्या है? स्त्री को गर्भ-भय मुक्त करने और सहजता से जीने का अधिकार देना है तो उसकी राह में रोड़ा बनने वाले पुरुष के स्वेच्छाचार को तो रोकना ही होगा। उसे कुछ मिनटों के अपरेशन हेतु बाध्य करने से उसका तो कुछ बिगड़ता नहीं, पर स्त्री का बन बहुत जाता है—यह व्यावहारिक बात भी तो देखनी चाहिए। स्त्री-नसबन्दी की जटिलता की तुलना में पुरुष की नसबन्दी तो एकदम सरल है। यह भी देखना चाहिए। पुरुष-नसबन्दी की बाध्यता का कानून लागू हो जाने से पुरुष 'मर्दानगी' के मिथक से भी कुछ हद तक मुक्त होगा। 'मर्दानगी' का मिथक बहुत घटिया चीज है जिसने स्त्री को अनेक तरह से हिंसा का ग्रास बनाया है। 'मर्दानगी' का आम अर्थ यही होता है कि बिस्तर पर किसी स्त्री को कितने कौशल से या ताकत से रौंदा जा सकता है। जितनी ब्लू फिल्में (पोर्न फिल्में) हैं—सब 'मर्दानगी' के इसी मिथ की विस्तार हैं। 'मर्दानगी' का अर्थ होता है 'हिंसा', चाहे वह बिस्तर पर औरत के साथ की जाए या रणभूमि में दुश्मन के साथ। इस मिथ का उच्छेद होने से लोक का भला ही होगा, क्योंकि पितृसत्ता भी इससे कमजोर होगी। 'मर्दानगी' के मिथ में उलझे रहकर ही तो पुरुष नसबन्दी से भागते रहे हैं। कानूनन उन्हें बाध्य करने से नारी निडर होगी, उसे व्यक्तित्व मिलेगा। वह हर क्षेत्र में, घर-बाहर बेखटके सक्रिय रह पाएगी। कुछ समय तक मर्दों को यह बाध्यता 'दमन' जैसी लग सकती है, पर धीरे-धीरे इसकी आदत पड़ जाएगी। फिर, यह परम्परा सी बन जाएगी। जैसे नारी पर थोपी गई गुलामियाँ परम्परा सी बन गई हैं, उसी प्रकार पुरुष पर डाला गया यह निहायत जरूरी कर्तव्य भी उसे सहज लगने लगेगा। नारी पर अनुचित बाध्यताओं की परम्परा का अन्त पुरुष की इस थोड़ी सी बाध्यता के ही रास्ते हो सकता है। कानून त्रिकाल-सत्य के अनुसार नहीं बनते, बल्कि सामयिक या प्रचलित स्थितियों को देखते हुए ही खड़े किए जाते हैं या संशोधित होते रहते हैं। इस तर्क पर भी ऐसा कानून एकदम सामयिक व उचित होगा।

इसके साथ गर्भपात का (बिना लिंग-परीक्षण कराए) अधिकार कुछ समझदार उपबन्धों के तहत स्त्री को दिए रखना होगा। अभूमन कोशिश करनी होगी कि गर्भ-निरोध इतना दुरुस्त हो कि इस तक नौबत ही न आए। पर, उसकी विफलता होने, बलात्कार-जन्य गर्भ होने या गर्भ में विकार होने पर, अल्पकाल के गर्भ को गिराने का नारी को पूरा अधिकार रहेगा—बाध्यता नहीं। पर, सावधान! इसे जापान या रूस की तरह जनन-निरोध के उपाय की तरह न माना जाएगा; बस आपद् धर्म के रूप में। यह ध्यान रखना होगा कि मर्दों की हवस झेलते रहने के लिए यह अधिकार नहीं दिया जा रहा है, न कन्या भ्रूणों की पहचान कर उनका नाश करने के लिए; अपितु दिया जा रहा है तो स्त्री की दैहिक स्वतन्त्रता के अंग के रूप में। यह बात भूलने की नहीं है।

जब तक जनसंख्या-परिसीमन का लक्ष्य पूरा न हो, तब तक किसी स्त्री का एक बार से अधिक जीवित प्रसव या एक से ज्यादा सन्तानें राज्य को स्वीकार न होंगी।

परन्तु, किसी स्त्री के एक से ज्यादा सन्तानें हो जाती हैं तो राजव्यवस्था को समाज के पितृसत्तात्मक संस्कारों को समझते हुए, स्त्री के केस को बड़ी सहानुभूति से सुलझाना होगा। हो सकता है कि विवाहगत या विवाह-बाह्य बलात्कार की शिकार होकर स्त्री उक्त स्थिति में जा पहुँची हो अथवा फिर यह भी हो सकता है कि वे जुड़वा सन्तानें हों। कहना यही है कि एकाधिक सन्तानों के लिए स्त्री को कुछ भी दंड देने के पूर्व राज्य को सौ बार सोच लेना होगा। यह नवीन 'जनसंख्या-नियोजन नीति' का एक सूत्र रहना चाहिए। इसके साथ, स्त्री को जबरन गर्भवती बनाने अथवा उसका गर्भपात/मादा भ्रूण हत्या करवाने की कोई भी कोशिश पुरुष को कठघरे में ला खड़ा करेगी ही। आखिर 'घरेलू हिंसा से महिला की सुरक्षा का कानून 2005' किसलिए है?

‘घरेलू हिंसा निवारण कानून’ अहम, पर ‘समान नागरिक संहिता’ के बिना वहम

जनसंख्या-विमर्श के इस उपसंहार अध्याय में 'घरेलू हिंसा कानून' का भी एक संक्षिप्त पुनर्पाठ करना ठीक होगा क्योंकि वह जनसंख्या-समस्या से भी गहराई से जुड़ा हुआ है। ऊपर से 'विधान' की शक्ति में दिखलाई देकर भी, स्त्री की शारीरिक-मानसिक गुलामी/यातना के बहुत विशाल तन्त्र 'विवाह या परिवार व्यवस्था' के प्रचलित स्वरूप को स्त्रीघाती व स्त्रीग्रासी प्रमाणित करनेवाली यह एक सार्थक संवैधानिक टिप्पणी भी है। इस सर्वव्याप्त संस्था (विवाह/परिवार) को लोकतांत्रिक बनाने की दिशा में इस कानून का मुख है, इसलिए स्त्री को अभाव, भय व हिंसा की बदौलत दबाकर बनी 'विवाह/परिवार' संस्था को सुधरना ही पड़ेगा। इस तरह से पितृसत्ता के लिए यह कानून खतरे की एक घंटी है। यदि सही में, यानी शत-प्रतिशत यह क्रियान्वित हो गया तो जनसंख्या समस्या पैदा करने के एक बड़े स्रोत 'विवाह/परिवार' को स्त्री के पक्ष में कुछ झुका जरूर सकेगा। पत्नी पर हवस थोपने, उसका बलात्कार करने, उस पर बेटा पैदा करने का दबाव डालने, बेटी के पालन या शिक्षा में उपेक्षा बरतने, पत्नी को पीटने या उपेक्षा आदि को दंडनीय बनाने जैसे ढेर सारे सुलझे हुए प्रावधानों से स्त्री को सदियों पहले छिनी गई उसकी देह (और उसी के साथ मन) वापस दिलाने में यह कानून न सिर्फ मददगार होगा, बल्कि नौकरी-पढ़ाई आदि से जबरन काटकर उसी के एकमात्र जनसंख्या-वृद्धि की घरेलू मशीन बने रहने की पीड़ा व बेइज्जती से भी मुक्त करेगा। ऐसा होगा तब जब यह कानून—एक हद तक मुकम्मल सा लगनेवाला कानून, सिर्फ किताबों के पन्नों में कैद होकर दम न तोड़ दे। साथ ही, सम्पूर्ण देश में (देश क्या?—विश्व स्तर पर) जात-मजहब-क्षेत्र, नस्ल जैसे भेदों को उखाड़ फेंकते हुए 'समान नागरिक संहिता' लागू होनी चाहिए। वही, मानवाधिकार की रक्षा के लिए बने तमाम छोटे-बड़े कानूनों [जैसे—'घरेलू हिंसा कानून'] को, 'पर्सनल लॉ' के घात लगाकर किए जा रहे हमलों से बचाते हुए, सबके लिए एक सा अधिकार सुनिश्चित कर सकेगा—जिससे कर्तव्य-क्षेत्र में, भोग-क्षेत्र में वे समानता के भागीदार बन सकते हैं।

विभिन्न समुदायों के निजी कानून या पर्सनल लॉ सबसे अधिक उन समुदायों की स्त्रियों के विरुद्ध खुले भेदभावों के अमानवीय घोषणा-पत्र होते हैं। इसलिए, समान नागरिक संहिता की माँग को भी मूल रूप से नारीवादी माँग के रूप में समझना जरूरी है। यह जेंडर जस्टिस (लिंगाधारित न्याय/लैंगिक न्याय) का महत्वपूर्ण अंग है। सारे पुरुष एक-से कानून में आएँ, सारी स्त्रियाँ एक से कानून में आएँ और स्त्री को (प्राकृतिक व परिस्थितिगत कारणों से) प्रदत्त कुछ विशेषाधिकारों को छोड़कर, स्त्री-पुरुष सब पर एक ही कानून लागू हो। इसके बिना व्यवस्था समत्व एवं सुख-शान्ति से युक्त न होगी।

जनसंख्या-नियोजन नीति के मूल सूत्र

अब तक हुए इस विश्लेषण से, जनसंख्या-नियोजन हेतु जो मूल, दीर्घकालीन, अल्पकालीन आदि सभी उपाय उभरकर सामने आए हैं, वे सार-रूप में इस प्रकार व्यक्त किए जा सकते हैं—

- (i) जनसंख्या-समस्या का स्त्री केन्द्रित विमर्श करना।
- (ii) सारी नीतियाँ, कार्यक्रम व नारे स्त्री के व्यक्तित्व बचाए रखने की मूल चिन्ता को ध्यान में रखते हुए बनाना।
- (iii) स्त्री की देह-मुक्ति और प्रजनन-शक्ति के उपयोग का मानवाधिकार (बच्चा पैदा करने या न करने का अधिकार) सुनिश्चित करना।
- (iv) पर, जब तक जनसंख्या को स्थिर करने का लक्ष्य पूरा न हो, तब तक प्रति स्त्री सिर्फ एक सन्तान की अनुमति देना। उसी के तहत, निःसन्तान रहने के निर्णय या अनाथ बच्चों को गोद लेने वाले को इनाम देना तथा उन बच्चों के पालन में राज्य द्वारा प्रोत्साहन देना।
- (v) 'मातृत्व' या 'गृहिणीत्व' एवं 'मर्दानगी' के मिथ का हर स्तर पर उच्छेदन करना तथा स्त्री-शोषण की समाप्ति की दिशा में, इनके प्रचार या महिमामंडन को उसी प्रकार संज्ञेय अपराध घोषित करना जैसे 'सती' आदि के प्रचार अपराध-श्रेणी में हैं।
- (vi) बेटा-बेटी या पुरुष-स्त्री की समता की वैचारिक व व्यवस्था के स्तर पर स्थापना। लिंग-भेद का पोषण करनेवाली सारी सांस्कृतिक घटनाओं (प्रतीकों, पर्वों, वस्त्रालंकरणों आदि) तथा विकास-कार्यक्रमों (जैसे—जनानी चप्पल, हेयरडाई, घड़ी आदि अलग बनाना अथवा 'सिन्दूर' आदि, सिंगारदानी आदि गुलाम प्रतीकों का उत्पादन) की समाप्ति तथा इनमें से जो जरूरी लगें उनकी लोकतांत्रिक पुनः रचना करना। 'पुत्रवान/पुत्रवती' का महिमामंडन भी दंडनीय बनाना।
- (vii) कन्या-वध/मादा-भ्रूण-हत्या पर कड़ाई से रोक तथा सम्बद्ध अपराधियों को कठोर कानूनी, आर्थिक तथा सामाजिक स्तर पर दंड देना। सेक्स सेलेक्टिव

(लिंगचयन) किसी प्रयोग को कठोरता से कुचलना।

- (viii) परन्तु, वर्तमान गर्भपात कानून को स्त्री की दैहिक-स्वतन्त्रता के तहत बरकरार रखना—यानी, 'सेक्स-सेलेक्टिव एबोर्शन' (लिंग-चयन-गर्भपात) को छोड़कर, बाकी गर्भपातों का स्त्री को अधिकार दिए रखना।
- (ix) विवाह-संरचना का आमूल-चूल परिवर्तन करके स्त्री को हर क्षेत्र-चरण-मात्रा में तथा हर भोग-त्याग व कर्म में पुरुष के बराबर बनाने की सामाजिक-आर्थिक नीतियों व कार्यक्रमों की पहल। सन्तान पालन व गृहकार्य में बराबर की भागीदारी स्त्री-पुरुष की रहे—इसे सुनिश्चित करने हेतु कानून बनाना। बाल और अनमेल विवाहों पर पाबन्दी लगाना और उसके जिम्मेवार वयस्कों को दंडनीय मानकर कठोर कार्रवाई करना। इसके साथ विवाह के विकल्पों पर विचार खुला रखना अथवा विवाह संस्था का अन्त करके मातृत्व व्यक्तिगत तथा पितृत्व सामाजिक बनाना।
- (x) स्त्री के दैहिक शोषण (यौन, श्रम या जनन शक्ति के शोषण) को समाप्त करने हेतु नीतियों व कार्यक्रमों के तहत, विवाह व्यवस्था और वेश्यातन्त्र को प्रभावित करना। इसका उद्देश्य विवाह-संस्था को पूर्णतः लोकतांत्रिक बनाना और वेश्यातन्त्र का समूल उच्छेदन करना होगा। देह बेचने की बाध्यता से स्त्री-पुरुष सबको मुक्त रखना, पर हर व्यक्ति को 'देह व्यापार की स्वतन्त्रता' देने या न देने की नीति बनाते समय 'स्त्री-पुरुष' दोनों की 'लोकतांत्रिक समानता' का तथ्य ध्यान में रखना।
- (xi) 'समान नागरिक संहिता' की स्थापना और सारे 'पर्सनल लॉ' का अन्त करना। इसे शादी-ब्याह की रीति, विवाह-संरचना, मानवाधिकार के हर क्षेत्र में लागू करना होगा (पर्सनल लॉ की अलग-अलग चहारदीवारों में कैद की गई सारी स्त्रियों की इससे एक जैसी मुक्ति और सबलता आएगी)।
- (xii) स्त्री की नसबन्दी ही नहीं, बल्कि माला डी, कॉपर टी आदि तमाम गर्भ निरोधोपायों का प्रयोग ऐच्छिक रखना; पर जन्म-दर को नियन्त्रित रखने के लिए पुरुष नसबन्दी अनिवार्य बनाना—अन्यथा, उसके द्वारा इसे न अपनाने पर नागरिक अधिकार निलंबित कर देना। इसके अलावा, यौन रोग या एड्स से बचाव के लिए कंडोम का प्रयोग जारी रखना।

राज्य 'विवाह' या बिना विवाह के स्त्री-पुरुष के किसी जोड़े को साथ रहने की छूट दे, पर यह सुनिश्चित करे कि उनके किसी प्रकार के सम्बन्ध से स्त्री को एक बार से अधिक (जीवित) प्रजनन से न गुजरना पड़े। यानी किसी स्त्री के एक बार (जीवित) प्रजनन कर लेने या उसके एक बच्चा हो जाने पर राज्य उसके विवाहित या सहजीवन के साथी पुरुष को यह बाध्य करे कि वह नसबन्दी करा ले, अन्यथा उस के नागरिक अधिकार निलंबित कर दिए जाएँ। किसी स्त्री का पहले से एक बच्चा मौजूद रहने पर, उसके

साथ विवाह करने या सहजीवन में जा रहे पुरुष की नसबन्दी को पूर्व शर्त या अर्हता में रखे। पर, जो पुरुष विवाह या सहजीवन से परे हों उनके साथ क्या हो? सारी परिस्थितियों पर विचार करके लगता है कि स्त्री के प्रसव की सुटेबुल एज (अर्ह आयु) को चिकित्सक निर्धारित कर लें उस देश की औसत जलवायु के सन्दर्भ में। फिर, उस उम्र-सीमा के ही आसपास हर प्रौढ़ पुरुष की नसबन्दी करा लेने का प्रावधान बन जाना चाहिए। जैसे—भारतीय स्त्री की योग्य प्रसव उम्र यदि 28-29 तक है तो उसका ख्याल रखकर, अधिक से अधिक 30 की लगभग उम्र के हर पुरुष की नसबन्दी का प्रावधान बन सकता है। इन सबके पीछे अनमेल विवाह को रोकना एक बड़ा उद्देश्य है। यद्यपि 'विवाह' व 'सहजीवन' की कोई अधिकतम उम्र-सीमा न होनी चाहिए, पर उसमें उम्र का अनमेलपन न हो, यह तो देखना ही होगा।

पुनश्च:—'एक सन्तान' की बात उक्त विवेचन में तभी तक संगत मानें जब तक जनसंख्या स्थिर न हो जाए। फिर, जैसा कि कहा गया—प्रति स्त्री 2 बच्चों तक की छूट होगी।

- (xiii) सरकारी या सरकार द्वारा अनुमत हर संस्थान, दल (जैसे—राजनैतिक दल, सर्वे-टीम, सेना या राहत दल), कमिटी आदि में तथा हर रोजगार-कार्यक्रम में, स्त्री व पुरुष के बीच 50-50 प्रतिशत सीटें बाँट दी जाएँ तथा यह व्यवस्था अनन्तकालीन हो। किसी संकाय में 'न्यूनतम योग्यता' के निर्धारित पैमाने को भी पूरा करनेवाली स्त्री/पुरुष के अभाव में, कुछ काल के लिए, योग्य किसी पुरुष/स्त्री को रखा जाए, पर जैसे ही अर्हता प्राप्त उम्मीदवार (स्त्री/पुरुष) मिल जाएँ उस तदर्थ सेवक/सेविका को कार्यमुक्त कर देना होगा। वितरित की गई पचास-पचास प्रतिशत सीटों के अन्तर्गत, स्त्री व पुरुष का अलग-अलग विचार करते हुए, क्षेत्रीय, मजहबी, जातिगत, आर्थिक आदि आधारों पर पिछड़े लोगों के लिए समयबद्ध आरक्षण नीति लागू करनी होगी। फिर उसमें समय-समय पर समीक्षा द्वारा क्रीमीलेयर को आरक्षण-सीमा से बाहर करते और आरक्षण-नीति में जरूरी होने पर संशोधन करते जाना होगा। यह स्पष्ट उद्देश्य रखना होगा—कि आरक्षण की यह व्यवस्था सशक्तीकरण के लिए है, अनन्तकालीन नहीं। पर, स्त्री-पुरुष के बीच 50-50 प्रतिशत वितरण की व्यवस्था अनन्तकालीन होगी, क्योंकि जनसंख्या का प्राकृतिक अनुपात दोनों में बराबर रहना सार्वकालिक सत्य है। पर यहाँ एक बाधा और है। पुंसत्व या स्त्रीत्व से इतर जनों यानी हिजड़ों का सवाल सामने आता है। तब, यह समाधान हो सकता है कि प्राकृतिक रूप से जो हिजड़े हैं, उनकी भी जनगणना करते हुए, जनसंख्या-प्रतिशत को पूरी जनसंख्या से निकालकर, शेष को

स्त्री व पुरुष में आधा-आधा विभाजित मान लिया जाए। यानी, विविध/उक्त क्षेत्रों में सीटों का आवंटन करने के लिए हिजड़ों को तात्कालिक जनसंख्या प्रतिशत के अनुसार/अनुपात में सीटें आवंटित कर दी जाएँ। तब बची सीटों को आधा-आधा स्त्री व पुरुष में वितरित कर दिया जाए। तब, सवाल है कि जो जन्म बाद ऑपरेशन द्वारा लिंग बदल लें, उनका? उन की नगण्य संख्या की उपेक्षा करते हुए, उन्हें परिवर्तित लिंग के अनुसार सीट-आवंटन श्रेणी में रखा जा सकता है अथवा जन्मगत लिंग के अनुसार श्रेणी दी जा सकती है, जैसा कि हिजड़ों के निर्धारण में जन्मगत पैमाना अपनाने का सुझाव दिया गया है। इस सफल व्यवस्था के साथ यह भी सतत ध्यातव्य है कि सेक्स निरपेक्ष जनों को 'हिजड़ा' जैसा अपमानकारी अथवा 'नपुंसक' जैसा पुरुष महत्तावादी शब्द न दिया जाए, बल्कि कोई नया सम्मानजनक शब्द दिया जाए।

जनसंख्या-नियन्त्रण के नारों की प्रस्तावित भाषा

यह स्पष्ट हो चुका कि 'स्त्री' को केन्द्र में रखकर ही जनसंख्या-नियन्त्रण का कार्यक्रम चलाना उचित, समझदार व मानवीय होगा। इस अनुरूप, जागृति लानेवाले विज्ञापन या नारे जो काम में लाए जाएँ, वे भाषिक स्तर पर कुछ इस प्रकार होने चाहिए। (भाषा ठीक करना, मनुष्य को ठीक करने का एक महत्वपूर्ण तरीका है)। यहाँ ध्यातव्य है कि कुछ नारे तात्कालिक सन्दर्भ में हैं तो कुछ दीर्घकालिक सन्दर्भ में। जैसे—'एक बच्चे' की बात 'स्थिरीकरण' के पहले तक के लिए है।

- (1) काफी है पहली सन्तान।
बेटा-बेटी एक समान ॥
- (2) पहला शिशु हो तभी विराम।
लड़की या लड़का, लो थाम ॥
- (3) पहले शिशु पर ही सन्तोष।
लड़की भी हो, करो न रोष ॥
- (4) पढ़े-बढ़े हो सेहतवान।
नारी, जब हों कम सन्तान ॥
- (5) सेहत-शिक्षा का हो लोप—जनसंख्या का बढ़े प्रकोप ॥
बच्ची का तुम करो न ब्याह—रोक न उसकी उन्नति राह ॥

(यदि आप 'बच्ची' की जगह 'बच्चों' करना चाहें तो कर सकते/सकती हैं, पर 'उसकी' जगह 'उनकी' भी करना होगा। बाल-विवाह से बच्ची की उन्नति ज्यादा अवरुद्ध होती है, इसलिए ऐसा लिखा गया है।)

- (6) सन्तानों की भीड़ लगाना—नारी-जीवन नरक बनाना।

- सेहत या व्यक्तित्व-विकास, शिक्षा-नौकरी—सबका नाश ॥
- (7) सन्तानों की लगती भीड़—तो नारी ही बढ़ती पीर।
पति को नसबन्दी स्वीकार—तब पत्नी से सच्चा प्यार ॥
- (8) शिक्षित स्वस्थ बली हो नारी।
तभी घटे जनसंख्या भारी ॥
- (9) नारी रहे न अबला-दीन, भोगवस्तु या जनन-मशीन।
पढ़-लिख पुष्ट बने व्यक्तित्व—जनसंख्या का घटे प्रभुत्व।
- (10) जच्चा, बच्चा-पालन भार, थोप न पत्नी पर, दो प्यार।
स्वस्थ-सबल हो प्रतिभा-तेज, नारी व्यक्ति है ना बस सेज ॥

इस प्रकार की भाषा या भाव वाले नारों को प्राथमिक बनाते हुए, अब तक के विमर्श में चलाए जा रहे इस कोटि के नारे भी चलते रहने चाहिए—पर, द्वितीयक (सेकेण्डरी) स्तर पर।

- (1) सुन लो धरती करे पुकार—रोको जनसंख्या विस्तार।
(2) जब जनसंख्या का हो बोझ, तब धरती का बढ़ता क्रोध।
भूख-गरीबी से बदहाल, भीड़-बाढ़-भूकम्प-अकाल ॥
- (3) अगर रुके जनसंख्या वृद्धि,
तो जन-जन की सकल समृद्धि ॥

जनसंख्या-समस्या के सुधार में सम्भव नव-सामाजिक ढाँचे का उभार

जनसंख्या-नियोजन की उक्त नीति को लागू करने में, समाज का दिखाई दे रहा वर्तमान ढाँचा निश्चित रूप से हिलेगा और पारिभाषिक रूप से कहा जाए तो पितृसत्तात्मक सामन्तवादी मूल्यों पर बनी समाज-संरचना टूटने लगेगी और एक नवीन 'स्त्री-पुरुष समतामूलक' समाज का प्रारूप उभरकर सामने आएगा। इस प्रक्रिया में नए-नए क्षणजीवी ढाँचे उभरकर आते रहेंगे—जो अपनी परिणति में एक दीर्घजीवी ढाँचा बना सकेंगे। वैसे ध्यान से देखें तो अभी ही 'जड़ पितृसत्तात्मक समाज' की चूलें हिलने लगी हैं, कारण है—बढ़ता हुआ विज्ञान, विश्व बाजारवादी प्रक्रिया तथा उससे विघटित होता संयुक्त परिवार एवं अनायास से घटित हो रहे स्त्री-सशक्तीकरण का दिन दूना रात चौगुना बढ़ता दौर। पर एक व्यवस्थित नीति को अपनाने से इस प्रक्रिया में तेजी आएगी।

जो नया ढाँचा बनेगा, वह स्त्री व पुरुष के बीच के सन्तुलित, स्वस्थ और प्रेममय सम्बन्ध पर आधारित होगा। अब तक की व्यवस्था में जारी रहे तथाकथित 'प्रेम' में अक्सर स्त्री की मजबूरी में एक समझौता या एकमुखी समर्पण का ऊबाऊ बासीपन का रूप रहा है। उसमें पुरुष व स्त्री के बीच की 'वृक्ष-लता', 'चाँद-चाँदनी', 'फूल-सुगन्ध', 'सागर-नदी' आदि के प्रतीकों से प्रतीकित विषम सम्बन्ध-संरचना को 'प्रेम' का नाम दिया है—आश्रयदाता-आश्रित, उत्पादक-उत्पादन, आधार-आधेय जैसे भावों से भरा रहा

है पुरुष-स्त्री का रिश्ता। या बहुत हुआ तो 'अर्द्धनारीश्वर' जैसे धार्मिक प्रतीकों द्वारा वह प्रतीकित किया गया, जहाँ नारी पुरुष की बराबर हैसियत में नहीं बल्कि पुरुष को 'ईश्वर' बनाने में उसकी अर्द्धांगिनी बनकर गुम होने को विवश है। पर, विडम्बना है कि ऐसी विषमता या नारी की विवशता में 'प्रेम' शब्द को बैठाया गया। नया ढाँचा ऐसे 'प्रेम' की विदाई करते हुए 'सच्चे प्रेम' की प्रतिष्ठा करेगा। स्त्री-पुरुष के बीच विज्ञानोपलब्ध भौतिक जीवन की समता के परिवेश में सच्ची 'दोस्ती'—हमराह रूप, नित नए-नए प्रेमल स्पन्दनों के तन्तुओं से बने अन्तरंग सम्बन्ध की रचना से वह ढाँचा परिपूरित होगा। तब, सच्ची लोकतांत्रिक जीवन दृष्टि पूरे समाज में उतर आएगी। यह यूटोपिया (दिवास्वप्न) सा लग सकता है अभी, पर एकदम वैसा है नहीं। इस ढाँचे की कुछ स्थूल भौतिक संरचना निम्नलिखित प्रकार से हो सकती है (वैसे यह ढाँचा सम्भावित है, पर क्या ही अच्छा हो यदि हम ही इसका प्रयोग-परीक्षा करना शुरू कर दें तथा मानवीय चेतना को सार्थक करें)।

नया सामाजिक ढाँचा 'विवाह' या 'परिवार' संस्था के सम्पूर्ण लोकतांत्रिकीकरण से युक्त, परन्तु इस प्रकार के 'विवाह' या 'परिवार' की भी अनिवार्यता से मुक्त होगा। उसमें किसी की पहचान उसके 'जन्म' से बढ़कर 'कर्म' या 'गुण' से होगी, पर जैविक पहचान एकमात्र माँ से होगी। स्त्री को 'विवाह' या बिना 'विवाह' के माँ बनने का अधिकार होगा और 'माँ' बनने या न बनने का पूरा अधिकार उसी का रहेगा। वह न चाहेगी तो उसे इसके लिए बाध्य नहीं किया जा सकेगा। बाध्यता सिर्फ वहीं रहेगी, जब कोई व्यक्ति अपनी किसी शक्ति का प्रयोग कर दूसरों को हानि पहुँचाए। स्त्री चाहे 'विवाह' से माँ बने या बिना 'विवाह' के; किसी पुरुष का प्रत्यक्ष सहारा लेकर माँ बने या विज्ञान के कृत्रिम गर्भाधान का सहारा लेकर—किसी स्थिति में उसके सम्मान में फर्क नहीं किया जाएगा तथा उस पर उंगली उठाने वालों पर 'मानहानि' का मामला बनेगा। साथ ही 'माँ' बनने की स्थिति में उसकी जिम्मेदारी व जरूरतों का ख्याल कर, राज्य एवं समाज उसे विशेष सम्मान एवं रियायतें प्रदान करेंगे—जैसा पूर्व उल्लिखित है। परन्तु, जब तक राज्य द्वारा 'जनसंख्या-स्थिरांक' छू लेने का लक्ष्य पूरा नहीं हो जाता, तब तक 'प्रति स्त्री सिर्फ एक बच्चा' की नीति पर चलना होगा; लक्ष्यपूर्ति के बाद 'प्रति स्त्री दो बच्चों तक का अधिकार' (भार नहीं) देना होगा। जैसा कि पहले भी कहा गया कि जिस प्रकार '1 लड़का + 1 लड़की' के सरकारी मॉडल ने 'सिर्फ दो लड़कों' की चाह का रूप ले लिया, उसी प्रकार 'प्रति स्त्री 1 बार प्रजनन या 1 बच्चा' लक्ष्यभूत रखने की नीति का प्रारंभिक कुपरिणाम (सदियों के पितृसत्तात्मक संस्कार वश) कन्या-भ्रूण/शिशु-हत्या कर या लिंग चयन द्वारा गर्भाधान कर एक बेटा जनमाने की प्रवृत्ति के रूप में घट सकता है। इसलिए 'कन्या हन्त्री प्रवृत्ति' पर लगाम कड़ा कसना होगा, जैसा कि पूर्व कथित है। नए ढाँचे में किसी स्त्री को माँ बनने की अनुमति तभी दी जाएगी, जब चिकित्सकीय टीम 'गर्भधारण के लिए जरूरी स्वास्थ्य-स्थिति' का प्रमाण पत्र दे देगी।

नया सामाजिक ढाँचा स्त्री के अस्तित्व को हीन ठहराने या उसका विनाश

करनेवाली, समूची सांस्कृतिक संरचना (कुप्रथाओं—सती, दहेज, देवदासी, वेश्या, डायन, पर्दा आदि, पर्वों—करवा चौथ, जिउतिया, रक्षाबन्धन, वस्त्राभूषणों, कलाओं आदि) में निहित लिंगभेदी वास्तविकताओं व प्रतीकों का ही नहीं, बल्कि वैसे लिंगभेदी औद्योगिक उत्पादनों (जो साइकिल, चप्पल, घड़ी, हेयर ड्राई आदि तक में जा उतरा है, चूड़ी-सिन्दूर-फैक्टरी आदि तो पहले से हैं ही) का भी उच्छेदन कर चुका होगा। सांस्कृतिक संरचना के पर्वोत्सवों को नई लोकतांत्रिक दृष्टि से पुनः संयोजित करना होगा, ताकि सांस्कृतिक मन खाली-खाली न हो जाए और इससे जीवन का रस क्षीण न हो। लिंगभेद-कारी व्यवस्था के जनक और उसे चिरस्थायी बनाए रखनेवाले शास्त्रों को भी नई व्यवस्था दफना या संशोधित कर चुकी होगी।

कैरियर-क्षेत्र में ही नहीं, नया ढाँचा जीवन के तमाम सुखों में भी स्त्री को पुरुष के बराबर भागीदार बनाएगा। यह भागीदारी, यौन-सुख के क्षेत्र में भी—अधिक नहीं तो कम से कम समान रहेगी स्त्री की। विज्ञान स्त्री की रति-क्रिया को गर्भाधान की अनिवार्यता से मुक्त कर इस दिशा में क्रान्तिकारी पहल कर ही चुका है। इससे स्त्री की मजबूरियाँ एक-एक कर समाप्त हुई हैं तथा पुरुष के बिल्कुल समान—अन्यून व्यक्तित्व हर क्षेत्र में उसे मिलने की सम्भावना बन गई है। विज्ञान ने इसी के साथ, सन्तान की इच्छा होने पर भी स्त्री को विवाह में बँधने अथवा पुरुष पर किसी प्रकार निर्भर रहने की बाध्यता से भी (वीर्य बैंक, टेस्टट्यूब बेबी (परखनली शिशु), क्लोनिंग आदि) छुटकारा दे दिया है। इतिहास में पहली बार स्त्री पुरुष की तरह सारी (तन/मन की) क्षमताओं से युक्त होकर भी, एक और महान ताकत (प्रजनन शक्ति) के कारण सृष्टि-संचालिका बनने की स्थिति में है। सब मिलाकर, नया ढाँचा समाज से पितृसत्ता के सभी गुण-सूत्रों के समूल नाश करते हुए ‘स्त्री-केन्द्रित लोकतंत्रीय वैज्ञानिक समाज’ के उभरने की जगह बनाएगा। इस स्थिति में व्यक्तिगत पितृत्व की अवधारणा निरर्थक हो जाएगी, पर व्यक्तिगत मातृत्व और मजबूती से छा जाएगा। तब, माँ ही बच्चों की प्रधान-अभिभावक रहेगी—‘बाप को सामाजिक समझौते द्वारा उस स्थिति में गौण अभिभावकत्व मिल सकता है, जब वह विवाह/सहजीवन में बँधा, स्त्री के सन्तान-पालन या गृहकार्य में बराबर का हिस्सेदार रहेगा। अन्यथा, जैसा कि ओशो रजनीश कहते हैं, ‘बाप’ का स्थान ‘अंकल’ ले लेंगे। बात सही है। क्लोन या वीर्य-बैंक के सहारे जन्मी सन्तान का व्यक्ति-विशेष ‘बाप’ कैसे हो सकता है? जैविक माँ की तुलना में या सेरोगेट मदर (किराए पर कोख देनेवाली माँ) की अपेक्षा पालनकर्त्री, निर्मात्री या धात्री माँ का अभिभावकत्व पुष्ट माना जाएगा। चूँकि ‘स्थिरीकरण’ के लक्ष्य पूरा होने के पहले, ‘प्रति स्त्री एक बच्चा’ की नीति चलेगी, इसलिए किसी के बेटा होगा, किसी के बेटी। तब, सगे भाई-बहन का रिश्ता भले न बन पाए (वैसे—अब तक भी ऐसा बन पाना कोई जरूरी नहीं रह सका है।), पर सामाजिक स्तर पर भाई-बहन का प्रेम-प्रेरित रिश्ता बना रहेगा। बच्चों का पालन करने में माँ चाहे अकेली हिस्सा ले या अपने पुरुष-साथी के साथ, पर राज्य माँ को सन्तानार्थ आर्थिक संरक्षण,

प्रसवावकाश, कार्यालय में भी बच्चों को साथ रखने व स्तनपान कराने की छूट व सुविधा सुनिश्चित किए रहेगा। शेष सारे सन्दर्भों में, हर तरह से स्त्री-पुरुष के आर्थिक अधिकार बराबर रहेंगे।

नए समाज में लड़के-लड़की के बीच के किसी प्रकार के प्रेम एक साथ रहने या यौन-सम्बन्ध पर आपत्ति न होगी, यदि गर्भ-निरोध के साथ वे रहें। पर, अवयस्क स्थिति में उन्हें यौन-क्रिया से दूर रखने की सामाजिक नैतिकता रहेगी। कारण यह है कि लड़की को अनैच्छिक गर्भ-भार एवं राज्य को जनसंख्या-वृद्धि से बचाए रखने का लक्ष्य बराबर बना रहेगा। इसके साथ, राज्य नागरिक-स्वतन्त्रता का हर तरह से सम्मान करेगा तथा उसी के तहत, विषमलिंगी सेक्स के अलावा समलैंगिक-समयौनिक सम्बन्धों को भी दो नागरिकों का आपसी मामला मानकर उसमें टाँग नहीं अड़ाएगा।

नवीन ढाँचे में चूँकि 'विवाह' करना गुनाह नहीं माना जा रहा होगा, इसलिए 'विवाह-बन्धन' में बँधने की इच्छा से युवक-युवती राज्य के पास जाते हैं तो राज्य उन्हें अनुमति देगा, पर कानूनी शर्त पूरी करने की स्थिति में ही। कानूनी शर्त में, दोनों की समवयस्कता (उम्र की लगभग समानता), आपसी रजामन्दी और राज्य द्वारा निर्धारित न्यूनतम विवाह-उम्र पूरी करनी होगी। विवाह की न्यूनतम उम्र का निर्धारण राज्य लड़के-लड़की के लिए समान ही करेगा तथा चिकित्सकीय दृष्टि से उनमें वयस्कता आने पर ही कोई उम्र अनुशंसित करेगा न्यूनतम उम्र के रूप में। कानूनी शर्त पूरी करने के अलावा, विवाहेच्छुओं को यह वांछनीय रहेगा कि वे मेधा (I.Q.), भावना और जीवन-दृष्टि में आपसी सामञ्जस्य व सहमति पर ही विवाह-सूत्र में बँधें। पर, इन बातों का निर्धारण उन्हें खुद करना होगा—राज्य केवल सहारा दे सकता है। विवाह की सभी प्रचलित मजहबी या जातीय विधियाँ राज्य समाप्त कर देगा, क्योंकि पुरुष वर्चस्व-परक या स्त्री विरोधी प्रतीकों (मंगलसूत्र, सिन्दूर, कंगन आदि) से भरीं या अपर्याप्त हैं वे। साथ ही, 'समान नागरिक संहिता' के निर्माण की दृष्टि से भी उन्हें निरस्त कर एक 'सिविल मैरिज एक्ट' पास करके रखना होगा। उसके अन्तर्गत रीति यह रहेगी कि अपने बन रहे रिश्ते को, वे कोर्ट में जाकर, निर्धारित औपचारिकताएँ पूरी करते हुए उससे मुहर लगवा लें। बस। विवाहेच्छु युवक-युवती के द्वारा कानूनी शर्त पूरी करने के प्रति सन्तुष्ट होने के साथ, राज्य यह भी देखेगा कि वर्तमान समय में उनका किसी के साथ विवाह-सम्बन्ध न चल रहा हो। पर, यह छानबीन करना उसका काम नहीं रहेगा कि पहले से विद्यमान सामाजिकता में वे किसी पूर्व रिश्ते में आते हैं अथवा कितनी बार विवाहित/तलाकशुदा रह चुके हैं या कुँवारे हैं। अर्थात् राज्य—जात, मजहब, गोत्र या रक्त-सम्बन्ध गत किसी परिभाषा को नहीं मानेगा। वैसे भी मुख्य बात सदा यही स्पष्ट रहेगी कि नया ढाँचा रक्त-सम्बन्ध को कुछ खास तरजीह देने में विश्वास न करेगा, बल्कि प्रेम से बने रिश्तों को अधिक प्रामाणिक मानेगा। [यहाँ, एक बात पर राज्य को विचार करना होगा कि सगे भाई-बहन को इस विवाह-परिधि से मुक्त रखते हुए स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में से एक विशिष्ट मधुरतामय, प्रदीर्घ सांस्कृतिक सम्बन्ध का यह

आयाम सुरक्षित रखें या उन्हें भी विवाह-परिधि में आने की इजाजत दे दें।] विवाह का रिश्ता बनाने की अनुमति राज्य समाज के सहयोग से दोनों के प्रेम के प्रति आश्वस्त होने के बाद और उनके पहले से चल रहे किसी विवाह की गैर मौजूदगी प्रमाणित होने पर ही देगा—यानी जल्दबाजी नहीं करेगा—पर, तलाक के केस का निपटारा बहुत आसान बना दिया जाएगा। दोनों में से किसी एक की तरफ से अविश्वास प्रकट कर देने मात्र से राज्य उनके विवाह-पंजीयन को रद्द कर देगा पर सोच-समझ लेने हेतु 2-4 मास का समय देकर। बाल-विवाह की अनुमति राज्य नहीं देगा, पर दो हमउम्र बच्चों के ऐसे आग्रह को कानूनी संरक्षण प्रदान करेगा तथा 'निर्धारित उम्र' होने पर (उनके आग्रह के बरकरार रहने की स्थिति में) विवाह अनुमत करेगा। नया सामाजिक ढाँचा विवाह-संस्था (व परिवार-संस्था) को पूरी तरह बल देगा। वह 'आदर्श विवाह' की इस परिभाषा को मानेगा, जिसमें विवाह करने जा रहे स्त्री-पुरुष हर दृष्टि से जोड़ के हों तथा यह समानता उनमें कर्म, भोग व त्याग के हर पहलू में, अन्त तक बरकरार रहे। इसमें व्यतिरेक या अन्त आने पर उनके विवाह को भी अन्त हुआ घोषित कर दिया जाएगा। 'विवाह' के उपरान्त दोनों जीवन-साथियों के आवास या निर्वाह की दृष्टि से कई स्थितियाँ सम्भव होंगी—जिनमें से किसी के प्रति राज्य को आपत्ति न होगी यदि वह स्त्री को पुरुष की अपेक्षा व्यक्तित्व-हीनता (प्रतीकात्मक या वास्तविक) की ओर न ले जाती हो। इस प्रकार की दो स्थितियाँ नीचे प्रस्तुत हैं—

- (i) विवाह के बाद स्त्री व पुरुष दोनों अपने-अपने घरों से अलग, किसी नवीन निवास स्थान का निर्माण कर सकते हैं—जिसमें रहते दोनों अपने-अपने घरों (माँ-बाप) से समान भावात्मक निकटता/दूरी में रहेंगे। यानी, विवाह बाद न स्त्री पुरुष के परिवार में घुलेगी, न पुरुष स्त्री के परिवार में घुलेगा। पर, उनके माँ-बाप वृद्ध होंगे, तो कौन देखभाल करेगा?—अतः, उस स्थिति में दोनों के परिवार एकत्रित होकर एक परिवार में ढल जाएँगे। यह संगम कोई जरूरी नहीं कि उनके बुढ़ापे में ही हो, विवाह समय भी हो सकता है। ध्यान सिर्फ ये रखना होगा कि लड़की की ही पहचान निगल लेने की प्रवृत्ति से विवाह-व्यवस्था को बचाया जाए। लड़के व लड़की दोनों अपनी पहचान आधी-आधी मिटाकर एक समंजित पहचान [नाम, रीति-रिवाज, संस्कार, अर्थ, मजहब, अधिकार-कर्तव्य, भाषा-भूषा सबमें] बना लें, तो यही तो विवाह-संस्था का आदर्श है। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर व्यक्तित्व दोनों का होना यहाँ एक ध्यातव्य तथ्य है।

यदि दोनों नौकरी-पेशा हैं और स्थान अलग-अलग हैं, तो राज्य अनुकम्पा के आधार पर उन्हें एकत्रित करने की व्यवस्था करेगा। यदि, राज्य को उसमें किसी व्यावहारिक कठिनाई से गुजरना पड़े—तो स्त्री या पुरुष किसी को अपनी नौकरी त्याग कर एकत्रित होने की जरूरत नहीं। वे अलग-अलग रहें तथा सिर्फ छुट्टियों में साथ रहें। वैसे भी विज्ञान ने दूरी कहाँ रहने दी है कि ज्यादा खटकने की बात है?

- (ii) परम्परागत पेशा वाले स्त्री-पुरुष हों तो विवाहोपरान्त, स्त्री व पुरुष आधा-आधा समय [जैसे 4-4, 6-6 माह] एक दूसरे के घर में बिताएँगे। यानी, बिना किसी एक के घर में विलीन हुए सदा साथ रहने का सुख भोगेंगे। अपने माँ-बाप की वृद्धावस्था होने पर दोनों घरों को मिलाकर उन्हें एक परिवार बना लेना चाहिए।

यानी, इस प्रकार की विवाह-व्यवस्था में दो जनों [युवक-युवती] के बहाने दो परिवार मिलाकर एक नए परिवार की रचना की सम्भावना है। तब इस नवीन परिवार में कुल 7 सदस्य होंगे—विवाहित जोड़ा (2)+उनके माँ-बाप (2×2)+उनका 1 बच्चा (लड़का या लड़की)। स्मरणीय है कि 1 सन्तान की यह व्यवस्था तब तक जारी रखी जाएगी जब तक एक सुविधाजनक संख्या तक आकर राज्य जनसंख्या स्थिर न कर ले।

समाज के नए ढाँचे के बारे में नाना तरह से सोचा जा सकता है, परन्तु इतना सुनिश्चित रखें कि कुछ भी सोचें तो जेंडर-जनित तमाम भेदभावों के अन्त की शुभकामना के साथ ही। वही ढाँचा जनसंख्या-नियोजन का सम्यक् उपाय भी होगा तथा नियोजन की पूर्व विवेचित नीति के पालन का सम्यक् परिणाम भी। वही ढाँचा स्त्री को पूर्ण व्यक्तित्व प्रदान करेगा और हमें पता हो चुका है कि बिना वैसा सुनिश्चित किए जनवृद्धि पर लगाम लगाने चलेंगे तो उपाय अमानवीय होते जाएँगे। सबसे मुख्य बात तो यह है कि नारी को बिना 'व्यक्तित्व' उपलब्ध कराए या उसे 'सशक्त' किए बिना जनसंख्या समस्या सुलझेगी भी नहीं।

जनसंख्या-नियोजन की इच्छा : सशक्त स्त्री की प्रतीक्षा

स्त्री के सशक्तीकरण का अर्थ है पितृसत्तावादी संरचना द्वारा किए जा रहे नारी के बहुमुखी अबलाकरण को समाप्त करते हुए उसे पुरुष के समान संख्या, गुणवत्ता व व्यक्तित्व के सभी आयामों में उसके समान समर्थ बनाना। संक्षेप में, 'सशक्त स्त्री' का तात्पर्य निम्नलिखित तरह से समझ लें—

- (i) स्त्री-देह की मुक्ति, यानी उसकी श्रम शक्ति, यौन व प्रजनन शक्ति का अपने मनोवांछित उपयोग का स्त्री को अधिकार। अपनी देह पर से हर उस बोझ (चाहे गहने-कपड़ों या बालों के हों) को उतार देना, जो प्रकृति ने नहीं, 'संस्कृति' ने दिए हैं तथा जो उसे देह स्तर पर पुरुष के समकक्ष खड़ी होने में बाधक बनते हैं (कारण—(i) समय-नाश एवं (ii) असहज भार का कष्ट)। उसके बाद, पुरुष के बराबर स्वस्थ-सबल व चुस्ती-फुर्ती से युक्त हो जाना। इसका साधन—नित व्यायाम, योग-कसरत, खेलकूद, जूडो-कराटे आदि की नित्यता बनाए रखना, चाहे किसी जगह हो या किसी उम्र या सामाजिक स्थिति में हो स्त्री।
- (ii) सहज-प्राप्त निसर्ग-अधिकार (यानी, हवा-पानी-धूप, घूमना-टहलना, दोस्ती-प्रेम,

खान-पान, यौन-सुख, मनोरंजन, शिक्षा आदि) और आधुनिकताजन्य सारी भौतिक सुविधाओं के इस्तेमाल में स्वतन्त्र-सक्षम होकर इनसे नित्य संयुक्त रहना।

- (iii) सुशिक्षित/प्रशिक्षित होकर आधुनिक जीवन की हजारों भूमिकाओं में से मनपसन्द भूमिका में ढलना और उसके जरिए अपनी जरूरतों की पूर्ति में आत्मनिर्भर बनी रहना। यानी, घरेलूकरण से बची रहकर, अध्यापक, डॉक्टर, इंजीनियर, खिलाड़ी, पत्रकार, समाजसेवी, पायलट/बस-ड्राइवर, पुलिस, सैनिक, नेता, वैज्ञानिक, अभिनेत्री, मीडियाकर्मी, पत्रकार, वकील-जज, प्रशासक आदि हजारों क्षेत्रों में से किसी मनपसन्द क्षेत्र का चयन करना। परन्तु, लिंग-भेद के आधार पर स्त्री के लिए बनाए गए किसी क्षेत्र (जैसे—एयर होस्टेस आदि) का तब तक बहिष्कार किए रखना, जब तक उसकी संरचना स्त्री-पुरुष की बराबरी वाली एवं लोकतांत्रिक मूल्य पर न बने।
- (iv) प्रकृति प्रदत्त कुछ बाध्यताओं-पीड़ाओं (जैसे मासिक स्राव, गर्भ-भय आदि) को विज्ञान की खोजों द्वारा नियन्त्रित/समाप्त कर, हर भोग व कर्म में पुरुष के बराबर संलग्न रहना। इसके लिए उसे मानव-शारीरिकी, कामशास्त्रीय ज्ञान आदि से अपनी देह के रहस्यों, क्षमताओं व सम्भावनाओं से अवगत होना होगा।
- (v) पितृसत्तात्मक विचारों/संस्कारों एवं उनके स्रोत बने शास्त्रों से मुक्त-मन होकर, सेक्यूलर (इहलौकिक) मानदंडों पर बनी जीवन-दृष्टि रखना तथा 'स्त्रीत्व', 'मातृत्व', 'पुरुषत्व' या 'मर्दानगी' जैसे किसी पुराने-नए मिथ में विश्वास न करना।

अर्थात् 'सशक्त' या पूर्ण व्यक्तित्वशाली स्त्री का एक वाक्य में अर्थ है—“स्त्री की प्रकृतिप्रदत्त कतिपय विशिष्ट जैविकताओं का विज्ञान के सहारे पुनः नियोजन करते हुए, जेंडर की सांस्कृतिक घटनाओं का समूल उच्छेदन कर चुकी—अतएव कर्म-त्याग-भोग में बिलकुल पुरुष की तरह क्षमतावान हो गई स्त्री।” ऐसी स्त्री का स्वागत करने के लिए हम प्रतीक्षारत हैं। यह स्त्री जब आएगी तो जनसंख्या की भीषण समस्या से पूरे समाज को निजात दिलाएगी। कैसे? सो तो आप अच्छी तरह से सोच ही सकते/सकती हैं। यह 'नई स्त्री' ही पूर्ण अर्थ में स्वतन्त्र स्त्री होगी। डॉ. अमर्त्य सेन ने भी स्त्री के स्वातंत्र्य में ही जनसंख्या-समस्या का समाधान देखा है। 'आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य' पुस्तक में उनका कथन है—“अन्य अनेक सामाजिक समस्याओं की भाँति ही जनसंख्या समस्या का समाधान भी समाज के उन सदस्यों के स्वातंत्र्य-संवर्धन में ही छुपा है, जिन्हें बारंबार प्रसव एवं शिशुपालन के प्रत्यक्ष प्रभाव भुगतने पड़ रहे हैं। ये सदस्य हैं युवा नारियाँ। जनसंख्या-समस्या के समाधान के लिए भी स्वातंत्र्य-संवर्धन की ही आवश्यकता है उसके परिसीमन की नहीं।” हमें देखना चाहिए कि नारी का रुतबा जहाँ भी बढ़ा है, उसे

अपनी बात कहने का अधिकार मिला है, वहीं जनन-दर में गिरावट आने लगी है। साथ ही, बालिकाओं के मानवाधिकार एवं जीवन-सम्भावना में भी बढ़ोतरी हुई है। फिर, यह 'नई नारी' तो और जबरदस्त होगी—सुशिक्षित, वैज्ञानिक जीवन दृष्टि से सम्पन्न, बहुआयामी भूमिकाओं में ढली तथा सोशल लाइफ की दीप्ति से भरी। यही स्त्री इस पुस्तक में बार-बार संकेतित विमर्श-दशा में खुद ही खड़ी हो सकती है। यही स्त्री समझेगी कि जनसंख्या वृद्धि, लिंगानुपात की गड़बड़ी एवं स्त्री-अधिकारों का व्यापक हनन कितनी बड़ी समस्या है। इसका कारण क्या है? किसलिए इसे दूर किया जाए? कैसे दूर किया जाए? यही स्त्री यह सब समझेगी। वह समझेगी कि समाज या राष्ट्र के लिए तो जनाधिक्य बाद में बोझ है, सबसे पहले तो मेरे या मुझ जैसी तमाम बहनों के लिए घातक बोझ है जनन-आधिक्य। एक भी बच्चा फालतू पैदा करने का अर्थ है कि हो गई अगले चाल-पाँच सालों के लिए छुट्टी। अपने दैनिक सम्भावनाशील जीवन से कटकर पड़ गई पीड़ा भरी बाध्यता में। यही स्त्री जनवृद्धि के मूल कारण पितृसत्ता से अवगत होगी तथा स्वयं को कारण समझने की हीन भावना से मुक्त होगी। शिक्षा से चिन्तनशील और रोजगार में व्यस्त हुई यह स्त्री स्वतः विरत हो जाएगी जनन की अधिकता से, क्योंकि वह इस विकास/उन्नति-क्रम को तोड़ देती है। व्यक्तित्व या सोशल लाइफ का स्वाद पा चुकी यही स्त्री एक बार भी प्रजनन करने के निर्णय तक पहुँचने के पहले सैकड़ों बार सोचेगी—सेहत, चाहत, जरूरत आदि सन्दर्भों में, क्योंकि बच्चा जनमाना उसकी देह-पीड़ा, समय-हानि एवं व्यक्तित्व-लोप से जुड़ा हुआ है। ऐसी स्त्री 'दुविधा' कहानी (विजयदान देथा) या उस पर बनी 'पहेली' फिल्म में आए ग्रामीण दम्पति के सहज बोध—'बेटा कौन सा स्वर्ग ले जाता है?'—से आगे बढ़कर 'जन्नत की हकीकत' को विज्ञान के बल पर समझेगी। तब, आरोपित पुत्र-मोह से मुक्त होकर, पुत्र जनन की आशा में थोपी गई अन्धी हवस में, स्वयं को जनवृद्धि-मशीन बनाए जाने या कन्या-गर्भपातों के चक्र में डाले जाने के खिलाफ विद्रोह कर देगी। न सिर्फ स्वयं विद्रोह करेगी, बल्कि उसकी आग आसपास की बहनों में भी भर देगी। यह असम्भव तो कतई नहीं है। आज से सत्तर वर्ष पूर्व 'विश्वमित्र' पत्रिका (फरवरी, 1935) के एक लेख में कुट्टन नायर का यह विश्वास प्रकट हुआ था कि स्त्रियों में जब इतना आत्मबल आ जाएगा कि पुरुषों (पतियों) की असंयत कामवासनाओं का प्रतिरोध कर सकें, तो उस समय सन्तान-निग्रह की समस्या अपने-आप हल हो जाएगी [स्रोत—'स्वाधीनता संग्राम, हिन्दी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र']। मुक्त देह के अहसास से भरी स्त्री बच्चा पैदा करने या न करने के अपने अधिकार का जब उपयोग करेगी, तब किसकी हिम्मत है जो उसे रोक सके? तब उसके पास न सिर्फ सबल-सब विधि समर्थ अपनी देह होगी, बल्कि उसके सामर्थ्य का विस्तारक विज्ञान व प्रौद्योगिकी भी होगी—उसके पास (पहले के शास्त्रीय कूड़ों को राख बनाने के बाद) स्वयं रचित नवीन शास्त्रों की प्रज्ञा भी होगी और फिर पद के साथ अर्थ का भी बल होगा उसके पास।

ऐसी समर्थ स्त्री यदि अध्यापिका के रूप में होगी तो नई पीढ़ी (खासकर

किशोरियों-नवयुवतियों में इस भीषण समस्या के प्रति चेतना जगाएगी। फिर, चेतना भी मामूली तरह से जगाएगी? नहीं। ऐसी नई औरत का युग आएगा तो हर किशोरी ऐन फ्रैंक होगी। हर किशोरी वैसा ही प्रखर, चिन्तनशील उद्घोष करेगी, जैसा महज 14-15 साल की उम्र में फ्रैंक ने डायरी में संजोया था—“आम तौर पर युद्ध लड़नेवाले वीर को जितनी तकलीफ, पीड़ा, बीमारी और यन्त्रणा से गुजरना पड़ता है, उससे कहीं अधिक तकलीफें औरत बच्चे को जन्म देते समय झेलती है और इन सारी तकलीफों से गुजरने के बाद उसे पुरस्कार क्या मिलता है? जब बच्चा जनने के बाद उसका शरीर अपना आकर्षण खो देता है तो उसे एक तरफ धकिया दिया जाता है। उसके बच्चे उसे छोड़ देते हैं...पुरुषों को यह बात सीखनी चाहिए कि संसार के जिन हिस्सों को हम सभ्य कहते हैं—वहाँ जन्म अनिवार्य और टाला न जा सकनेवाला काम नहीं रह गया है।...मेरा विश्वास है कि अगली सदी आने तक यह मान्यता बदल चुकी होगी कि बच्चे पैदा करना औरतों का ही काम है। औरतें ज्यादा सम्मान और सराहना की हकदार बनेंगी।” (‘ऐन फ्रैंक की डायरी’, पृष्ठ 297 एवं 298) सोचेगी यह हर किशोरी और फ्रैंक के विश्वास को कम से कम अपने व्यक्तिगत स्तर पर तत्काल सत्य बना देगी। यह होगी नई नारी की अहमियत। ऐसी स्त्री ही हमारे समाज में सुशीला, मिनाती जैसी हिम्मतवर बच्चियों की फौज खड़ी कर सकती है—जो अपने ऊपर जबरन थोपे जा रहे विवाह—वह भी बाल व अनमेल विवाह—के खिलाफ खड़ी होकर पितृसत्तात्मक व्यवस्था को करारा तमाचा लगा सकती है; जो किसी पढ़-लिखकर आत्मनिर्भर हो रही लड़की की पढ़ाई छुड़वाकर किसी प्रौढ़/अधेड़ मर्द की बिस्तर पर जबरन भेज देनेवाली वेश्यावृत्ति को सहज सांस्कृतिक घटना (विवाह) का नाम दिए हुए है। इन बच्चियों के ऐसे कर्म को आखिर राष्ट्र की सरकार ने भी 2006 ई. में ‘राष्ट्रीय वीरता’ का पुरस्कार प्रदान कर नवाजा है। जिस समाज में स्त्री की ‘वीरता’ अधिकाधिक बच्चे पैदा करना या ‘पतिव्रता’ होना मानी जाती हो या मर्दों की वासनाकुल आँखों के सामने कौशल और उतावलेपन से कपड़े उतार फेंकनेवाली स्त्री की मजबूरी को ‘बोल्डनेस’ कहा जा रहा हो—वहाँ सचमुच की ये बहादुर बच्चियाँ कितनी प्यारी हैं। पितृसत्ता को पड़ा उनका तमाचा कितना प्यारा है! आखिर सरकार को भी उन्होंने मनवाया कि ‘पितृसत्ता से लड़ना भी राष्ट्रीय वीरता है’। ऐसी बच्चियाँ खड़ी कौन कर रहा है? यही हमारी प्रतीक्ष्य ‘नई नारी’। बंगाल के मुर्शिदाबाद की बच्ची बिलकिस खातून, बाल-विवाह से अभियान की तरह लड़ रही है। उसे किसने खड़ा किया? इसी ‘नई नारी’ ने।

यह नारी यदि डॉक्टर बगती है तो अपने पीड़ानुभव से, परिवार-नियोजन कार्यक्रम को जीवन-मरण के प्रश्न की तरह लेगी। वैज्ञानिक होगी तो अनुसन्धान की धारा ही बदल देगी—गर्भ-निरोधक साधनों का शोध-केन्द्र पुरुष-देह की तरफ अधिक घुमाएगी। यह स्त्री संसद-विधानमंडलों में, न्यायालयों में आधी संख्या में पहुँचेगी तो विधानों की नवीन रचना करेगी—स्त्री-मात्र को देह-मुक्ति, परम्परा-मुक्ति देकर उसे सबल करनेवाले विधानों के साथ, पुरुष के लिए नसबन्दी को अनिवार्य बनाना जन्मदर गिराने का माकूल

तरीका समझेगी। फिर बड़ी संख्या में प्रशासनिक अधिकारी या पुलिस-कर्मि बनी ऐसी स्त्री उन विधानों का समाज में कठोरता से पालन करवाएगी। यह नारी चाहे किसी क्षेत्र में सफलता पाकर खड़ी हुई कि सेलिब्रिटी बनेगी ही। फिर उसके प्रेरक किसी कथन की ताकत कई गुणा बढ़ेगी। अपनी उस ताकत का इस्तेमाल वह जनसंख्या समस्या को करेगी।

संक्षेप में, यह 'नई-नारी' आई (चाहे किसी रूप में) कि जनसंख्या जैसी ज्वलंत समस्या स्वतः सुलझने लगेगी, जो सारी समस्याओं का आधार है। उसके साथ, लिंगानुपात को सही करने में ऐसी नारी की भूमिका सक्रिय रूप में ही नहीं, प्रेरक रूप में भी महत्वपूर्ण होगी। ऐसी नारी से पुरुष-समुदाय भी बदलेगा, नारी-समुदाय भी बदलेगा। फिर, समाधान चल निकलेगा। पर कब? यह मत पूछिए, बल्कि आँखें खोलकर सामने देखिए, वह आ रही है। अभी उसकी धारा कुछ क्षीण है—पर शुरुआती होने से ऐसा है। दिखता नहीं? किस तेजी से दिन-दूनी रात चौगुनी 'ऐसी स्त्री' से संस्करण बढ़ते जा रहे हैं। हर साल ऐसी स्त्री 'लड़कों से भी ज्यादा प्रतिशत में सफलता' द्वारा स्कूलों में छा रही है, हर साल वह आगे बढ़कर हर विभाग में घुस रही है—चाहे देहबल का कार्य हो या दिमाग-बल का। हर साल ऐसी स्त्री के बढ़ते जाने से सामाजिक परिवर्तन भी बढ़ रहा है। आपको नहीं दिखता तो समझिए, आँखों पर पितृसत्तात्मक पर्दा पड़ा हुआ है। पर्दे को हटाइए और देखिए पितृसत्तात्मक (विवाह/परिवार एवं) समाज की हिल रही चूलों को और बदल रहे स्त्री-पुरुष के बीच के सामाजिक समीकरण को। एक समय आएगा कि यह कार्य मुकम्मल होगा। बस, हठ छोड़िए, मोह छोड़िए बासी पड़ चुके, सड़ चुके पुराने मूल्यों का। बस इस नई नारी के समर्थन में रहिए। यह आपकी समाज-संरचना को विषम की जगह सुषम बनाएगी—लिंगानुपात सन्तुलित, जनाधिक्य-मुक्त और समतुल विकासयुक्त। स्त्री एवं पुरुष के बीच समत्व और प्रीति-स्नेह के रिश्ते से मनोहर—अकुण्ठ और तृप्तिकर।

उपसंहार

इस तरह, इस पुस्तक में यह प्रतिपादित किया गया है कि सारी समस्याओं के आधाररूप में मौजूद 'जनसंख्या-समस्या' का मूल अर्थ है—स्त्री की देह व मन को (पुरुषसत्ता द्वारा) गिरफ्त में लेकर, उसे वासना-पूर्ति का साधन, घरेलू-बीमार जनन-मशीन, गर्भ-निरोध की प्रयोगशाला, गर्भपात का कसाईघर आदि बना देना और इस विधि से स्त्री को व्यक्तित्व लोप व विविध दैहिक-मानसिक पीड़ाओं से संतुष्ट कर देना। इसके साथ, दुनिया से स्त्री-जाति को मिटाने की कलंक-कोशिशों में सदियों से लगे रहना भी जनसंख्या-समस्या का ही हिस्सा है तथा देह-मण्डियों में अबोध बच्चियों व युवती स्त्रियों को ठूँसा जाना भी जनसंख्या-समस्या का ही हिस्सा है। यह सारा कार्य पितृसत्ता का है, जो सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक ही नहीं, कभी-कभी वैज्ञानिक स्तर पर भी कार्यरत रही है। इसलिए, जनसंख्या-समस्या के सम्यक् निवारण या जनसंख्या के परिसीमन

अथवा नियोजन का लक्ष्य तभी पूर्ण होगा, जब 'पितृसत्ता' का बुनियादी अन्त और उसके द्वारा 'सुहाग' (=भोग)-कक्ष, जच्चाघर, रसोईघर आदि में कैद कर दी गई औरत को रिहा कर, बाहरी दुनिया में लाकर उसका आधुनिक तरीकों से सशक्तीकरण होगा तथा लिंगानुपात सन्तुलित होगा। यानी, जनसंख्या-समस्या का सही विमर्श स्त्री की सारी समस्याओं के स्रोत 'पितृसत्ता' के चरित्र की छानबीन के जरिए प्रायः सम्पूर्ण स्त्री-समस्या का एकत्रित पाठ बन जाता है। इस तरह के विमर्श से ही 'सन्तुलित समाज' की स्थिति बनेगी तथा हमारा जीवन अधिकाधिक उन्नत-विकसित, पर समरस व सुख-शान्ति से युक्त होगा और होगा स्त्री-पुरुष के स्वस्थ रिश्तों से महमहाता।

यानी, कहना यह है कि जननाधिक्य-बाध्यता से स्त्री की मुक्ति से, उसकी शिक्षा, रोजगार, रुतबे आदि में वृद्धि होगी तथा सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्रों में उसकी भूमिकाएँ बृहत् होंगी, जिससे स्त्री से जुड़ी कई समस्याओं की ओर ध्यान जाना शुरू होगा। वे समस्याएँ आज तक पितृसत्तावादी चश्मे से ग्रस्त रही राजनीति, प्रशासन, कानून आदि तन्त्रों में आसीन लोगों को अक्सर दिखी ही नहीं हैं—जो इस पुस्तक में जनसंख्या-विमर्श के जरिए निकलकर आई हैं। नारी की बृहत्तर भूमिका सम्भव होने से न सिर्फ ये नारीवादी मुद्दे ही हल होंगे, बल्कि हिंसात्मक गतिविधियों में हास तथा समाज के सामान्य कुशलक्षेम की संरक्षा व वृद्धि भी सम्भव होगी। कारण यह है कि अपनी अधिक सशक्त भूमिका के माध्यम से नारी न केवल अपना जीवन अभाव-मुक्त व समृद्धियुक्त बनाती है, बल्कि अनेक जीवनों (विशेषतः बालक-बालिकाओं, वहाँ भी विशेषतः बालिकाओं) की भी संरक्षिका बनती है। फिर, सहज रूप से सन्तानों (विशेषकर बच्चियों) को शिक्षित व आत्मनिर्भर बनाने में वह सहयोगी होती है। परन्तु, समाज-स्वार्थ के कारण नहीं, बल्कि स्त्री के अपने हित में उसे बृहत्तर भूमिकाएँ मिलनी चाहिए और उसके लिए सबसे जरूरी होगी जनन-बाध्यता से उसकी मुक्ति यानी प्रजनन शक्ति (व यौन शक्ति) पर उसका अपना अधिकार। यानी, स्त्री की 'देह-स्वतन्त्रता'। यही इस पुस्तकीय विमर्श का केन्द्रीय तत्त्व है।

यह विमर्श किन्हीं मान्य संस्थाओं में ही केन्द्रीकृत नहीं होना चाहिए, बल्कि इसका स्वरूप भी लोकतांत्रिक आदर्शों के अनुरूप विकेन्द्रीकृत होना चाहिए। सरकारी-गैरसरकारी अनुसंधानों, सर्वेक्षणों, सेमिनारों, शिक्षालयों के पाठ्यक्रमों एवं उपाधि-प्रबन्धों (थीसिसों), प्रश्नपत्रों, कक्षा-परिचर्चाओं आदि के साथ चुनावी मुद्दों के द्वारा भी इस विमर्श को आकार लेना होगा। यदि ऐसा नहीं होता है तो मान लेना चाहिए कि हमारी समूची बौद्धिक प्रक्रिया अपंग और असामाजिक वाग्-विलास के सिवा कुछ भी नहीं है। ध्यातव्य है कि इस रास्ते से किया गया जनसंख्या-विमर्श ही समता आधारित और मानवीय होने से, न सिर्फ लिंगभेद-मुक्त लोकतन्त्र की संवैधानिक प्रतिबद्धता के संगत होगा, बल्कि सर्वांग-समाहारी होने से वैज्ञानिक भी होगा।

संलग्नक : (क) उपकारक और सन्दर्भ ग्रन्थादि की सूची

हिन्दी

(i) पुस्तकें

अनंग-रंग (—कल्याण मल्ल)—अंकुर पब्लिकेशन्ज, दिल्ली।

आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य (—अमर्त्य सेन)—राजपाल एंड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली।

इज़ाडोरा की प्रेमकथा (—इज़ाडोरा डंकन/अनुवाद-युगांक धीर)—संवाद प्रकाशन, मेरठ।

ऐन फ्रैंक की डायरी (—ऐन फ्रैंक/अनुवाद-सूरज प्रकाश)—वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली।

औरत के हक में (—तसलीमा नसरीन/अनुवाद-मुनमुन सरकार)—वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली।

काम की बातें (—डॉ. प्रकाश कोठारी)—राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., दरियागंज, दिल्ली।

कुरान शरीफ—लखनऊ किताबघर प्रकाशन, लखनऊ।

क्लोनिंग (—विनीता सिंघल)—प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

गरीब महिलाएँ : उधार एवं रोजगार (—इन्दिरा मिश्र)—किताबघर प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली।

जनसंख्या भूगोल (—आर.सी. चान्दना)—कल्याणी पब्लिशर्स, लुधियाना।

दिवंगत बेटियाँ (—जगजीत सिंह)—फस्ट एडिशन, 67 लोअर ग्राउंड, कैलाश हिल्स, दिल्ली।

धर्मशास्त्र का इतिहास (—पांडुरंग वामन काणे)—उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

नारी : स्वास्थ्य और सौन्दर्य (डॉ. यतीश अग्रवाल, रेखा अग्रवाल)—राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., दरियागंज, दिल्ली।

पवित्र बाइबिल—बाइबिल सोसाइटी ऑफ इंडिया, बंगलोर।
 प्रेमी-प्रेमिका संवाद (—शरद देवड़ा)—किताबघर, दरियागंज, दिल्ली।
 बृहदारण्यकोपनिषद् (शांकर भाष्य सहित)—गीताप्रेस, गोरखपुर।
 भारत के प्रमुख देह बाजार और दस्तूर (—शैलाभ रावत),—नई सदी बुक हाउस,
 मुखर्जी नगर, दिल्ली।
 भारत में समाज (कोर्स कोड ESO-02)—इन्दिरा गांधी, राष्ट्रीय मुक्त वि.वि.,
 दिल्ली।
 भारत में सामाजिक समस्याएँ (कोर्स कोड ESO-06)—इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त
 वि.वि., दिल्ली।
 भारत : विकास की दिशाएँ (—अमर्त्य सेन)—राजपाल एंड सन्स, कश्मीरी गेट,
 दिल्ली।
 भारतीय अर्थतन्त्र, इतिहास और संस्कृति (—अमर्त्य सेन)—राजपाल एंड संस,
 कश्मीरी गेट, दिल्ली।
 भारतीय संस्कृति में नारी (—लता सिंहल)—परिमल पब्लिकेशंस, 27/28,
 शक्तिनगर, दिल्ली।
 मनुस्मृति—खेमराज श्रीकृष्णदास (वेंकटेश्वर प्रेस), मुम्बई।
 महाभारत—गीताप्रेस, गोरखपुर।
 मानव मशीन (—आर.एल. बिजलानी, एस.के. मनचन्दा)—नेशनल बुक ट्रस्ट, ए-5,
 ग्रीन पार्क, नई दिल्ली।
 यौन जीवन (—मन्मथनाथ गुप्त)—सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद।
 लिंग भाव का मानव वैज्ञानिक अध्ययन : प्रतिच्छेदी क्षेत्र (—लीला दुबे)—वाणी
 प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली।
 श्रीमद्भागवत-माहात्म्य (पद्मपुराणान्तर्गत)—गीताप्रेस, गोरखपुर।
 स्मृतियों में नारी (—भारती आर्य)—विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, ज्ञानपुर,
 वाराणसी।
 स्वाधीनता संग्राम, हिन्दी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र (—सम्पादक, जगदीश्वर
 चतुर्वेदी, सुधा सिंह)—अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लि.,
 दरियागंज, दिल्ली।
 हिन्दू समाज की व्यवस्था (—पनधारी नाथ एच. प्रभु)—जवाहर पब्लिशर्स एंड
 डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली-16

(ii) पत्र-पत्रिकाएँ

इंडिया टुडे (साप्ताहिक), 18, अप्रैल, 2007; दिल्ली।
 इतिहासबोध (द्वैमासिक), फरवरी-मार्च 2007; इलाहाबाद।
 कादम्बिनी (मासिक), अगस्त, 2006; दिल्ली।

कुरुक्षेत्र (मासिक), मार्च, 2007; दिल्ली।
जनसत्ता (दैनिक), दिल्ली।
दैनिक जागरण (दैनिक) दिल्ली व पटना।
सहारा समय (साप्ताहिक), नोएडा।
हिन्दुस्तान (दैनिक), दिल्ली व पटना।

English

Census of India 2001, Office of Registrar General India, 2A, Mansingh Road, New Delhi.
Human Development Report 2006, United Nations Development Programme, Oxford University Press, Bombay, Calcutta, Madras.
India Spotlight on Population (—Victor Tetrov)—Progressive Publications, Moscow, 1985.
National Family Health Survey—Ist (1992-93), IInd (1998-99) & IIIrd (2005-06); N.F.H.S. International Institute for Population Science, Mumbai.
Maternal and Child Health Care In India, N.S.S Fifty Second Round (July 1995-June 1996), National Sample Survey Organisation, Department of Statistics, Government of India.
Population of India (Mahendra K. Premee)—N.B.T. (India), Delhi.
The State of the World's Children 2005, UNICEF.
World Development Indicators, 2005, World Bank, Washington D.C., U.S.A.

पुस्तक में सन्दर्भित फिल्में

चानी
दमन
दासी (चेन्नई मूवी क्लब)
दीक्षा (1991 ई.)
धूल का फूल (1957 ई.)
नसबन्दी
पहेली
पिंजर (2003 ई.)
फिर मिलेंगे

बालिका-वधू
बैंडिट क्वीन (1994 ई.)
मातृभूमि
रिहाई
लड़की सहायिका की
वाटर (2005 ई.)
वीर-जारा (2004 ई.)
शुभकामना
साजन की सहेली
हरी-भरी (1999 ई.)

**संलग्नक : (ख) नवजागरण व स्त्री-शक्ति की
ये मिसालें (जो पुस्तक में सन्दर्भित हुई हैं)**

बिलकिस खातून :-बिलकिस खातून पश्चिम बंगाल के मुर्शिदाबाद के मुहम्मदपुर गाँव के निवासी नुरुल इस्लाम (बाप) और मयना बीवी (माँ) की बेटी है। पिता लखनऊ में दिहाड़ी मजदूर है। गाँव में थोड़ी-सी जमीन है। गुजारा मुश्किल से होता है। बिलकिस जब 11 वर्ष की थी, उसी समय (14/7/2005) को 25 साल के पड़ोसी तूफान शेख से उसका जबरन निकाह करा दिया गया। लखनऊ में मजदूरी कर रहे शेख ने दो वर्ष बाद बिलकिस को वहीं ले जाने की घोषणा की तो बच्ची का मन बैठ गया। उसने सोचा, अब पढ़ाई छूट जाएगी। अगले दिन जब वह स्कूल गई तो वहीं से पैदल चलकर भगवान गोला थाने पहुँच गई। थानाध्यक्ष देवाशीष सरकार को उसने पूरी घटना बताई तथा इच्छा जाहिर की कि मुझे पढ़ने दिया जाए। अभी मेरी शादी की उम्र ही कहाँ है? उसने भावावेश में कहा कि जो माँ-बाप 18 वर्ष से कम उम्र के बच्चों की शादी कराते हैं, उन्हें फाँसी दे देनी चाहिए।

बिलकिस की करुण याचना सुनकर पुलिस हरकत में आई। उसने बाल विवाह कराने के दोषी मौलवी और उसकी माँ (मयना बीवी) को गिरफ्तार कर लिया। अन्य सात लोगों पर भी केस दायर किया।

जिला प्रशासन ने छात्रावास में रखकर बिलकिस की पढ़ाई का प्रबन्ध कर दिया। उसकी इच्छा थी कि अवांछित-अनमेल पति से तलाक लेकर पूरा ध्यान पढ़ाई पर ही लगाए। प्रशासन इस बारे में कानूनी राय ले रहा था, जब तक यह खबर 19/11/2005 ई. के 'सहारा समय' में छपी थी। आगे क्या हुआ यह तो पता नहीं चल सका, पर इस घटना का इतना सकारात्मक असर अवश्य हुआ कि जिले में अवयस्क कन्याओं का जबरन निकाह करने में अब लोग घबड़ाते हैं तथा उन्हें पढ़ने देते हैं। इस प्रकार

बिलकिस नवजागरण की प्रतीक बन गई—यह समाचार अखबार दे रहा था।

(‘सहारा समय’ 19-11-05 से साभार संकलित)

चनीगल्ला सुशीला : आन्ध्र प्रदेश की बालिका चनीगल्ला सुशीला (अलूर, जिला रंगारेड्डी) 2006 के गणतन्त्र दिवस के अवसर पर राष्ट्रीय वीरता पुरस्कार प्राप्त 17 बच्चों में से एक है। ‘सहारा समय’ (28/1/2006) की खबर के अनुसार वह 7वीं कक्षा में जब पढ़ती थी और उसकी उम्र 12 वर्ष की थी, तभी माँ-बाप ने पड़ोसी गाँव के 10 साल बड़े एक मर्द से उसका ब्याह कर दिया। उसने बहुत विरोध किया, पर उसकी एक न चलने दी गई। ससुराल भेज दी गई। वहाँ घरेलू काम (झाड़ू-पोंछा, खाना बनाना, कपड़े धोना आदि) के साथ उसे खेतों में भी काम करना पड़ता था। शाम को पति शराब पीकर आता और उसे पीटता—दहेज की माँग करता। एक साल सहने के बाद सुशीला माँ-बाप के पास भाग आई। पर, उसे समझा-बुझाकर वहीं भेज दिया गया। कई बार ऐसा ही हुआ। जब धैर्य चुक गया तो सुशीला ने जाने से इनकार कर दिया।

माँ-बाप से सहारा पाकर वह समाज सेवी संस्था ‘एम.वी. फाउंडेशन’ से मिली। उसके माध्यम से सब-इन्सपेक्टर से भी मिली। पर, बात नहीं बनी। उसने ग्राम पंचायत को कहा कि विवाह रद्द कर दे। इसी दौरान वह आठवीं कक्षा में आ गई थी। अन्ततः ससुराल वालों व पति को एक सादे समारोह में बुलाने में कामयाब हुई। वहीं उसने अपने गले से मंगलसूत्र उतारकर इस ‘जबरन विवाह’ का अन्त कर डाला। इस साहसिक कदम के लिए सुशीला को राष्ट्रीय वीरता पुरस्कार (2006) दिया गया, तब वह 14 वर्ष की थी।

(‘सहारा समय’, 28/1/2006 से साभार)

कुमारी मिनाती गंगराल : उड़ीसा के गाँव नुआसाही (बालीपर्वत, क्योँझर) की मिनाती को 2006 ई. का ‘राष्ट्रीय वीरता पुरस्कार’ प्रदान किया गया। उसने भी बाल और अनमेल विवाह के खिलाफ जमकर लोहा लिया जो उस पर 6 मार्च, 2005 को वार्ड मेम्बर 50 वर्षीय सूमा हेंबरम ने थोपा था। तब मिनाती 14 वर्ष की थी। मिनाती के भाई ने उसे धमकाया कि ससुराल जाओ, वरना जान से मार दूँगा। पर, वह नहीं झुकी। वह भाई का घर छोड़कर जंगल में चली गई। तीन दिन तक बिना खाए-पिए वहीं जमी रही। तब, स्थानीय लोगों ने उसकी मदद की और उसने इसकी 13 मार्च, 2005 को पुलिस स्टेशन में रिपोर्ट की। पुलिस ने सूमा और मिनाती के भाई को गिरफ्तार कर लिया। मिनाती को साहस के साथ अपने अधिकारों की रक्षा की लड़ाई लड़ने हेतु उक्त पुरस्कार प्रदान किया गया।

(‘सहारा समय’, 28/1/06 से साभार संकलित)

इज़ाडोरा डंकन : 27 मई, 1878 ई. से 14 सितम्बर, 1927 ई. तक जीवन काल। सेन फ्रांसिस्को (अमेरिका) में जन्म। वे आयरिश मूल के माँ-बाप की सन्तान थीं, जिनके

जन्म के पूर्व ही दोनों में तलाक हो चुका था। इस घटना ने बचपन से ही इज़ाडोरा का ध्यान विवाह की स्त्री-विरोधी संरचना की ओर आकृष्ट किया। फिर, उन्होंने अपने अध्ययन व आसपास के अनुभवों से जान लिया कि विवाह संस्था की नियम-संहिता को निभा पाना किसी भी स्वतन्त्र दिमाग की स्त्री के लिए सम्भव नहीं है। इसलिए उन्होंने सोच लिया कि मैं विवाह की बेवकूफी नहीं करूँगी। उन्होंने न सिर्फ विवाह से इनकार किया, बल्कि बिना ब्याह किए बच्चे पैदा करने के स्त्री के अधिकार का साहस के साथ इस्तेमाल करके भी दिखाया।

इज़ाडोरा अत्यन्त बुद्धिमती, प्रतिभाशाली और साहसी स्त्री थीं, जिन्होंने अपने कैरियर नृत्य में तो बहुतेरे प्रयोग किए ही; जीवन में भी नित नए प्रयोग करती रहीं। वे जीवन का भरपूर आनन्द उठाते हुए, अपनी क्षमताओं और प्रतिभाओं को प्रकाशित करने के लिए बेताब थीं, क्योंकि वे दिल व दिमाग से बड़ी भरी-पूरी विलक्षण स्त्री थीं। उनके प्रयासों ने न सिर्फ उन्हें चोटी की नृत्यांगना बनाया, बल्कि कला व जीवन की गम्भीर दार्शनिक भी। आत्मकथा 'माय लाइफ' के पन्ने इस बात की पुष्ट तस्वीर हैं। युगांक धीरे की टिप्पणी उचित ही है कि "मुझे तो इस या पिछली सदी की या उससे पहले की भी कुछ सदियों की कोई स्त्री नहीं दिखती जिसमें इज़ाडोरा डंकन के समान साहस, सत्यनिष्ठा, दृढ़ता, मानवीयता, कलात्मक, बौद्धिकता और आनन्द-लिप्सा एक साथ दिखाई दे।" वे अपनी देह के प्रति अत्यधिक सचेत थीं, तो आत्मा के प्रति भी। स्थापित मान्यताओं, परम्पराओं तथा शैलियों के प्रति उनका तीव्र विद्रोह भाव न केवल उनके जीवन में दिखता है, बल्कि नृत्यकला में भी दिखलाई पड़ता है। उन्होंने विधिवत् कभी नृत्य-शिक्षा न ली, बल्कि अपने ही अभ्यास से प्रकृति की कोमलता व संगीत को अपने नृत्य में ढाला। उनके नृत्य-सिद्धान्त व परिकल्पनाएँ ही नहीं, बल्कि जीवन के प्रति दृष्टिकोण भी नितान्त मौलिक थे। उन्होंने जीवन में कभी समझौता न किया, पर नृत्य-स्कूल खोलने की उत्कट इच्छा के लिए समझौते करने को तैयार थीं। रूस में ऐसा स्कूल उन्होंने खोला भी था। अपनी नृत्यकला की धूम अमेरिका से रूस तक और पूरे यूरोप में मचा रखने वाली इज़ाडोरा का जीवन कला जगत् ही नहीं, समूचे जगत् (खासकर स्त्री) के लिए एक मिसाल है। उनके जीवन में कई पुरुष प्रेमी आए और सहजीवन में रहे; पर किसी के साथ दीर्घकालीन रिश्ता उनका न चल पाया। कारण था—उन पुरुषों की परम्परागत सोच, अहंभावना और प्रतिभावती असाधारण बुद्धिशीला स्त्री को सह सकने में उनकी असमर्थता। उनमें से कई के साथ तो इज़ाडोरा का रिश्ता केवल इसलिए टूटा, क्योंकि वे चाहते थे कि यह स्त्री परम्परागत ढंग के पत्नीत्व की घरेलू व समर्पित भूमिकाएँ निभाएँ। इन सम्बन्धों की परिणति के रूप में इज़ाडोरा को माँ बनने का अनुभव हुआ। उस अहसास को भी बड़े मौलिक तरह से उन्होंने देखा तथा अपने गर्भ, प्रसव, मातृत्व आदि का दुर्लभ अनुभव 'आत्मकथा' में खूबसूरती से पिरोया है। उसमें स्त्री-जीवन के प्रश्न भी बहुत गहराई से उन्होंने उठाए हैं। कला व जीवन में किए गए अपने एक-एक प्रयोग, कटु-मधु अनुभव को, कला व जीवन के प्रति अपने

चिन्तन को, बिना कुछ छोड़े, बड़ी गहराई में डूबकर, पर तटस्थ लेखक बनकर उन्होंने आत्मकथा में व्यक्त किया है। इस कारण, उनकी यह पुस्तक स्त्री-जीवन का ही दुर्लभ दस्तावेज नहीं बनी है, बल्कि व्यक्ति के जीवन-संघर्ष व सार्थकता की तलाश की रोचक कथा भी बन जाती है।

1913 ई. में बेटी देद्रे व बेटे पेट्रिक की नदी में डूबकर हुई मृत्यु ने उन्हें भीतर तक हिला दिया। फिर, प्रेम व जीवन में भी इसके पहले व पीछे मिले धोखे व सदमे भी कम न रहे। ऊपर से समय-समय पर आर्थिक अभाव ने भी उन्हें पीड़ित किया। फिर भी वे विचलित न हो सकीं। उन्होंने पाश्चात्य नृत्य की शास्त्रीयता को नया रूप व अर्थ दिया। साथ ही, कालजयी आत्मकथा लिखी। उनका जीवन तत्कालीन विश्व (जब नारी-मुक्ति की सुगबुगाहट ही थी) के लिए तो अद्वितीय प्रतिमान था ही; आज भी उनकी तरह कोई स्त्री नहीं दिखती। वे सही अर्थों में नई नारी थीं। परन्तु, उनकी जीवन-शैली के खुलेपन को, पारम्परिक स्त्रीत्व की धारणा से मेल न होने के कारण, पुरुष समीक्षकों द्वारा खूब उछाला गया तथा उन्हें ढेर सारी मात्रा में बदनाम भी किया गया। आज जैसे तसलीमा नसरीन के विचारों का तेज न सह सकने वाले लोग उन्हें 'विवादास्पद लेखिका' का विशेषण देकर वनवास देने को प्रयासरत हैं, वही हाल इज़ाडोरा के आलोचकों का तब से अब तक रहा है। उस शानदार, विलक्षण और गहन कलाकार एवं स्त्री की जिन्दगी का अन्त 14 सितम्बर, 1927 ई. को एक कार दुर्घटना में हो गया। ('इज़ाडोरा की प्रेम कथा', अनुवादक युगांकधीर, में प्रस्तुत तथ्यों के आधार पर लिखित।)

ऐन फ्रैंक : ऐन फ्रैंक दुनिया की गिनी-चुनी बुद्धिमती लड़कियों में से एक हैं, जो बहुत छोटी उम्र में ही अपनी प्रतिभा की चमक दिखलाकर सदा के लिए अस्त हो गईं। अस्त हो गईं नहीं, बल्कि बेहरमी से उन्हें दुनिया से उठा दिया गया। उनका अपराध था तो बस इतना कि वे यहूदी परिवार में पैदा हो गई थीं, जो नस्लवाद के तानाशाह हिटलर को रास नहीं आता था। उसने जिन करोड़ों यहूदियों को यातनागृह में दम घोटकर मार डाला, उनमें से एक ऐन फ्रैंक भी थीं। फ्रैंक का जन्म 12 जून, 1929 ई. को जर्मनी के फ्रैंकफर्ट शहर में और निधन फरवरी या मार्च, 1945 ई. में उसी यातना गृह में हुआ।

फ्रैंक की प्रसिद्धि का मूल आधार उनकी डायरी है, जो केवल 13 साल की उम्र में (12 जून, 1942 ई. को) शुरू कर 15 साल की उम्र (1 अगस्त, 1944 ई.) तक लिखी गई। मूलतः डच भाषा में 1947 ई. में प्रकाशित यह कृति अंगरेजी में 'द डायरी ऑफ ए यंग गर्ल' शीर्षक से 1952 ई. में छपी। तब से इसके सम्पादित, असम्पादित, आलोचनात्मक, विस्तृत, अनूदित—अनेक प्रकार के संस्करण निकलते रहे हैं। दुनिया में सबसे अधिक पढ़ी गई किताबों में से एक है यह डायरी। यह कृति हिन्दी में भी सुलभ हो चुकी है—वाणी प्रकाशन, दिल्ली से 'ऐन फ्रैंक की डायरी' (अनुवादक—सूरज प्रकाश) तथा राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से 'एक किशोरी की डायरी' शीर्षक से।

आतंक व भय के साये में अज्ञातवास की शिकार बनी ऐन फ्रैंक ने इस डायरी में

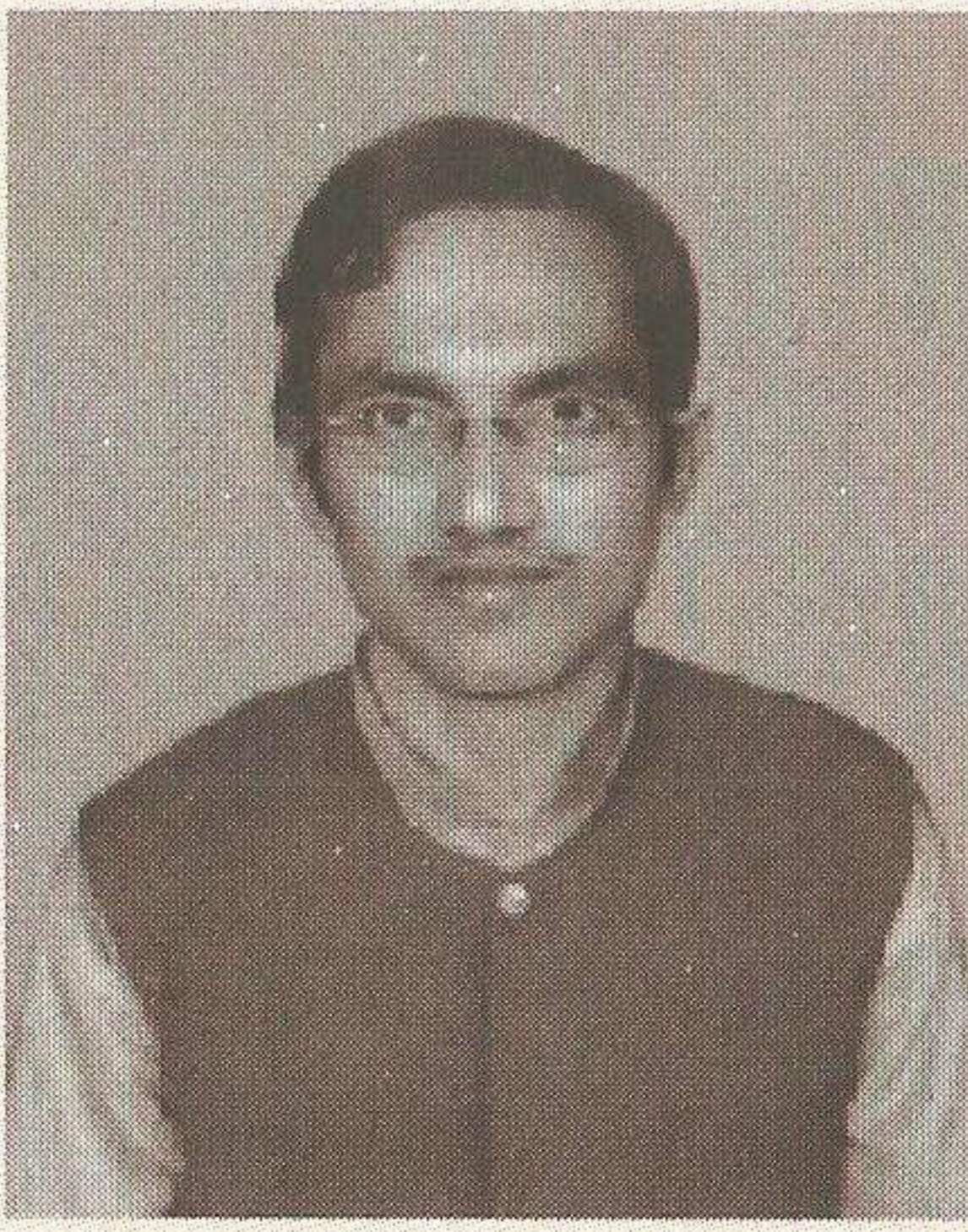
सीधे भोक्ता की निगाह से, इतिहास के बेहद त्रासद अध्याय का साक्षात् अनुभव बयान किया है। गहरी दृष्टि, पर जीवन के छल-छद्मों से रहित किशोरी के दिमाग और दिल से निकला यह बेशकीमती मानवीय दस्तावेज है। इसमें तेरह-चौदह साल की किशोरी के सपने, जीवन व प्रेम के बारे में उसके दृष्टिकोण, स्त्री के मातृत्व की पीड़ा के प्रश्न, बाहरी दुनिया से अलग-थलग पड़ जाने की पीड़ा, भय-आतंक व घृणा का चहुँव्यापी माहौल, पकड़े जाने का डर, अकेलापन आदि इस परिपक्वता से अभिव्यक्त हुए हैं कि हर्ष-चकित कर देते हैं हमें। इतनी छोटी लड़की और इतना प्रखर चिन्तन! काश! उसे जीने दिया जाता। तब वह क्या बनती, दुनिया को क्या देती—इसकी कल्पना ही हमें रोमांचित कर देती है। यह डायरी विश्व-साहित्य का दुर्लभ हीरा है, जिसके बिना कोई भी ग्रन्थालय अधूरा रहेगा।

ऐन फ्रैंक की मेधाविता हमारे मन में केवल प्रेरणा नहीं जगाती, बल्कि यह विडम्बना भी महसूस कराती है कि अपने घर-समाज की इस उम्र की लड़कियों को हमने झाड़ू-पोंछा, रसोई या ब्याह की गुलामी में डालकर क्या बना रखा है? फ्रैंक बनने के उनके जन्मजात अधिकार को किस मूढ़ क्रूरता से हमने कुचल रखा है।—इस पर हमें गम्भीरता से सोचना चाहिए।

(‘ऐन फ्रैंक की डायरी’—अनुवादक, सूरज प्रकाश, वाणी प्रकाशन, दिल्ली में प्रस्तुत तथ्यों के आधार पर लिखित)।

नास्ति पूज्या न निंद्या च
जननीं भूत्वा न सार्थिका
नरवन्नेव प्रजा नारी
अधिकर्मे - त्याग - भोगयोः । — २१७

स्त्री न विशेष पूजा की पात्र, न निंदा की और न वह एकमात्र माँ बनकर ही सार्थक होती है। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि हर कर्म, त्याग और भोग में बिल्कुल पुरुष की तरह ही अधिकारी है स्त्री। वह केवल इंसान है, जैसे कि पुरुष है।



डॉ. रवीन्द्र कुमार पाठक

जन्मतिथि : 16 सितंबर, 1974 । **शिक्षा :** एम.ए., पी-एच.डी. (हिन्दी), काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से ।

शोध-विषय : 'हिन्दी के प्रमुख व्याकरणों का समीक्षात्मक अनुशीलन' ।

शैक्षिक उपलब्धियाँ : एम.ए. परीक्षा में स्वर्ण पदक प्राप्त । 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' की शोधवृत्ति (जे.आर.एफ. एवं एस.आर.एफ.) प्राप्त ।

अन्य उपलब्धियाँ : (1) आकाशवाणी से कई बार कविता पाठ । (2) पुरस्कार प्राप्ति—(i) 'भारतगान' कविता के लिए 'राजभाषा विभाग' (बिहार सरकार) से पुरस्कृत, (ii) 'तांडव' कविता के लिए 'अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य संस्कृति विकास संस्थान', जबलपुर से पुरस्कृत, (iii) 'कादम्बिनी' की समस्या-पूर्तियों, पाठक-मंचों तथा 'मतान्तर' स्तम्भ के अन्तर्गत कई बार पुरस्कृत, (iv) 'कादम्बिनी' युवा-व्यंग्य-प्रतियोगिता में पुरस्कृत । (3) पाठ्य-पुस्तक-निर्माण (कक्षा-XII) हिन्दी, एन.सी.ई.आर.टी. (दिल्ली) के लिए सहयोग दिया ।

वर्तमान सेवा : व्याख्याता, हिन्दी-विभाग, गणेश लाल अग्रवाल कॉलेज, मेदिनीनगर (डाल्टनगंज), पलामू, झारखंड (राँची विश्वविद्यालय के अन्तर्गत) ।

स्थायी सम्पर्क सूत्र : ग्राम-पाठक विगहा, पत्रालय-पड़रावाँ (जम्होर), जिला-औरंगाबाद, (बिहार), पिन-824121,

मोबाइल नम्बर : 09801091682

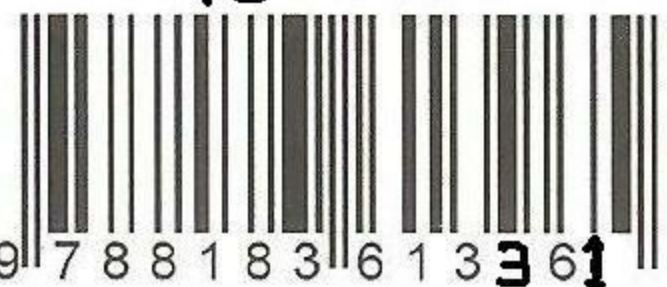
हमारा समाज स्त्री-निरपेक्ष ही नहीं, बल्कि स्त्री-विरोधी है। वह उसकी बीमारी (खासकर यौन-रोग) या उत्सर्जन की जरूरत को भी दबाकर रखता है। मरने के करीब पहुँच जाती है, तब जाकर इक्का-दुक्का स्त्री अस्पताल पहुँचाई जाती है। इसका पता चलता है अस्पताल का रजिस्टर व बेड देखकर। एक तो स्त्रियाँ पुरुषों की तुलना में वहाँ बहुत कम दर्ज होती हैं और उनमें भी प्रायः वे गम्भीर रूप से रुग्ण होती हैं, जबकि पुरुष सामान्य अस्वास्थ्य की दशा में भी अस्पताल जा पहुँचता है। कारण, वही पुराना है। स्त्री के रोग को उसकी स्वाभाविक स्थिति मान लिया जाता है, जबकि वह दिन भर कुपोषण, यौन शोषण आदि अत्यन्त विषम परिस्थितियों में बैल जैसी उसकी खटाई एवं गन्ने जैसी पेराई के कारण उसमें घर कर लेता है। फिर ब्याहता स्त्री के इलाज कराने या न कराने को या किस तरह का इलाज कराएँ इसे पति या सास तय करती है। सामाजिकीकरण ऐसा होता है कि स्त्री खुद अपनी बीमारी को छिपाती है या मर्द डॉक्टर से इलाज कराने को तैयार नहीं होती। स्त्री की बीमारी पर चर्चा करते एक परिवार की लड़की याद आ रही है, जो कभी-कभी असह्य सिरदर्द से चीख उठती थी। लड़की की दैनिक स्थिति बैल व गन्ने जैसी ही थी, पर उससे भी उसके सिरदर्द का कोई रिश्ता हो सकता है—यह सोचने की फुरसत उस परिवार के पुरुषों को कहाँ थी? उल्टे वे उस पर बरस पड़ते कि तुम देर रात तक टी.वी. देखती हो उसी का नतीजा है यह दर्द। वाह रे! एक तो कामों के (वह भी नाज-नखरों व डॉट-फटकारों के साथ) बोझ डाले रखकर उस बेचारी को सिरदर्द का तोहफा दे दिया, उस पर थोड़ा मन बहलाने का साधन टी.वी. भी उससे छीन लेना चाहते थे। वे यह भी सोचने में असमर्थ थे कि टी.वी. के रास्ते शायद दर्द कुछ रिसकर निकल सकता है। यह है मूढ़ क्रूरता की स्थिति, घर-घर का सच है यह। दैहिक संत्रास और हर प्रकार की विरोधी परिस्थितियों में घुटती स्त्री मानसिक विक्षिप्तता की भी शिकार हो जाती है। पर, वहाँ भी इस दुखस्था को 'भूत-प्रेत', 'देवी आ गई' जैसे पारलौकिक रंगों में रँगकर देखा जाता है।

—इसी पुस्तक से



ISBN : 978-81-8361-336-1

250 रुपये



9 788183 613361

साधुकृष्ण

नयी दिल्ली पटना इलाहाबाद

